प्रकाशकः—
आचार्य शुक्ल साधना सदन
पटकापुर, कानपुर

मुद्रकः—
साधना प्रेस
बगिया मनीराम, कानपुर

जिसने स्तन्यपान के साथ ब्रजभाषा सरस्वती का भी
पयपान कराया, जो. ममत्व की मूर्ति और पवित्रता
की प्रतिमा थी, जो इस जीव का विद्यामन्दिर
में प्रवेश-संस्कार करा के स्वयं
स्वर्लोक प्रयाण कर गई, उस
दिवङ्गता, स्नेह-मयी जननी
की पवित्र-स्मृति को

'सूर-सौरभ'

सादर समर्पित

मेरे सूर !

सूर बने कैसे ? तुम में तो,
था प्रकाश भरपूर ।
ब्रज की पावन रज मल तन में,
ब्रजपति को रख निर्मल मन में ।
रम ब्रज के करील-कानन में,
रहे दुरित से दूर ।
श्याम तुम्हारा, तुम थे श्यामल,
श्यामलता में आत्मा उज्ज्वल ।
श्याम सुधा पीकर तुम अविचल,
रहे नशे में चूर ।
तेरा 'सागर', तेरी 'लहरी',
कितनी विस्तृत, कितनी गहरी !
डूब-डूब कर जिसमें उतरी,
'दृष्टकूट' की सूर ।
वह पीताम्बर, वह यमुना-तट,
वह मुरली-ध्वनि, रास-रसिक नट !
राधा का आराध्य प्रेम-घट,
तेरे दृग का नूर ।

—'सोम'

निवेदन

अक्टूबर सन् '४० में आचार्य पण्डित रामचन्द्र जी शुक्ल को एक विशेष कार्य-वश कानपुर आना पड़ा। वे यहाँ लगभग १५-२० दिन तक अपने ज्येष्ठ पुत्र श्री केशवचन्द्र जी शुक्ल (पी० सी० यस०) के साथ रहे। इसी समय मुझे और मेरे अग्रज पण्डित श्रीनारायण जी अग्निहोत्री एम० ए० को आचार्य शुक्ल जी के निकट सम्पर्क में आने का विशेष सुयोग प्राप्त हुआ। पर अभाग्यवश हमारा यह प्रथम सम्पर्क ही अन्तिम सम्पर्क बना। शुक्ल जी के कानपुर से वापस जाने के कुछ ही दिन बाद एक दिन अचानक सुना—हमारा साहित्य-देवता स्वर्लोक को प्रयाण कर गया है! विवशता के पाश में जकड़े हुए हम मर्त्यलोक के प्राणी कर ही क्या सकते थे।

हम लोग व्यक्तिगत रूप में भी आचार्य शुक्ल जी के प्रति एक प्रकार का अपनपत्व अनुभव करने लगे थे। उनसे हमें साहित्यिक प्रेरणा प्राप्त होती थी। अतः अग्निहोत्री जी के निर्देश से स्व० आचार्य की पुण्य स्मृति में हमलोगों ने 'साधना-सदन' की स्थापना की। इस संस्था के द्वारा उच्चकोटि के लेखकों की सम्पूर्ण कृतियों तथा उन पर आलोचनात्मक ग्रन्थों के संग्रह, विशुद्ध साहित्यिक गोष्ठी तथा अनुसन्धान-कार्यादि के द्वारा हिन्दी-साहित्य की मौलिक एवं ठोस सेवा करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

प्रस्तुत सूर-सौरभ हमारी साहित्यिक साधना का प्रथम प्रयास है। इस पुस्तक के द्वारा पूज्य गुरुवर पण्डित मुन्शीराम शर्मा ने सूर पर आलोचनात्मक सामग्री के अभाव को पूर्ण करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है।

प्रकाशन-कार्य में हमारे जिस सुहृदवर्ग ने योगदान दिया है, उसके प्रति कृतज्ञता-प्रकाश कर हम उसके अमूल्य परिश्रम तथा सहृदयता का मूल्य कम नहीं करना चाहते।

अन्त में हम स्वर्गीय आचार्य शुक्ल जी की तपःपूत दिवंगता आत्मा तथा मंगलमय प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हमारा यह साहित्यिक अनुष्ठान पूर्ण हो।

साधना-सदन
पटकापुर, कानपुर

—प्रेमनारायण शुक्ल

द्वितीय संस्करण के दो शब्द

संवत् १९९५ की चैत्र शुक्ल अष्टमी को कानपुर में सूर-जयन्ती मनाई गई थी। इस अवसर पर जो कवितायें और निबन्ध पढ़े गये, उन सब का संकलन "सूर-सौरभ" नाम से मैंने आज से पाँच वर्ष पूर्व प्रकाशित किया था। तबसे लेकर अब तक रह-रह कर हृदय में हिलोर उठती रही कि सूर पर कुछ लिखूँ। "मेरे सूर" नाम की रचना उन्हीं दिनों की है। दो तीन लेख तैयार भी हो गये, पर 'गृह कारज नाना जंजाला', कार्य की पूर्ति में बाधक बनता रहा। इधर मेरे एम० ए० के विद्यार्थियों ने विशेष कवि के अध्ययन के लिये 'सूर' को चुना और मुझे भी उन्हें सामग्री देने के लिये कार्य में जुटना पड़ा। प्रस्तुत पुस्तक इसी संचित सामग्री का परिणाम है।

पण्डित-प्रवर श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य श्यामसुन्दरदास, स्वर्गीय पण्डित रामचन्द्र शुक्ल, प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता स्वर्गीय श्री भण्डारकर आदि विद्वानों के लिखे हुए ग्रन्थों से इस पुस्तक के लिखने में मैंने अधिक सहायता ली है, फिर भी कुछ बातें ऐसी हैं जिन्हें मैं दूसरों की नहीं कह सकता। इधर सूर के पार्थिव एवं मानसिक तत्वों के सम्बन्ध में जो खोज हुई है, उसका भी मैंने इस पुस्तक में समावेश कर दिया है। कतिपय स्थलों पर सूर के सम्बन्ध में जो भ्रमात्मक विचार इधर-उधर बिखरे पड़े थे, उनका भी निराकरण करने का प्रयत्न किया गया है।

भगवत्कृपा से सूर-सौरभ लिखने के बहाने जहाँ सूर के ग्रन्थों का स्वाध्याय करने का अवसर प्राप्त हुआ, वहाँ सौभाग्य से श्रीमद्भागवत और महाभारत का भी पारायण हो गया। जिन पुराणों के प्रति, आर्य सामाजिक वातावरण में पालित-पोषित होने के कारण, उपेक्षामयी दृष्टि रहती थी, वह उनके अध्ययन से, अपेक्षामयी बन गयी। सूर का सौरभ वैसे ही चतुर्दिक विकीर्ण हो रहा है। उसका जितना अंश मुझे सुलभ हो सका है, उसे अपने ही तक सीमित न रख कर रसास्वादक, सूर-सौरभ के स्नेही भ्रमरों को दे रहा हूँ। वे इसी दृष्टि से इसे अपना

समझकर अपनावें। सूर-सागर को पढ़ते हुए अनेक बातें सूझी थीं। उन्हें नोट भी कर लिया था। परन्तु खेद है, उनमें से कई बातों का समावेश मैं ग्रन्थ के इस संस्करण में नहीं कर सका। अवसर मिला, तो आगामी संस्करण मे उन्हें सम्मिलित करने का प्रयत्न करूँगा।

इस ग्रन्थ में जो पद उद्धृत किये गये है उनकी संख्या और पृष्ठ चैत्र संवत् १९८० शके १८४५ में श्री वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई में मुद्रित श्री सूरसागर के अनुसार हैं।

सूर की जीवन-घटनाओं के निर्णय करने मे पण्डित रामदुलारे जी अवस्थी शास्त्री ने जो सहायता की है, वह धन्यवाद प्रदान से ऊपर की वस्तु है। बंधुवर डा० धीरेन्द्र जी वर्मा एम० ए० डी० लिट्० अध्यक्ष हिन्दी-विभाग प्रयाग विश्वविद्यालय तथा पं० अयोध्यानाथ शर्मा एम० ए० के परामर्शों से भी मैंने लाभ उठाया है। इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

सूर-सागर वास्तव में अथाह भाव-सागर है—उसका कोई सम्पूर्ण मन्थन कर भी सकेगा, इसमें सन्देह है। न्यूटन की उक्ति के आधार पर मैं यही कह सकता हूँ कि इस सागर के तटवर्ती कुछ प्रस्तरखण्ड ही मुझे सुलभ हो सके हैं। रत्नाकर के रत्नों को गहरी डुबकी मारकर निकालने का काम अभी किसी मरजीवा के लिये शेष पड़ा है।

आर्यनगर, कानपुर
पौष शुक्ल पंचमी, २००० विक्रमी

—मुन्शीराम शर्मा

तृतीय संस्करण

परम प्रभु का अपार अनुग्रह! जिसने मुझ जैसे दुर्बल व्यक्ति को आश्वासन एवं साहस देकर उस अमर महाकवि, सन्त श्रेष्ठ सूरदास के हृदय में प्रविष्ट होने का अवसर दिया। इस हृदय की अनुभूति ने मुझे गद्गद् कर दिया। जिस दिन मेरे मानसपट पर सूर का हरिलीला-दर्शन अङ्कित हुआ, उसी दिन से मेरे सूर-अध्ययन के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन हो गया। सूर की भाव-विभोरता एकदम नवीन, अध्यात्मरूप में मेरे सम्मुख आ उपस्थित हुई।

लिखने को तो सूर-सौरभ लिख गया, पर अब अनुभव करता हूँ कि उस महाशक्ति की कुछ ऐसी ही प्रेरणा थी; क्योंकि सूर-सौरभ का लेखन-कार्य जैसे ही समाप्त हुआ, चिरंजीवी प्रेमनारायण शुक्ल, एम० ए० साहित्यरत्न उसे छपाने को उद्यत हो गये। उनकी श्रद्धा, कार्यतत्परता, साधन जुटाने की क्षमता

और परिश्रमशीलता के साथ उनकी विद्वत्ता एवं लेखन-पटुता मेरे लिये गौरव की वस्तु है।

पण्डित प्रेमनारायण जी शुक्ल को साथी-सहयोगी भी अपने मन के अनुकूल मिल गये। यह उन्हीं के अनवरत परिश्रम का परिणाम है कि 'सूर-सौरभ' सूर के प्रेमी पाठकों के समक्ष उपस्थित हो सका। उस पर आई हुई विद्वानों की शुभ सम्मतियाँ उसी संकेतकार के चरणों में समर्पित करता हूं। व्रजसाहित्य मंडल मथुरा ने सम्वत् २००५ में व्रजभाषा साहित्य की सर्वश्रेष्ठ आलोचनात्मक कृति के रूप में इसे पुरस्कृत किया। इसके मूल में मुझे तो महाकवि सूर के एक पद की यही टेक कार्य करती प्रतीत होती है :—

"अपने को को न आदर देइ।"

यह तृतीय संस्करण प्रेमी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। इसके कलेवर में इधर-उधर यत्किञ्चित परिवर्तन किया गया है और अन्त में दो परिशिष्ट और जोड़ दिये गये हैं। आशा है सूर के श्रद्धालु अध्येता इनसे लाभान्वित होंगे।

व्यास पूर्णिमा
संवत् २००६ }

—मुन्शीराम शर्मा

चतुर्थ संस्करण

प्रस्तुत संस्करण पूर्व प्रकाशित संस्करणों का संशोधित रूप है। उसके जीवनी भाग में नवीन खोजों के आधार पर नवीन सामग्री का संयोजन किया गया है। पुष्टिमार्ग पर भी एक नवीन अध्याय जोड़ने की आवश्यकता इसलिये अनुभव हुई कि विगत संस्करणों का 'सूर के सिद्धान्त' शीर्षक अध्याय पर्याप्त रूप से सम्वर्धित होकर 'भारतीय साधना और सूर साहित्य' का अंग बन चुका था। अलंकार और नायिका-भेद वाला अध्याय भी विद्यार्थियों की आवश्यकता को अनुभव करके नवीन रूप से लिखा गया है। रस के प्रकरण में वात्सल्य रस का सांगोपांग निरूपण सर्व प्रथम इसी ग्रन्थ में हो रहा है। अन्तिम अध्याय, जिसमें सूर-काव्य की आध्यात्मिक अभिव्यञ्जना पर प्रकाश डाला गया है, उस सामग्री का परिणाम है, जो अध्यापन काल में बहुत दिनों से मस्तिष्क में संचित होती रही थी। परिशिष्टों में से प्रथम तीन परिशिष्ट ही आवश्यक समझकर रखे गये हैं। पदों की संख्या नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित सूरसागर के अनुसार भी कर दी गई है। आशा है, प्रस्तुत संस्करण विद्यार्थियों के लिये उपादेय सिद्ध होगा।

आश्विन पूर्णिमा, २०१३ वि० }

—मुन्शीराम शर्मा

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ संख्या



सूर-सौरभ



जीवन के दो अंश

विश्व सत् और असत् दो तत्वों के मिश्रण का नाम है। विश्व का सत् अंश उसे स्थिर और अविनश्वर बनाता है तथा असत् अंश अस्थिर और विनश्वर। एक चेतन है, दूसरा जड़; एक में मानसिक पक्ष है, दूसरे में पार्थिव। कतिपय दार्शनिक पार्थिव पक्ष को मानसिक पक्ष का ही रूपान्तर मानते हैं। इनके मत में आन्तरिक विचारधारा, भावना तथा संस्कार बाह्य चेष्टाओं और शारीरिक विकास में प्रकट हुआ करते हैं। दूसरे दार्शनिक ठीक इसके विपरीत कहते हैं। इनके मत में मानसिक क्रियायें बाह्य शारीरिक चेष्टाओं की परिणाम हैं। कुछ हो, इतना तो निश्चित है कि विश्व का एक अंश—मानव—इन दोनों तत्वों से मिल कर बना है। जो उपादान विश्वब्रह्माण्ड के मूल में हैं, वही इस पिंड में भी काम कर रहे हैं। 'यत्पिण्डेतत्ब्रह्माण्डे' वाली ऋषियों की उक्ति का यही अर्थ है।

(भारतीय ऋषियों के चिन्तन का केन्द्र प्रायः विश्व का सत् अर्थात् चेतन अंश रहा है। असत् अंश की उन्होंने उपेक्षा ही की है। उनकी दृष्टि में मल-मूत्र मात्र, अस्थिचर्मावयवविशिष्ट शरीर का कोई महत्व नहीं है—यह तो साधन है। साध्य वस्तु इससे भिन्न है।) उपनिषदों में इस साध्य वस्तु को आत्मतत्व कहा है और उच्चस्वर से घोषित किया है—"आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यः निदिध्यासितव्यः", "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति"—अर्थात् मनुष्यो, क्या शरीर के पीछे पड़े हो? अरे आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय है। उसी का विचार करो। उसी के हित से अन्य वस्तुयें प्रिय लगती हैं।

भारतीय ऋषि परमार्थ-प्रिय थे। प्रत्यक्ष से नहीं, वे परोक्ष से प्रेम करते थे। परोक्ष सिद्ध हो गया तो प्रत्यक्ष अपने आप बन जायगा। उनका सिद्धान्त कुछ ऐसा ही था। पर इतिहास ने उनके विपरीत दृश्य दिखलाया। प्रत्यक्ष की अवहेलना करने से न हम इधर के रहे, न उधर के। शरीर ही स्वस्थ नहीं, तो मन क्या स्वस्थ होगा—इस तथ्य का पता प्राणों को रोग-ग्रसित होने पर लगता है। वास्तव में न प्रत्यक्ष ही अवहेलनीय है और न परोक्ष। 'यतोऽभ्युदय निःश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः'—कणाद ऋषि के इन शब्दों में दोनों का सुन्दर सामञ्जस्य ही सफलता की सीढ़ी है।

मानव का प्रत्यक्ष अथवा बाह्य अंश अधिकतर माता-पिता के रज-वीर्य से सम्बन्ध रखता है। उसका कुछ अंश बाह्य परिस्थितियों के उपादानों से भी निर्मित होता है, परन्तु मनुष्य के मानसिक अंश के निर्माण में अप्रत्यक्ष रूप से न जाने कितने मानवों का हाथ है। हमारा मानसिक वायुमण्डल न जाने कितने ऋषियों, मुनियों और कवियों की विचार-तरंगों से ओतप्रोत है। हमको उस समय अनुभव नहीं होता, पर अदृश्य रूप से गांधी, तिलक, दयानन्द, तुलसी, सूर, कालिदास आदि अनेक महापुरुष हमें प्रभावित करते हुए, हमारे साथ चल रहे हैं। एक जर्मन के मानसिक निर्माण में जैसे काण्ट का अकाट्य प्रभाव है, उसी प्रकार हमारे निर्माण में सूर और तुलसी का अनिवार्य प्रभाव है। पर, इनका निर्माण भी तो कतिपय विशेष उपादानों से ही हुआ था। आइये, देखें, जिसका सौरभ आज दिग्दिगन्त में प्रसृत होकर लोक-लोक मानस को मुग्ध कर रहा है, जिसका यश आज चार शताब्दियाँ व्यतीत हो जाने पर भी चारों ओर विश्रुत हो रहा है, जो सन्तों का प्रिय, भक्तों का भक्ति-भाजन और कवियों का कण्ठहार बना हुआ है, उस कविकुल-चूड़ामणि महाकवि सूरदास के जीवन के पार्थिव एवं मानसिक अंशों के निर्माण में किन-किन उपादानों ने भाग लिया है।

सूर-जीवन का पार्थिव अंश

किसी कवि का जीवन-वृत्त जानने के लिए दो साधन हैं:—(१) अन्तःसाक्ष्य अर्थात् कवि ने अपनी रचनाओं में अपने सम्बन्ध में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में जो कुछ कहा है, (२) बाह्य साक्ष्य अर्थात् कवि के समसामयिक तथा परवर्ती विद्वानों ने उसके सम्बन्ध में जो कुछ कहा है। इन दोनों साधनों में अन्तःसाक्ष्य का अधिक मूल्य है। बाह्य साक्ष्य में समसामयिक विद्वानों का कथन परवर्ती विद्वानों के कथन से अधिक प्रामाणिक है।

अन्तः साक्षियाँ

सूर-सारावली—

अन्तः साक्षियों मे सूर सारावली का एक पद, साहित्य-लहरी के दो पद तथा सूरसागर के कई पद सूर के जीवन-वृत्त पर प्रकाश डालने वाले हैं। इन पदों से सूर के जीवन के सम्बन्ध मे अनेक बातें ज्ञात हो जाती हैं। सूर-सारावली की नीचे लिखी पंक्तियों पर विचार कीजियेः—

गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन।
शिव विधान तप कर्‌यौ बहुत दिन तऊ पार नहि लीन॥* १००२॥

इन पंक्तियों में से पहिली पंक्ति को लेकर प्रायः सभी आधुनिक विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि सूर-सारावली बनाने के समय सूरदास की आयु ६७ वर्ष की थी। परन्तु सूरसारावली में आये हुये इस स्थल के प्रसंग और यहाँ इन दोनों पंक्तियों को साथ मिला कर पढ़ने से यह भाव नहीं निकलता। पद की ऊपर उद्धृत द्वितीय पंक्ति मे सूर लिखते है कि मै शैव सम्प्रदाय के विधानों के अनुसार बहुत दिन तक तप करता रहा, फिर भी पार न पा सका, प्रभु के दर्शन न कर सका। इस पंक्ति से प्रतीत होता है कि महाप्रभु वल्लभाचार्य के दर्शनों से पूर्व अपने जीवन के प्रारंभिक भाग में सूरदास शिव की पूजा करते थे। प्रथम पंक्ति का अर्थ इस प्रकार हैः—गुरु की कृपा से ६७† वर्ष की प्रवीण

---

* इसी से मिलती-जुलती भावना सारावली की निम्नांकित पंक्तियों में भी पाई जाती हैः—

कर्म योग पुनि ज्ञान उपासन सबही भ्रम भरमायौ।
श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायौ लीला भेद बतायौ॥ ११०२

सूर कहते हैंः—भगवत्प्राप्ति के लिये मै कर्मकाण्ड, योग मार्ग, ज्ञान तथा उपासना मार्ग सब मे चक्कर काटता फिरा, पर शान्ति प्राप्त नही हुई। सबने मुझे भ्रम मे ही डाला। आचार्य वल्लभ जैसे गुरु की कृपा से ही मैं हरिलीला के रहस्य तथा तत्व अर्थात् अन्तिम सत्य को समझ सका।

† ६७ शब्द के दो अर्थ और हो सकते हैंः– (१) ६७ संवत् तथा (२) ६७ वर्ष से दर्शन हो रहे है। हमें सूरसागर के विनय-सम्बन्धी पदों मे ऐसे कई पद प्राप्त हुए हैं, जिनमे सूर ने अपनी दीर्घ आयु तक की व्याकुलता का वर्णन किया है। अतः हमने ऊपर लिखा हुआ अर्थ ही समीचीन समझा है। श्रीनाथ मन्दिर की स्थापना १५७६ संवत् मे हुई। इसके पश्चात् आचार्यवल्लभ सूर से मिले। अतः ६७ संवत् का मानना अशुद्ध है। ६७ वर्ष से दर्शन हो रहे है, यह अर्थ भी अनुपयुक्त है, क्योंकि इससे सूर का मृत्युकाल गोस्वामी विट्ठलनाथ की निधन-तिथि के बाद जा पड़ता है।

(परिपक्व) आयु में यह दर्शन हो रहा है। "यह दर्शन" का अर्थ यहाँ हरि-लीला का दर्शन है। "युगल मूर्ति" के दर्शन पाकर सूर कृतार्थ हो गये।*

यदि पद की दोनों पंक्तियों का भाव मिला दिया जाय, तो स्पष्ट रूप से यह ध्वनि निकलती है कि सूर शैव विधानों के अनुकूल तप करते हुये अनेक वर्ष व्यतीत कर चुके थे, फिर भी उन्हें पूर्ण तृप्ति नहीं हुई थी। महाप्रभु वल्लभाचार्य से भेंट करने के समय सूरदास जी अवश्य ही अधिक आयु के थे, क्योंकि उन्हीं के सम-सामयिक विद्वान गोस्वामी गोकुलनाथ जी ने चौरासी वैष्णवों की वार्ता† में उन्हें स्वामी शब्द से याद किना है और लिखा है कि उनके साथ कई सेवक अर्थात् शिष्य रहते थे। यही नहीं, सूरदास के उच्चकोटि के अनुभवी सन्त होने की ख्याति ही महाप्रभु वल्लभाचार्य को अडैल से सूर के निवास-स्थान गोपाचल (गौघाट) तक खींच लाई। वल्लभ को एक ऐसे अनुभवी साथी की आवश्यकता भी थी। सूर में उनको ऐसा साथी उपलब्ध हो गया। सूरदास के साथ जो शिष्य रहते थे वे अवश्य ही २५–३० वर्ष या इससे अधिक आयु के होंगे, अतः उस समय सूर ६७ वर्ष के हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसके पूर्व वे शिव के उपासक रह चुके थे-इस बात का समर्थन, जैसा हम आगे चलकर लिखेंगे, सूर सागर के कई पदों से होता है।

महाप्रभु के दर्शन के उपरान्त सूर को जो सिद्धि उपलब्ध हुई, जो दर्शन हुआ, वह भगवान की शाश्वत रासलीला का ही दर्शन था। सूर सारावली के ऊपर उद्धृत छन्द, संख्या १००२ के पूर्व तथा आगे के छन्द, संख्या १००३, १००४, १००५ और १००६ में अपने इस दर्शन का, युगल मूर्ति की इस 'रास-लीला का, सूर ने बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन किया है। सूर-सारावली के ये छन्द नीचे लिखे जाते हैं:—

सहस रूप बहुरूप रूप पुनि एक रूप पुनि दोय।
कुमुद कली विकसित अम्बुज मिलि मधुकर भागी सोय ॥१०००॥
नलिन पराग मेघ माधुरि सों मुकुलित अम्ब कदम्ब।
मुनि मन मधुप सदा रस लोभित सेवत अज शिव अम्ब ॥१००१॥

---

* वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित वैष्णव-धर्म में हरिलीला के दर्शन करना, उसमें भाग लेना ही सब कुछ समझा जाता है, यहाँ तक कि सायुज्य मुक्ति भी इसके आगे तुच्छ मानी जाती है।

† कतिपय विद्वानों का मत है कि यह वार्ता गोकुलनाथ जी के किसी शिष्य की लिखी हुई है।

सुखपर्यंक अंक ध्रुव देखियत कुसुम कन्द द्रुम छाये ।
मधुर मल्लिका कुसुमित कुन्जन दम्पति लगत सुहाये ॥१००३॥
गोवर्धन गिरिरत्न सिंहासन दम्पति रस सुख खान ।
निविड़ कुञ्ज जहँ कोउ न आवत रस विलसत सुखमान॥१००४॥
निशा भोर कबहूँ नहि जानत प्रेम मत्त अनुराग ।
ललितादिक सींचत सुख नैनन जुर सहचरि बड़ भाग ॥१००५॥
यह निकुञ्ज को वर्णन करि-करि रहे वेद पचिहार ।
नेति-नेति कर कहेउ सहस बिधि तऊ न पायो पार ॥१००६॥

युगल मूर्ति की रासलीला का यह दर्शन सूर को गुरुवर श्री वल्लभाचार्य के प्रसाद से प्राप्त हुआ था । इसके पश्चात् छन्द संख्या १००७ मे सूर ने भगवान द्वारा दिये गये वरदान का उल्लेख किया है जो इस ग्रन्थ मे उद्धृत साहित्य-लहरी के सूर-वंश-परिचायक पद में वर्णित कूप-पतन और वरदान वाली घटना का समर्थन करता है ।

भगवद्-लीला के इस दर्शनरूप सिद्धि-प्राप्ति का वर्णन चौरासी वैष्णवों की वार्ता के अनुसार इस प्रकार है—सूरदास स्नान करके महाप्रभु के पास पहुँचे । महाप्रभु ने उन्हें नाम सुनाया, समर्पण करवाया और फिर दशमस्कन्ध की निजकृत अनुक्रमणिका कही । इसके उपरान्त आचार्य जी ने सूरदास को पुरुषोत्तम सहस्रनाम भी सुनाया* इससे सूर के सब दोष दूर हो गये और उन्हें नवधाभक्ति सिद्ध हुई । तब सूर ने भगवान की लीला का वर्णन किया । अनुक्रमणिका और पुरुषोत्तम सहस्रनाम से भगवान की सम्पूर्ण लीला स्फुरित हुई । भागवत के दशमस्कन्ध की सुबोधिनी के मङ्गलाचरण के आधार पर सूर ने "चकई री चलि चरण सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग—" इस टेक से प्रारम्भ होने वाला सरस रहस्यात्मक पद गाया, जो वास्तव में सूर को प्राप्त हुई सिद्धि की उच्च भूमिका को सूचित करता है । ६७ वर्ष की आयु में भगवान की लीला के दर्शन करना सन्तों के लिये विस्मयावह नहीं है । सूर का संयत हृदय और मन, बुद्धि एवं आत्मा पहले से ही किसी वस्तु के ग्रहण की पूरी तैयारी किये बैठे थे—भूमि तैयार थी, केवल बीज पड़ने की देर थी । यह बीज सूर को वल्लभ के अध्यात्मशक्ति-गर्भित उपदेशों में सुलभ हो गया । सूरसागर की प्रौढ़ रचना भी उसके प्रौढ़ आयु में लिखे जाने का समर्थन करती

* (पुरुषोत्तम सहस्रनाम भागवत का सार समुच्चय कहा जाता है । इसकी रचना साम्प्रदायिक विद्वानों के मतानुसार सं० १५८० के लगभग हुई । इस आधार पर सूर की हरिलीला दर्शनरूपी सिद्धि इस संवत् के पश्चात् ही मानी जायगी ।)

है। तुलसी ने रामचरितमानस ७७ वर्ष की आयु में लिखा था। सूर ने अपना सागर ६७ वें वर्ष से प्रारम्भ किया।

सारावली की हरिदर्शन सम्बन्धी पंक्तियाँ भी इसी समय लिखी गईं। बाद में जब सारावली होली के बृहत् गान के रूप में लिखी गई होगी तब उसमें ये पंक्तियाँ भी सम्मिलित कर दी गई होंगी। सूर के सभी ग्रंथों का संकलन बाद में हुआ है। सारावली के इस स्थल के पूर्वापर सम्बन्ध को मिलाने से भी यही मालूम पड़ता है।

साहित्य-लहरी

अन्तः साक्षियों में साहित्य-लहरी के दो पद अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। एक पद साहित्य-लहरी के निर्माण-समय पर निश्चित रूप से प्रकाश डालता है; और दूसरा पद सूर के वंश तथा उनके जीवन से संबद्ध अनेक बातों को प्रकट करता है। प्रथम पद इस प्रकार है:—

मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरीनन्द को लिखि, सुबल संवत पेख॥
नन्द-नन्दन मास, छै ते हीन तृतिया बार।
नन्द-नन्दन जनम ते है बान सुख आगार॥
तृतीय ऋक्ष, सुकर्म जोग विचारि सूर नवीन।
नन्द-नन्दन-दास-हित साहित्यलहरी कीन॥

(सा० लहरी, पद १०६)

सूरदास इस पद से साहित्यलहरी का निर्माण काल बता रहे हैं। नीचे की पंक्ति से यह भी प्रकट हो रहा है कि साहित्य-लहरी भगवान कृष्ण के भक्तों के लिए लिखी गई है। संभव है, नन्ददास से भी इसका कुछ सम्बन्ध हो। सांप्रदायिक विद्वानों के मतानुसार नंददास के लिये ही सूर ने इसका निर्माण किया था। नंददास सूर के समकालीन और अष्टछाप के अन्तर्गत थे। साहित्य-लहरी कब लिखी गई, इस बात का उल्लेख ऊपर के पद की पंक्तियों में इस प्रकार है—मुनि = ७, रसन अर्थात् रसना = १, या कार्यों की दृष्टि से = २, रस = ६, दसन गौरीनन्द = १. 'अङ्कानां वामतो गतिः' के अनुसार उलट कर पढ़ने से संवत् निकला १६१७ या १६२७। नन्द-नन्दन-मास = माधव मास, माधव का अर्थ है वैशाख। छय से हीन तृतीया अक्षय तृतीया। तृतीय ऋक्ष = कृत्तिका नक्षत्र। योग था उस दिन सुकर्म। नन्द-नन्दन कृष्ण का जन्म बुधवार को हुआ था। उससे बाण अर्थात् पाँचवाँ दिन रविवार हुआ। संवत् का नाम था सुबल।

इस पद में उल्लिखित संवत् के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। यह मतभेद रसन शब्द को लेकर हुआ है। सरदार कवि और भारतेन्दु दोनों ने रसन से एक का अर्थ लिया है, परन्तु न जाने आगे दूसरी ही पंक्ति मे संवत् १६०७ कैसे छप गया? रसन का अर्थ एक करने से संवत् १६१७ होना चाहिए। रसना से एक अर्थ लेना भी युक्तियुक्त है। जिसकी एक बात होती है, जो दो-दो बातें नहीं कहता, वही संसार मे समादार का भाजन बनता है। एक बात कहना—सत्य बोलना—कहकर न बदलना—मनुष्य के लिए सर्वोच्च सद्गुण कहा गया है। पर स्वतः रसना के दो कार्य होते हैं—रसास्वादन लेना और बोलना। अतः इससे दो का अर्थ लेना भी युक्तिसंगत है। गणना करने से सुबल का पर्यायवाची वृषभ संवत् १६२७ में ही पड़ता है। इस प्रकार रसन से रसना और रसना से दो का अर्थ ग्रहण करना ही समीचीन है।

कुछ विद्वानों ने रसन से 'रस नहीं है जिसमें, अर्थात् शून्य, ऐसा अर्थ लिया है, परन्तु पता नही ऐसा निरर्थक अर्थ इन विद्वानों को सूझा कैसे? जिसमें रस नहीं वह नीरस वस्तु होगी—परन्तु वह अपनी विद्यमानता में भी शून्य हो जाय, यह कैसे संभव है? रसन का अर्थ 'शून्य किसी कोषकार ने नही लिखा। एक डाक्टर ने नन्दनन्दन मास का अर्थ लिखा है मधु और मधुका अर्थ निकाला है वैशाख। यह अर्थ भी अशुद्ध है। नन्दनन्दन को मधु किसी ने भी नहीं कहा और न किसी कोष में ही मधु का अर्थ वैशाख लिखा है। नन्दनन्दन का नाम कृष्ण, कृष्ण का नाम माधव और माधव का अर्थ वैशाख है। मधु चैत्र मास का दूसरा नाम है, वैशाख का नही। कालिदास ने रघुवंश में "मधु माधवौ" शब्दों का प्रयोग किया है, जिनमें मधु चैत्र है और माधव वैशाख।

पद में रसना शब्द का प्रयोग भी सार्थक है। उससे आगे के 'रस' शब्द का अर्थ स्पष्ट होता है। रस से ९ और ६ दोनों अर्थ ग्रहण किये जाते है। नव रस भाव-विधान- के अन्तर्गत हैं, परन्तु रसना के रस ६ ही है। अतः इससे ६ का अर्थ लेना शब्दमैत्री के अनुकूल है। साहित्य-लहरी के दृष्टकूट पदों में शब्दों का अर्थ समीपवर्ती शब्दों से अधिक निश्चित होता है।

साहित्य-लहरी के इस पद के अनुसार सूरदास कम से कम १६२७ संवत् तक अवश्य जीवित थे। इसी संवत् के आस-पास अकबर से भी उनकी भेंट हुई होगी, क्योंकि उसके राज्यारोहण का समय संवत् १६१३ है और संवत् १६४२ के पूर्व निश्चित रूप से सूर गोलोकवास कर चुके थे, जैसा आगे उद्धृत चौरासी वार्ता के बाह्य साक्ष्य से प्रमाणित होता है।

साहित्य-लहरी का दूसरा पद सूर-जीवन पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। उसे हम ज्यों का त्यों नीचे उद्धृत करते हैं:—

प्रथम ही पृथु जाग तें भे प्रगट अद्भुत रूप।
ब्रह्मराव विचारि ब्रह्मा राखु नाम अनूप ॥
पान पय देवी दियो सिव आदि सुर सुख पाय।
कह्यो दुर्गा* पुत्र तेरौ भयो अग्नि सुखदाय ॥
पारि पॉयनु सुरन के पितु सहित अस्तुति कीन।
तासु वंस प्रसंस मे भौ चन्द चारु नवीन ॥
भूप पृथ्वीराज दीनों तिन्हें ज्वाला देस।
तनय ताके चार, कीन्हों प्रथम आप नरेस ॥
दूसरे गुन चंद ता सुत सीलचंद सरूप।
वीर चन्द प्रताप पूरन भयो अद्भुत रूप ॥
रंत और हमीर भूपति संग खेलन जात।
तासु वंस अनूप भौ हरचन्द अति विख्यात ॥
आगरे रहि गोपचल मे रह्यो ता सुत वीर।
पुत्र जनमे सात ताके महा भट गम्भीर ॥
कृष्णचन्द, उदारचन्द जो रूपचन्द सुभाइ।
बुद्धिचन्द, प्रकाश चौथो चन्द भौ सुखदाइ ॥
देवचन्द, प्रबोध, संसृत चन्द ताको नाम।
भयो सप्तो नाम सूरजचन्द मन्द निकाम ॥
सो समर करि साहि स्यों सब गये विधि के लोक।
रह्यौ सूरजचन्द दृग ते हीन भरि भरि सोक ॥
पर्यौ कूप पुकार काहू सुनी ना संसार।
सातयें दिन आइ यदुपति कियो आप उधार ॥
दिव्य चख दै कही सिसु सुन मांग वर जो चाइ।
हों कहीं प्रभु भगति चाहत शत्रु नास सुभाइ ॥
दूसरो ना रूप देखों देखि राधा स्याम।
सुनत करुनासिंधु भाखी एवमस्तु सुधाम ॥

* शब्द के आदि आचार्य भगवान शिव माने जाते हैं। अतः दुर्गा या देवी या शक्ति को यहाँ ब्रह्मराव की जननी कहा गया है जो शिव की पत्नी हैं।

प्रबल दच्छिण विप्रकुल तें शत्रु ह्वै है नास ।
अखिल बुद्धि विचारि विद्यामान मानै सास ॥
नाम राखे मोर सूरज दास सूर सुस्याम ।
भये अन्तर्ध्यान बीते पाछलो निसि जाम ॥
मोहि मनसा इहै ब्रज की बसों सुख चित थाप ।
थपि गुसाईं करी मेरी आठ मध्ये छाप ॥
विप्र प्रथु के जाग को है भाव भूरि निकाम ।
सूर है नँद-नन्द जू को लयो मोल गुलाम ॥

यह पद भारतेन्दु, सरदार तथा* सेनापति आदि द्वारा संगृहीत एवं अनुवादित साहित्य-लहरी की सभी प्रामाणिक प्रतियों मे पाया जाता है। इस पदकी प्रथम पंक्ति मे आये हुये "पृथु जाग तें" शब्दो को कई प्रतियों मे अशुद्ध छाप दिया गया है। किसी प्रति मे "पृथ जगात" लिखा गया है और किसी-किसी मे 'पृथ जगाते'। जब शब्द ही अशुद्ध छाप दिये गये तो अर्थ कैसे ठीक हो सकता है? खेद है कि किसी भी विद्वान का ध्यान शब्दों की अशुद्धता की ओर न गया। शब्द इतने सरल और सुप्रसिद्ध थे कि थोड़ा-सा ध्यान जाते ही वे समझ में आ सकते थे, पर इधर किसी ने ध्यान देना कदाचित् आवश्यक न समझा। किसी किसी विद्वान ने इन अशुद्ध शब्दों का अर्थ यह लगाया कि 'पृथ जगात' पद चन्द-वरदायी के गोत्र का वाचक है। किसी ने 'पृथज गोत' शब्द मान कर अर्थ कर दिया हैः प्रार्थज गोत्र। अन्य विद्वानों ने जगात का अर्थ जांगड़ा या जगातिया† और जगातिया का अर्थ भाट लगाया है। सम्भवत: जगात और जगा शब्दों में शब्द-साम्य स्थापित करके इन विद्वानो ने ऐसा अर्थ किया है।

पर यह शब्दों को न समझने के कारण है। भ्रम और अज्ञान के कारण शब्द भी अशुद्ध छपे है और उनका अर्थ भी अशुद्ध लगाया गया है। शुद्ध शब्द हमने ऊपर लिख दिये है। इनमें "पृथु" शब्द एक प्रसिद्ध सूर्य-वंशी चक्रवर्ती राजा का नाम है। अनेक पुराणों मे इसकी कीर्ति-कथा वर्णित है। "जाग" शब्द यज्ञ का अपभ्रंश है। इस शब्द का प्रयोग तुलसी, सूर प्रभृति सभी कवियो की रचनाओं मे पाया जाता है। 'तें' अपादान कारक की विभक्ति है। तीनो का मिलाकर अर्थ हैः—पृथु के यज्ञ से।

---

* डा० धीरेन्द्र जी वर्मा, प्रयाग के मतानुसार साहित्य-लहरी के कुछ कूटों का संकलन कदाचित् सेनापति का बढ़ाया हुआ है।

† घाट पर कर वसूल करने वाले को जगातिया कहते हैं।

(जिन्होंने पुराणों का थोड़ा सा भी अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि इस वैवस्वत मन्वन्तर के प्रारम्भ मे जलप्लावन के रूप मे जो खण्डप्रलय हुई थी, उसके शान्त होने पर पृथु नाम के चक्रवर्ती सम्राट ने ही पृथ्वी को धन-धान्य पैदा करने के योग्य बनाया। यह सम्राट मर्यादा स्थापक कहा गया है)। इसी के समय से पितामह ब्रह्मा का* वह वरुण यज्ञ हुआ, जिसका वर्णन महाभारत के अनुशासन पर्व के अध्याय ८५ मे मिलता है। यह पृथु यज्ञ के नाम से भी प्रसिद्ध है। अनेक पुराणों मे इस यज्ञ का वर्णन है और इससे अन्य वर्णों के साथ ब्राह्मणों की भी उत्पत्ति बतलाई गई है। स्कन्दपुराण के ब्रह्मखण्ड मे लिखा है कि पृथु यज्ञ से जो प्रथम ब्राह्मण उत्पन्न हुआ वह स्वर्णयज्ञोपवीत धारण किये हुए ब्रह्मा की स्तुति करने लगा। इसी कारण इसका नाम ब्रह्मराव पड़ा। श्रीमद्भागवत चतुर्थ स्कंध अध्याय १५, श्लोक ७ मे लिखा है कि पृथुयज्ञ से उत्पन्न ब्राह्मणों ने पृथु की भी† स्तुति की। आदिकालीन ब्राह्मण स्तोता थे, स्तोता का अर्थ है गुण-दोषों का निर्वचन करने वाला। इस प्रकार की स्तुति-प्रक्रिया के द्वारा प्रारम्भिक मनुष्यों को जड़-चेतन पदार्थों के गुण-दोषों का ज्ञान हुआ। इसी स्तुति प्रक्रिया ने साहित्य को जन्म दिया।

इस प्रक्रिया का मुख्य प्रयोजन था—विश्व मे ज्ञान-रश्मियों को विकीर्ण करना। विद्या की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती मानी गई है।‡ स्कन्द पुराण में इसी स्थल पर लिखा है ब्रह्मा के इस मानस पुत्र ब्रह्मराव को सरस्वती ने दुध

*जलप्लावन के पश्चात् होने के कारण यह जल के अधिष्ठातृ देवता वरुण के नाम से वरुण यज्ञ कहलाता है। ब्रह्मा प्रत्येक मन्वन्तर की भाँति इस यज्ञ के भी कर्ता धर्ता थे। महाराज पृथु के समय मे होने के कारण यह पृथु यज्ञ के नाम से भी प्रसिद्ध है।

†प्रशंसन्तिस्म तं विप्राः गंधर्व प्रवराजगुः। इसी विषय के अन्य प्रमाण भी देखिये:—'स्तवैश्च विप्राः जयनिस्वनैर्गणाः'—भागवत १०-१२-३४।

'तत्र तत्र च विप्रेन्द्रैः स्तूयमान समन्ततः—महा० आदि पर्व ६६–१३।

'स्तूयमानो द्विजाग्रयैस्तु मरुद्भिरिव वासवः'—महा० वन पर्व १५७-७२।

एष विप्रेभि: अभिस्तुतः अपोदेवो विगाहते ..साम १० १-२।

'ब्राह्मणैश्च महाभागै: वेदवेदाङ्ग पारगैः।

पृथुरेव नमस्कार्यो ब्रह्मयोनिः सनातनः ॥ वायुपुराण द्वितीय खण्ड २-६।

ब्रह्मपुराण २-११६।

‡ वागधिष्ठातृ देवी सा कवीनामिष्ट देवता—ब्रह्मवैवर्त पुराण।

एष कविः अभिष्टुतः पवित्रे अधितोषते।

पिलायाः—"ब्रह्माणं वरदं वीक्ष्य प्रीता देवी सरस्वती, स्वांके निधायपुत्रत्वे स्थापयामास तं शिशुम् ।" साहित्य लहरी के ऊपर उद्धृत पद की प्रारम्भिक पंक्तियों में भी यही भाव है। लगभग इन्हीं शब्दों से मिलती-जुलती कथा महाभारत के अनुशासन पर्व अध्याय ८५ में आती है। इस कथा में यज्ञ से उत्पन्न तीन ऋषियों का वर्णन है:—भृगु, अंगिरा और कवि। कवि ऋषि को ब्रह्मा ने अपने पुत्र रूप में स्वीकार किया*। सरस्वती को ब्रह्मा की पत्नी कहा जाता है†। अतः उसे कवि ऋषि की जननी के रूप में माना गया है। ऊपर पुराण और महाभारत के जो उद्धरण दिये गये है, उनमे एक घटना को आलंकारिक रूप में वर्णन किया गया है। कवि ऋषि के वंशज ब्राह्मण आज भी सरस्वती-पुत्र कहलाते हैं। पौराणिक शैली तथा अलंकार का आवरण हटा कर देखिये तो स्पष्ट रूप से इन उद्धरणों से यही ध्वनि निकलती है कि ब्राह्मण ज्ञान के धनी होते हैं; वे विद्या मे अवगाहन करने वाले हैं। विश्व में जितनी ज्ञान-राशि संचित हुई है, उसके मूल कारण ब्राह्मण ही हैं। कवि-वंशीय ब्राह्मण इसी हेतु ब्रह्मपुत्र, सरस्वतीपुत्र, देवीपुत्र आदि नामों से पुकारे जाते हैं‡। ये आदिकालीन ब्राह्मण हैं। साहित्य की सृष्टि मुख्य रूप से इन्हींके द्वारा हुई है।

सूर ने साहित्य-लहरी के ऊपर उद्धृत पद में प्रथम इसी बात की ओर संकेत किया है और अपने वंश के मूल पुरुष का नाम ब्रह्मराव माना है। इसी प्रतिष्ठित वंश में चंदवरदाई का जन्म हुआ था, जो महाराज पृथ्वीराज का राजकवि, प्रधानमन्त्री और पुरोहित था§। पृथ्वीराज ने उसे ज्वाला देश

पुनानो ध्नन् अप द्विषः । साम० १०—५—२ ।
पूज्यमानो महाभागैर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।
वन्दिभिः स्तूयमानश्च नागरैश्चाभिनन्दित· ॥६२॥
महा० आदि पर्व अ० २२५

* पिता महस्त्वपत्यं वै कविजग्राह तत्ववित् ।
ब्रह्मपुत्र इव सवनेषु शंससि—ऋ० २८२-२

† यं ब्रह्माणमियं देवी वाग्वश्ये वानुवर्तते—उत्तररामचरित ।
तद्कीर्तितं आचरितम् कविना । १-४.५० महाभाष्य कारिका ।
कवि शब्द यहाँ सरस्वती के वरद पुत्र पाणिनि के लिये आया है।

‡ बाणभट्ट ने अपने वंश के प्रारम्भ का विवरण हर्षचरित के प्रथम उच्छ्वास में इसी पौराणिक शैली में दिया है।

§ देखो संवत् १६३२ का छपा पं० महेशदत्त शुक्ल कृत काव्यसंग्रह।

(कांगड़ा) दान में दिया था। पृथ्वीराजरासो के अनुसार चन्दवरदाई की दो पत्नियाँ थीं, जिनसे दस पुत्र उत्पन्न हुए थे, परन्तु इस पद में चन्द के केवल चार पुत्रों का उल्लेख किया गया है। सम्भव है चन्द की दो पत्नियों में से एक पत्नी के चार ही पुत्र हुए हों, जिनमें से एक के साथ सूर के वंश का सम्बन्ध हो और द्वितीय पत्नी की छह सन्तानों से अन्य वंशों का प्रवर्तन हुआ हो। यही अधिक समीचीन जान पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने वंश के प्रवर्तकों का ही उल्लेख करता है, अन्य पूर्वजों से सम्बन्धित व्यक्तियों के नाम छोड़ देता है।

सूर ने अपना जो वंश-वृत्त इस पद में उद्धृत किया है, उसमें वीरचन्द और हरिचन्द के बीच की कई पीढ़ियों का वर्णन छोड़ दिया है। इसी प्रकार वंश के मूल पुरुष ब्रह्मराव और चन्द के बीच की पीढ़ियों का भी उल्लेख नहीं हुआ है। दोनों स्थानों पर "तासु वंश प्रसंस में भौ" या "तासुवंश अनूप भौ" लिख कर निकटवर्ती पूर्वजों के नामों का वर्णन कर दिया गया है। पर जो पद को गम्भीर दृष्टि से न पढ़ कर केवल पल्लवग्राही दृष्टि से पढ़ते हैं उन्हें भ्रम हो जाता है और इस भ्रम के कारण वे पद को ही अप्रामाणिक कहने लगते हैं। पद के शब्द इतने स्पष्ट हैं कि वहाँ भ्रम करने का कोई अवकाश ही नहीं है। जिस प्रकार 'तासुत' शब्दों के द्वारा शीलचन्द और वीरचन्द का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार हरिचन्द का वर्णन नहीं है। हरिचन्द को वीरचन्द के वंश में उत्पन्न हुआ

---

* चन्द के पिता का नाम वेणुराव इतिहास प्रसिद्ध है। उसका एक छन्द बांकीपुर से छपी साहित्य-लहरी के पृष्ठ ११५ के नीचे टिप्पणी में दिया है:—

अटल ठाट महिपाट, अटल तारागढ़ थान।
अटल नग्र अजमेर, अटल हिन्दूव अस्थानं॥
अटल टेज परताप, अटल लंकागढ़ डंडिव।
अटल आप चहुवान, अटल भूमी जस मंडिव॥
संभरी भूप सोमेस नृप, अटल छत्र ओपै सुभर।
कवि राव वेन आसीस दें, अटल जुगां राजेस कर॥

यह छन्द सम्वत् १६२६ की लिखी हुई 'चन्द छन्द वर्णन की महिमा' से लिया गया है। इसी पुस्तक में चन्द के स्तुति पाठक नागपुत्र करण का कहा हुआ यह दोहा भी लिखा है·— ले कूंजा नृप पीथुला, सामत चमू समंद।
वेन नन्दन कनवज गमन, चन्द करन कइ दंद॥

श्री राधाकृष्ण जी की सम्मति में या तो हम्मीर रासो के रचयिता शारंगधर का ही जन्म-नाम वीरचन्द रहा होगा या चन्दवरदायी के ये दोनों ही वंशज हम्मीर के दरबार में प्रतिष्ठित रहे होंगे।

बतलाया गया है। अतः निश्चित है कि इन दोनों के बीच मे कई पीढ़ियाँ अवश्य व्यतीत हो गई होंगी।

हरिचन्द पद के अनुसार सूर के पितामह थे, परन्तु खेद है, सूर इस पद मे अपने पिता का नाम निर्देश न कर सके*। अपने पिता को वे केवल 'वीर' विशेषण से सम्बोधित करते है। पण्डित नानूराम भट्ट से प्राप्त हुई वंशावली के आधार पर महामहोपाध्याय पण्डित हरिप्रसाद जी शास्त्री ने सूर के पिता का नाम रामचन्द्र लिखा है, जो वैष्णव भक्ति के अनुसार रामदास बन जाता है। आर्य जाति के लिए सच्ची वीरता के आदर्श मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र ही हैं। सूर के पिता का नाम भी यही था। पर पद में नाम का न आना खटकता है—इसमे कोई न कोई रहस्य अवश्य अन्तर्हित है। सूर ने अपने सहोदरों के नाम लिखे हैं और उन्हें उद्भट योद्धा के रूप मे चित्रित किया है। यह भी लिखा है कि वे सब शाह के साथ युद्ध करके ब्रह्मलोक को प्रयाण कर गये—(—पर पिता, आह! सूर, तुम्हारे पिता का क्या हुआ? क्या वे भी पुत्रों के साथ वीर-गति को प्राप्त हुए? यदि ऐसा था तो बन्धुओं की नामावली के साथ उनका भी नाम स्वर्णाक्षरों मे लिखा जाने योग्य था? पर, नहीं; शायद ऐसा न हो सका। तो फिर क्या हुआ उस वीर का नाम और चरित्र किस अन्धकार में विलीन हो गये? मुगल-मेघ की काली-काली घटा, तू ही बता, निस्सन्देह वह वीर ब्राह्मण कहीं तेरे ही अंचल में छिपा हुआ है। रामदास, तेरा नाम लेने मे सूर को शरम आती है; जिसकी हृदयाग्नि के छह छह शोले उस यवन-प्रवाह के साथ युद्ध करते हुए शान्त परम-धाम को सिधारे, जिसका एक अंगार नेत्ररूपी ज्योति से शून्य होकर भी प्रदीप्त रत्नमणि मे परिवर्तित हो आज तक लोक-मानस को आलोक से ओतप्रोत कर रहा है—वह स्वयं वृद्धावस्था में नैराश्य से घिरा हुआ, पुत्र-शोक से विह्वल, कही दरबारी मुसाहिब बना काल यापन कर रहा है! रामदास! सूर तेरा नाम कैसे अंकित करे? तू वीर था। पर नियति, निष्ठुर नियति का विषम विधान, तू कहीं से कहीं पहुँचा। सूर को तेरी वीरता ही याद रही-वही याद रहनी भी चाहिये थी। तेरे जीवन का अन्य अंश उस तेजस्वी भक्त के लिये शून्य था, निरर्थक था)।

(मुसलमान लेखकों ने ब्रजवासी बाबा रामदास के साथ उनके पुत्र सूरदास को भी मुगल दरबार मे पहुँचा दिया है। परन्तु यह मिथ्या जान पड़ता है।)

---

* गोस्वामी हरिराय कृत 'सूरदास की वार्ता' मे भी सूरदास के पिता का नाम नहीं आता।

अकबर से सूर की एक बार भेंट अवश्य हुई थी,—जैसा चौरासी वैष्णवों की वार्ता में लिखा है; पर वे अकबर के दरबार में नौकर बन कर कभी नहीं गये। बाबा रामदास के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वानों की सम्मति में वे मुसलमान हो गये थे। गोवर्धन पर्वत पर, जिसे गोपाचल और गिरिराज भी कहते हैं गोपालपुर के समीप एक गुफा है जो अकबर तथा अष्टछाप के समकालीन प्रसिद्ध गवैये तथा भक्त बाबा रामदास की गुफा कहलाती है। इसी गोपाचल पर उनके रहने का स्थान भी माना जाता है। अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, पृष्ठ १२ चौरासी वार्ता सं० ४७ में एक रामदास चौहान का भी गोवर्धन की कन्दरा में रहना लिखा है जो श्री गोवर्धननाथ जी की सेवा किया करते थे।

साहित्य-लहरी के इस पद से सूर के जीवन की नीचे लिखी बातें विदित होती हैं:—

(१) सूर ब्राह्मण थे और महाकवि चन्दबरदायी के वंश में उत्पन्न हुए थे। वे न प्रार्थज गोत्र के थे और न जगात वंश के। इन भ्रमात्मक बातों की कल्पना विद्वानों ने "प्रभु जागतें" शब्दों को न समझने के कारण की है। जैसा उनके वंश वाले कहते हैं, वे भारद्वाज गोत्री थे। बाण, मयूर, हलायुध जगद्धर आदि के समान भट्ट उनकी विद्वत्तासूचक उपाधि थी, जो आगे चल कर परिस्थितियों के प्रभाव से यवनकाल में जातिवाचक* बन गई। जागा, भटिया, वैतालिक आदि के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है; वीर-काव्य संग्रह में भी चन्द को भट्ट ब्राह्मण ही माना गया है।

---

*यवन-काल में आर्य जाति ने अपनी रक्षा करने के लिए प्रदेश और कार्यों के आधार पर वर्णों को दुर्भेद्य दुर्ग रूपी कई समूहों में विभक्त कर दिया था। हिन्दुओं की वर्तमान "जात-पाँत' का जटिल ढाँचा उसी समय का है, जिसने तत्कालीन राजनैतिक एवं सामाजिक आवश्यकता की भली भाँति पूर्ति की। आज यदि उसमें दुर्गुण दिखलाई देते हैं तो इसीलिए कि मानव रचित कोई भी संस्था सार्वभौम और सार्वकालिक नहीं होती। उसमें समय और देश की आवश्यकता के अनुकूल परिवर्तन होता रहता है। ईश्वर-रचित चातुर्वर्ण्य व्यवस्था इस संबन्ध में शाश्वत है और रहेगी।

भट्ट द्रविड़ भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ होता है 'कवि'। अमरकोष के निर्माण-काल तक इस शब्द का संस्कृत भाषा में प्रयोग नहीं होता था। उस समय उत्तराखण्ड के काव्य-रचयिता ब्राह्मणों को कवि कहा जाता था। अमरकोष में कवि ब्राह्मण का पर्यायवाची शब्द है। जब कवि के स्थान पर द्रविड़ प्रभाव से भट्ट शब्द का प्रचार हुआ, तो भट्ट शब्द ब्राह्मण का पर्यायवाची बन गया और

(२) सूरदास का मूल नाम सूरजचन्द था। संन्यास लेने पर वे सरदास या सूरजदास नाम से विख्यात हुये।

(३) सूरदास के पिता गोपाचल में रहते थे, जो आगरा के निकट है। चौरासी वैष्णवों की वार्ता में सूर के निवासस्थान को गौघाट कहा गया है और इसकी स्थिति आगरा और मथुरा के बीच बतलाई गई है। भक्त-विनोद में मियाँ-सिंह ने सूर का जन्म-स्थान मथुरा प्रांत मे माना है:-- "मथुरा प्रान्त विप्रवर गेहा; भा उत्पन्न भक्त हरि नेहा।" इससे भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। कुछ विद्वानों ने इनका जन्म-स्थान दिल्ली के पास सीही ग्राम को बतलाया है। श्री राधाकृष्णदास ने जिस सीहीं को मथुरा प्रांत के अन्तर्गत लिखा है वह सीही नहीं, सहिनन्द है, जिसका उल्लेख चौरासी वार्ता मे भी कई स्थलों पर हुआ है। सीही श्री हरिराय कृत भावाख्य वार्ता के अनुसार दिल्ली से चार कोस पूर्व की ओर था, जहाँ परीक्षित के पुत्र जन्मेजय ने सर्पयज्ञ किया था। आजकल दिल्ली के आस-पास ऐसा कोई ग्राम नहीं है। 'सुगम पंथ' में चौबे गनपत लाल ने दिल्ली के समीप किसी ग्राम के निवासी सूरदास मदनमोहन*का उल्लेख किया है जो कुछ काल तक

पण्डित के सामान्य अर्थ मे उसका प्रयोग होने लगा। हिन्दी के प्राचीन साहित्य में भी सन्तवाणियो के अन्तर्गत ब्राह्मण के स्थान पर भट्ट शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ। कुमारिल भट्ट के मतानुयायियों को भी संस्कृत साहित्य में भाट्ट कहा गया है। महामहोपाध्याय स्वर्गीय पं० दुर्गाप्रसाद द्विवेदी, ने साहित्य दर्पण की छायाख्य विवृत्ति की भूमिका के पृष्ठ ६१ पर भट्ट के अपभ्रंश शब्द भाट को ब्राह्मणों की एक प्रसिद्ध जाति का वाचक बतलाया है। ब्लौचमैन द्वारा अनुवादित आईने अकबरी के प्रथम भाग के पृष्ठ ४०४ पर लिखा है कि बीरबल भाट ब्राह्मण थे। गोस्वामी गोकुलनाथ ने चौरासी वैष्णवों की वार्ता के पृष्ठ २४६ पर कवि-राज को भाट ब्राह्मण लिखा है। ये भाट ब्राह्मण ब्रजप्रदेश मे ब्रह्मभट्ट कहलाते है। इनसे पृथक सूत, मागध वंशीय भट्टों के वर्ग हैं। प्राचीन कोषकारों ने भी भट्टों की इन भिन्न स्थितियों को स्वीकार किया है। आधुनिक कोषों मे भट्ट और ब्रह्मभट्ट शब्दों के अर्थ विद्वान, पंडित, कवि, वेद-व्याख्याता, एक प्रकार के ब्राह्मण आदि लिखे हुएहैं। सदाशिवशर्मा जोषी भट्टोजी दीक्षित के 'प्रौढ मनोरमा' के प्रस्ताविकम् (१६२८ ई०) के चतुर्थ पृष्ठ पर भट्टोजी के विषय में लिखते हैं:—"वाराणसी वास्तव्याः महाराष्ट्र ब्राह्मणाः भट्टकुलावतंसाः।

*भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा संग्रहीत साहित्य-लहरी का परिशिष्ट, पृष्ठ १६१।

अकबर की सभा में रहे थे। ऐतिहासिकों के अनुसार यह शूरध्वज ब्राह्मण, अकबर के कृपा-पात्र और संडीले -के असीन थे। कुछ विद्वान रुनकता को सूरदास का निवास स्थान मानते हैं। रुनकता भी आगरा और मथुरा के बीच में है। मौलाना निजामुल्ला राहावी अकबराबादी ने लिखा है कि रुनकता में आपकी कोठी यादगार है, जहाँ सूरदास ने सूरसागर लिखा था~।

हमारी सम्मति में सूरसागर रुनकता में नहीं, गोवर्धन पर श्रीनाथ मन्दिर में लिखा गया था। हाँ, उसके प्रारम्भिक विनय के पद यहाँ अवश्य लिखे गये थे। पुरातत्व वेत्ताओं के मतानुसार रुनकता का प्राचीन नाम रेणुका क्षेत्र है। यह मथुरा से आगरा जाने वाली सड़क पर मथुरा से २४ मील की दूरी पर है। इस समय इसकी स्थिति सड़क से एक मील हट कर है। पहले यमुना नदी रुनकता से सट कर बहती थी। अब लगभग आधा मील हटकर बहती है। रुनकता के समीप ही यमुना नदी का एक घाट है जो आज भी गो-घाट कहलाता है। यह घाट कच्चा है। रुनकता के पास ही यमुना के किनारे एक और स्थान है, जहाँ पुराने जमाने की कुछ ईंटे इधर-उधर पड़ी हैं और कुछ जमीन में गड़ी भी हैं। रुनकता-निवासियों के कथनानुसार सूरदास यहीं रहा करते थे। चौरासी वार्ता में भी यही स्थान लिखा है। गोपाचल और गौघाट दोनों में नाम की समता है। दोनों को आगरा के निकट बताया गया है। रुनकता भी यहाँ से पास है। अतः सम्भव है, सूर का निवास-स्थान यहीं पर रहा हो। ग्वालियर तथा गोवर्धन पर्वत को भी प्राचीन ग्रंथों में गोपाचल कहा गया है। भारतेन्दु की सम्मति में सूर के पूर्वज दिल्ली के समीप सीही ग्राम में रहते होंगे। वहाँ से चलकर गोपाचल में रहने लगे होंगे। यह भी संभव है कि परिवार के कुछ व्यक्ति सीही में और कुछ गोपाचल में रहते हों। चौरासी वार्ताकार रुनकता के समीपवर्ती गौघाट को ही सूर का निवास स्थान बताते हैं।

भविष्य पुराणकार ने मदन मोहन सूरदास को पौर्वात्य ब्राह्मण नर्तक तथा रहः क्रीडा विशारद लिखा है। भक्तमाल में नाभादास जी ने भी इन्हें श्रृंगार रस के गायक तथा रहस सुख के अधिकारी लिखा है। वैष्णव वार्ता मणिमाला के रचयिता महेश श्री नाथ देव ने इसी प्राच्य, उन्मद, विट, गायक तथा कवि मदन सूर को ग्वालचक्र, गोपाचल वासी तथा सूरसागर के रचयिता सूरदास के साथ मिला दिया है।

~ सूर-सौरभ, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ५

(४) सूर के छः भाई* मुसलमानों के साथ युद्ध करते हुये वीर-गति को प्राप्त हुये थे। यह युद्ध सम्भवतः सिकन्दर लोदी से हुआ होगा, जिसमे उसने संवत् १५६० के लगभग मथुरा के मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट किया था। इस सम्बन्ध से सूरसागर की एक अन्तःसाक्षी हमने आगे उद्धृत की है।

(५) सूर इस समय-नेत्र विहीन थे। उन्होंने युद्ध मे भाग नहीं लिया। अंधे होने के कारण वे एक कूप मे गिर पड़े। सातवें दिन भगवान् कृष्ण ने कूप से निकाल कर इनका उद्धार किया और दिव्य चक्षु देकर वर माँगने के लिये कहा। सूर ने वरदान में भगवद्भक्ति की याचना की, जो स्वभाव से ही काम-क्रोधादि शत्रुओं को नष्ट कर देती है। उन्होंने यह भी अभ्यर्थना की कि जिन दिव्य चक्षुओं से उन्होंने राधा-श्याम के दर्शन किये है उनसे अब और किसी को वे न देखें। भगवान ने वर दिया कि ऐसा ही होगा और माध्यम बनेंगे इसमें एक दक्षिण से आये हुये ब्राह्मण, जो भक्ति मे बाधा डालने वाले काम-क्रोधादि समस्त शत्रुओं को नष्ट कर देंगे। इनका नाम महाप्रभु वल्लभाचार्य था।

(६) आचार्य वल्लभ के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ ने सूरदास को अष्टछाप में प्रमुख स्थान दिया था।

(७) सूरजदास, सूरश्याम, सूरदास तथा सूर उपनाम सूरजचन्द नाम के एक ही व्यक्ति के हैं†।

पद मे आये हुए इस कथा वृत्त से सूर की नेत्र विहीनता, कूप-पतन और वरदान-प्राप्ति की घटनाओं पर जो प्रकाश पड़ता है, उसका विवेचन करना आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि ये घटनाये सूर के भावी जीवन-मन्दिर का द्वार खोलने वाली है। इन्हीं घटनाओंसे सूर के जीवन-मार्ग में वह मोड़ या घुमाव आ उपस्थित हुआ, जिसने सूर को एक दिशा से दूसरी दिशा की ओर उन्मुख कर दिया। संक्षेप में कहे, तो सूर का वास्तविक, भक्तिभरित जीवन यहीं से प्रारंभ होता है।

सूर अंधे थे, इस विषय में आजकल विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कतिपय विद्वानों की सम्मति में सूर जन्म से ही अंधे थे, परन्तु अन्य विद्वान कहते हैं कि वे मिल्टन की भाँति अपने जीवन के वार्धक्य में अंधे हुए थे। सूर के अंधे

*गोस्वामी हरिरायकृत 'सूरदास की वार्ता' पृष्ठ २ पर सूर के चार भ्राताओं का उल्लेख है। सूरदास अपने पिता के चौथे पुत्र थे। सूरदास सब मे छोटे थे, इसकी स्वीकृति दोनों ग्रंथो मे है।

†गोस्वामी हरिराय कृत सूरदास की वार्ता, पृष्ठ ६४ और ६५ पर भावाख्य विवृति में भी सूर के यही चार नाम स्वीकार किये गये हैं।

होने के सम्बन्ध से सूरसागर में भी कई अन्तःसाक्षियाँ बिखरी पड़ी हैं, जिनमें से कुछ नीचे लिखी जाती हैं:—

(अ)—रासरस रीति नहि बरनि आवै।

यहै मांगों बार बार, प्रभु, सूर के नयन द्वौ रहैं, नरदेह पाऊँ ॥१६२४॥

(आ)—सूर कहा कहै द्विविध आँधरो बिना मोल कौ चेरो॥

—चौरासी वार्ता, पृष्ठ ३०२

(इ) सूरजदास अंध अपराधी सो काहे बिसर्यौ ॥१६० ॥

(ई) ऐसो अंध अधम अविवेकी खोटनि करत खरे ॥१६८॥

(उ) सूरदास की एक आँखि है ताहू मे कछु कानौं ॥४७॥

उपर्युक्त पंक्तियों में सूर अपने को अंधा कहते हैं और प्रभु की शरण चाहते हैं। वे प्रार्थना करते हैं कि आगामी जीवन में उन्हें मानव शरीर प्राप्त हो और युगल-दर्शन के अभिलाषी दोनों नेत्र मिलें, जिनसे वे भगवान की लीला देख सकें। इससे निश्चय है कि सूर इस जीवन में नेत्रहीन थे।

इन अन्तः साक्षियों का समर्थन भक्तमाल, भक्तविनोद, रामरसिकावली, पद-प्रसंगमाला और चौरासी वैष्णवों की वार्ता से भी होता है:—

भक्तमाल—प्रतिबिम्बित दिवि दृष्टि हृदय हरि लीलाधारी।

(छप्पय संख्या ७३ की तीसरी पंक्ति)

भक्त-विनोद—जनम अंध दृग-ज्योति विहीना।

(१०वें दोहे के बाद छठी पंक्ति)

राम रसिकावली—जनमहिं ते हैं नैन विहीना।

(चतुर्थ दोहे के बाद प्रथम पंक्ति)

पद-प्रसंगमाला—दोऊ नेत्र करि हीन ब्रजवासी सूरदास।*

चौरासी वार्ता—इसमें सूर के अंधे होने का उल्लेख दो स्थलों पर है। प्रथम उल्लेख वहाँ पर है, जहाँ आचार्य वल्लभ का अडैल से चलकर वृन्दावन और वहाँ से गोपाचल (गौघाट) पहुँचने का वर्णन है। सूर से भेंट करते समय आचार्य जी ने कहा—"सूर कछु भगवद जस वर्णन करौ।" सूर ने कुछ विनय के पद सुनाये, जिन्हें सुनकर आचार्य जी ने कहा—"सूर ह्वै कें ऐसो काहे कों घिघियात है। कछु भगवद लीला वर्णन करि।" इससे प्रकट होता है कि महाप्रभु से मिलने के पूर्व ही सूरदास अंधे होने के कारण सूर नाम से प्रसिद्ध हो चुके थे।

वार्ता में सूर के अंधे होने का दूसरा प्रमाण अकबर से भेंट होने के समय का है। सूरदास के पदों की प्रशंसा सुनकर अकबर ने विचार किया:—

---

* राधाकृष्ण ग्रन्थावली, पृष्ठ ४६८

"सूरदास जी काहू रीति सों मिलें तौ भलो। सो भगवत इच्छा तें सूरदास जी मिले।" अकबर के कहने पर सूरदास ने प्रभु-कीर्तन के दो पद गाये, जिनमें से एक पद की पंक्ति इस प्रकार थी;—सूर ऐसे दरश कों ए मरत लोचन प्यास।' इसे सुनकर अकबर ने पूछा:—"जो सूरदास जी, तुम्हारे लोचन तौ देखियत नाहीं, सो प्यासे कैसे मरत हैं? और बिन देखे तुम उपमा कों देत हौ सो तुम कैसे देत हो?" इस स्थल पर भी सूर को 'अंधा कहा गया है, परन्तु जो प्रश्न अकबर ने किया था, वही प्रश्न आज के विद्वानों को भी भ्रम में डाले हुये है। यह प्रश्न है—सूर अंधे है तो उपमा आदि अलंकारों द्वारा प्राकृतिक सामग्री लेकर मानव-भावनाओं, चेष्टाओं और पनघट आदि की घटनाओं का सजीव वर्णन कैसे कर सकते हैं? जहाँ तक अन्त: साक्षियों का सम्बन्ध है, वे सूर के अंधे होने का ही समर्थन करती है। कम से कम आचार्य वल्लभ से मिलने के पूर्व सूर अवश्य अंधे थे। यही नहीं, युद्ध में अपने सहोदरों के वीरगति पाने के समय भी वे अंधे थे, जैसा साहित्य-लहरी के पद से प्रकट होता है। बाह्य साक्षियों से भी उनके अंधे होने की बात प्रमाणित होती है, पर कुछ विद्वानों को इस बात पर विश्वास नहीं होता। एक ग्रंथ में लिखा है:—'सूरदास ने अपनी कविता मे रंगों के, ज्योति के और अनेकानेक हावभावों के ऐसे मनोरम वर्णन किये हैं और उपमायें ऐसी-ऐसी उत्तम कहीं है कि यह किसी प्रकार निश्चय नहीं होता कि कोई व्यक्ति बिना आँखों देखे ऐसा वर्णन केवल श्रवण द्वारा प्राप्त ज्ञान से कर सकता है।'

यहाँ प्रश्न यह होता है कि यदि सूरदास जन्म से अन्धे नही थे, तो सूर-सागर लिखने के पश्चात् वे अंधे हुए, या इसके बीच मे, या इसके पूर्व? चौरासी वैष्णवों की वार्ता से इसका स्पष्ट उत्तर मिल जाता है। सूरसागर आचार्य वल्लभ से मिलने के पश्चात् ही लिखा गया और आचार्य जी से भेंट करने के पूर्व ही सूरदास वार्ता प्रसङ्ग एक के अनुसार सूर नाम से प्रख्यात हो चुके थे। अतः सूर-सागर की रचना करने से पहिले ही वे अन्धे हो चुके थे। यह तथ्य उन विद्वानों के अनुमान का भी खण्डन कर देता है, जो यह कहते हैं कि सूर अंधे थे तो उन्होंने आचार्य वल्लभ और श्रीनाथ के दर्शन कैसे किये? जैसे अन्धा व्यक्ति न मन्दिर मे जा सकता है और न किसी से भेंट कर सकता है! एक लेखक का कथन है कि वार्ता में सूर अपने साथियों से चौपड़ के खेल में लीन मनुष्यों को देखकर कहते हैं कि 'देखौ, वह प्रानी कैसौ अपनों जमारो खोवत है।" यदि सूर अंधे थे तो चौपड़ कैसे देख सके? ऐसे लेखकों को क्या उत्तर दिया जाय, जो समझते हैं कि केवल आँख वाले गोलकों से ही दृश्यबोध होता है, अन्यथा नहीं। क्या अंधा शब्द नहीं सुनता? क्या शब्द सुनकर दृश्य-दर्शन, पदार्थ-ज्ञान नहीं

होता ? अब तो इस देश तथा विदेश मे विशिष्ट शिक्षा-समन्वित अंधे पुस्तक भी पढ़ लेते है। एक इन्द्रिय के न रहने से दशों इंद्रियां तो नष्ट नहीं हो जाती ? फिर सूर गोटों की आवाज, पौ आदि पढने के शब्द को सुनकर अथवा अपने शिष्यों से जानकर क्या चौपड़ खेलने का अनुमान नहीं कर सकते थे ? यह तो साधारण मनुष्यों की-सी बात हुई। सूर जैसे उच्च कोटि के सन्त की तो बात ही निराली है। वे भगवद्भक्त थे। अघटित घटना घटा देने वाले प्रभु के सच्चे भक्त के सामने विश्व के निगूढ़ रहस्य भी अनवगत नहीं रहते। साधारण व्यक्ति जिस वस्तु को नेत्र रहते भी नहीं देख सकता, उसे क्रांत-दर्शी कवि एव महात्मा अनायास देख लेते है। जन्मान्ध नाभा जी, प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्द जी, स्वामी पूर्णानन्द जी तथा ऐसे ही अन्य अनेक सन्तों ने मानव-लीलाओं एवं भावनाओं का अनुभव किया हुआ-सा वर्णन किया है। वास्तव मे कवि एव महात्माओं के दिव्य नेत्रों में हमारे नेत्रों से महान अन्तर रहता है। तभी तो अकबर के पूछने पर कि 'सूर तुम्हारे नेत्र तो है ही नहीं, फिर उपमा कैसे देते हो ?' सूर चुप हो गये थे, कुछ बोले नहीं थे।

एक ग्रंथकार ने स्त्री द्वारा सुई से फोडी गई विल्वमगल की आखों वाली घटना को सूरदास पर मढ़ना चाहा है। लिखा है:—"यह बात सत्य जंचती है। सम्भव है, स्त्री का विषय था, इस कारण चौरासी वार्ता मे यह न लिखा गया।" हमारी सम्मति मे यदि यह घटना सूरदास के जीवन से सम्बन्धित होती तो चौरासी वार्ता मे अवश्य स्थान पाती, क्योंकि वार्ता में इस प्रकार के प्रसङ्ग कई स्थानों पर है। इससे सूरदास के विरक्त जीवन पर भी बड़ा अच्छा प्रकाश पड़ता, साथ ही मनोविज्ञान के विद्यार्थी को सूर की प्रेमा भक्ति के अध्ययन के लिए दृढ आधार भूमि प्राप्त हो जाती तुलसी की भाँति सूर का भी स्त्री की ओर गया हुआ प्रेम भगवान की ओर अनायास उन्मुख हो जाता और दार्शनिक विवेचना में किसी प्रकार की कठिनाई न पड़ती।

नेत्र-विहीनता के सम्बन्ध मे प्राप्त कतिपय अन्य अन्तःसाक्षियों का हमने आगे उल्लेख किया है। अब कूप-पतन की घटना पर विचार कीजिये। कूपपतन वाली बात का समर्थन मियाँसिह के भक्तविनोद से भी होता है:—

एक दिवस मारग चलत, 'विधुन कूपकल कोय।
दृग विहीन चीन्हों न कछु, लग्यौ भक्त च्युत होय ॥ दोहा नं० १३ ॥
गहित करन कर तुरत मुरारी। भक्त कूप चुत लीन निवारी।

मालूम पड़ता है, अपने भाइयों की मृत्यु के पश्चात् विरक्त अवस्था मे सूर अधे होने के कारण किसी कुए मे गिर पड़े थे। भगवान की कृपा से उसमे से

जीवित ही निकल आये। यदि इस घटना का आध्यात्मिक अर्थ लगाया जाय तो कूप से अज्ञान का अभिप्राय होगा। अज्ञान या अविवेक को अंधकार-पूर्ण गर्त या कूप की उपमा दी जाती है। साहित्य-लहरी के पद और भक्त-विनोद की ऊपर उद्धृत दोहे चौपाई वाली पंक्तियों के अनुसार सूर को कूप से निकालने वाले परम दैवत भगवान है। अज्ञान के गर्त से भी उन्हीं की भक्ति पार करती है। सूर के आध्यात्मिक विकास को कूप-पतन वाली घटना स्पष्ट कर रही है)। अतः सूर की जीवनी में इसका अनुपम महत्व है। भगवान के दर्शनों की बात सूरसागर में अनेक स्थलों पर कही गई है। एक उदाहरण लीजिए:—

हरि सों मीत न देखौ कोई।
अन्त काल सुमिरत तेहि अवसर आनि प्रतच्छौ होई ॥१—१०

सूरसागर की निम्नांकित पक्ति भी कूप-पतन की सूचना देती है:-
नरक कूपनि जाइ जमपुर पर्यौ वार अनेक।

१-४७ की ८ वी पंक्ति (१०६ ना०)

इस प्रकार पद में वर्णित कूप-पतन वाले प्रसंग से सांसारिक एवं आध्यात्मिक अथवा शारीरिक और मानसिक दोनों अर्थ लिये जा सकते हैं। आत्मिक विकास के लिए दूसरे अर्थ का ग्रहण अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। वैसे, दोनों अर्थ परस्पर सम्बद्ध हैं और उनका अन्योन्य प्रभाव अतीव स्पष्ट है।

कूप-पतन से वरदान वाला प्रसंग भी सम्बन्धित है, जिसका समर्थन भक्त-विनोद और सूरसारावली दो ग्रन्थो से हो रहा है। सूरसारावली के १००७ वें पद में लिखा है:-

दरसन दियौ कृपा करि मोहन वेगि दियौ वरदान।
आगम कलपरमन तुव ह्वै है श्री मुख कही बखान ॥

इस सम्बन्ध में भक्त विनोद की नीचे लिखी पंक्तियाँ अधिक विचारणीय हैः—

सुनि प्रभु वचन सुखद अभिरामा। सूर दण्डवत करत प्रणामा।
वोल्यौ आज धन्य हौं दीना। जेहि इन दृग दरस प्रभु कीना।
मुनि योगिन सुर दुर्लभ जोई। मोरे सुलभ आज जग सोई।
अव न देउ प्रभु संस्सृति कामा। एक स्मरण तोर अभिरामा।
मोरे हृदय लालसा छाई। विसरहि सो न भक्त-सुखदाई।
अरु तुम्हार माया वलवाना। करहि न मोहि मुग्ध भगवाना।
हे कृपालु कल कमल विमोचन। हृदय भक्तजन सोच विमोचन।
निज नयनन अस रूप तुम्हारा। मै प्रतच्छ प्रभु लीन निहारा।

तिन सन जगत विलोकन काहीं। दीनदयालु मोरि रुचि नाहीं।
ताते करहु पूर्ववत मोरे। दृग-विहीन बन्दहुँ प्रभु तोरे।
बोले कृष्ण भक्त चितचोरा। सूर कथन सब सन्तत तोरा।
होहि सत्य कछु संशय नाईं। भाखि वचन अस त्रिभुवन साईं।

भक्त-विनोद और सूरसारावली की ऊपर उद्धृत पंक्तियाँ साहित्य-लहरी की वरदान वाली बात का स्पष्ट समर्थन कर रही हैं। अन्तः साक्ष्य का समर्थन एक अन्य अन्तः साक्ष्य से भी हो रहा है और बाह्य साक्ष्य से भी। यही नहीं, दोनों साक्ष्यों का भाव-साम्य भी दर्शनीय है। नीचे लिखी तुलनात्मक पंक्तियों पर विचार कीजिये:—

दूसरो ना रूप देखों, देखि, राधा स्याम।
सुनत करुना सिंधु भाखी, एवमस्तु सुधाम॥

—साहित्य-लहरी

जिन नयनन अस रूप तुम्हारा। मैं प्रतक्ष प्रभु लीन निहारा।
तिन सन जगत विलोकन काहीं। दीन दयालु मोरि रुचि नाहीं।
बोले कृष्ण भक्तचित चोरा। सूर कथन सब संतत तोरा।
होहि सत्य कछु ससय नाईं। भाषि वचन अस त्रिभुवन साईं।

—भक्त विनोद

और भी—

हों कही प्रभुभक्ति चाहत सत्रु नास स्वभाइ॥

—साहित्य-लहरी

अब न देउ प्रभु संसृति काना। एक स्मरण तोर अभिरामा।
अरु तुम्हार माया बलवाना। करहि न मोहि मुग्ध भगवाना।

—भक्त विनोद

वरदान वाले प्रसंग का इतना स्पष्ट उल्लेख होते हुए भी नवरत्न के विद्वान लेखक लिखते हैं:—"भक्त विनोद में वरदान का कोई हाल नहीं लिखा है।"

इसी प्रसंग को लेकर नवरत्न के लेखकों ने पद को अप्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है और कतिपय अन्य लेखक भी उन्हींके पीछे चल पड़े हैं। इन विद्वानों के मतानुसार पद में वर्णित 'शत्रु-नाश' से तात्पर्य मुसलमान बादशाहों के नाश से है क्योंकि इन्हींसे लड़कर सूर के सब भाई मारे गये थे और दक्षिण विप्रकुल' से तात्पर्य पेशवा राजाओं से है। ऊपर ऊपर देखने से इन लेखकों का किया हुआ अर्थ सत्य-सा भासित होता है, पर जरा गहराई के साथ मूल पद की

पंक्तियों को एक बार पढ़ा जाय तो सत्याभास का परदा तुरन्त आँखों के सामने से हट जाता है। जिस बात की कल्पना भी सूर के सामने नहीं थी, वह उनके मत्थे मढ़ दी गई है। सूर के साथ इससे बढ़कर और क्या अन्याय होगा? पद में लिखा है कि कूप में पतित सूर को भगवान ने बाहर निकाला और दिव्य चक्षु प्रदान कर वरदान माँगने के लिये कहा*। सूर लिखते हैं.—

दिव्य चख दै कही, शिशु सुन, माँग जो वर चाइ।
हौं कह्यौ प्रभु भगति चाहत सत्रु नास स्वभाइ॥
दूसरौ ना रूप देखौं देखि राधा स्याम।

लेखक के अभिप्राय को समझने के लिए योग्यता, आकांक्षा, आसत्ति और तात्पर्य चार बातों की परम आवश्यकता होती है। योग्यता शब्दों की वह क्षमता है, जिसके द्वारा शब्दों का अभिप्रेत अर्थ ही ग्रहण किया जाता है। आकांक्षा किसी विषय पर लेखक और वाक्यस्थ पदों की परस्पर जुड़ी हुई अभिलाषा का नाम है। जिस पद के साथ जिसका सम्बन्ध हो उसी के समीप उस पद को बोलने या लिखने को आसत्ति कहते हैं। तात्पर्य वह लक्ष्य या उद्देश्य है जिसे सामने रख कर लेखक लेख लिखता है। हठी एवं दुराग्रही मनुष्यों के सम्बन्ध में तो कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे सदैव लेखक के अभिप्राय के विरुद्ध और अपने अभीष्ट के अनुकूल कल्पना किया करते है, परन्तु जिज्ञासुओं के लिये अर्थ समझने में अड़चन पड़ने पर ऊपर लिखी चारो बातें बहुत सहायक होती है।

पद की पंक्तियों का अर्थ लगाने मे वैसे तो कोई अड़चन नहीं है। सीधा-साधा अर्थ हैं। सूर कहते हैं:—'प्रभो! मै तुम्हारी भक्ति चाहता हूँ, जो स्वभाव से ही शत्रु-नाश करने वाली है। मुझे आपके दर्शन हो गये। अब मैं किसी और का दर्शन करना नहीं चाहता।' भक्त-विनोद में इन्हीं पंक्तियों के अर्थ की पुनरुक्ति-सी है जैसा हम भावसाम्य-सूचक दोनों ग्रंथों की पक्तियाँ इसके पूर्व उद्-धृत करके दिखला चुके हैं। यदि उपर्युक्त आकांक्षा, तात्पर्य आदि चार कसौ-टियों पर कसा जाय तो भी पक्तियों से यही अर्थ निकलता है। अर्थात् सूर प्रभु-भक्ति माँगते हैं और कृष्ण के अतिरिक्त अब अन्य किसी के दर्शन करना नहीं

---

*साहित्य लहरी मे वर्णित चक्षु-प्रदान वाली बात का समर्थन भक्त विनोद की नीचे लिखी पंक्तियों से होता है:—

ततक्षण अंधनयन जुग तासा। असत विमल कल जोति प्रकासा॥२॥
× × × ×
ज्योति विमल तुव दृगन प्रकासा। भक्त सृष्ट सब मोर विलासा॥१०॥

चाहते। भक्ति और कृष्ण-दर्शन के साथ सम्बन्ध होने के कारण 'शत्रु-नाश' का तात्पर्य काम-क्रोधादि के विनाश के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। सूर की इस समय कितनी शुद्ध, विरक्त एवं पवित्र मानसिक दशा है, पर सन्त वृत्तियों की नितान्त उपेक्षा करके इस युग के कुछ लेखक कहते हैं कि सूर इस भक्ति-भरित पावन अवस्था के समय मुसलमान बादशाहों के नाश का वरदान भी माँग रहे हैं। यह है भक्त-शिरोमणि सूर की भावना के साथ घोर अत्याचार? जो अर्थ शब्दों में नहीं, पदों के समीप नहीं, न पदों की आकांक्षा ही उस ओर, और न जो सूर के लिखने का तात्पर्य ही है—उसे मन की संस्कृति के समय लौकिक वासनाओं की विकृति के साथ जोड़ना कहाँ तक युक्ति युक्त है? भक्ति और प्रभु-दर्शन के बीच कौन शत्रु बाधा डालने वाले हैं? उत्तर स्पष्ट है—मनुष्य के स्वाभाविक शत्रु काम-क्रोधादि। सियाँसिंह ने इन्हें सम्मति कामा, माया और मोह आदि द्वारा प्रकट किया है। स्वयं सूर के शब्दों में भी सुनिये;—

काम क्रोध मद लोभ शत्रु हैं जो इतनो सुनि छूटै।
सूरदास तबहीं तम नासै ज्ञान अगिनि झर फूटै॥ सूरसागर २-१६ (३६२)

इस प्रकार सूर जिन शत्रुओं से मुक्त होना चाहते हैं, हमारे ये लेखक उन्हीं शत्रुओं के जाल में उन्हें फिर फाँसना चाहते हैं। यह न न्यायोचित है, न तर्क-संगत ही।

इसी प्रकार दक्षिण विप्रकुल से सूर का तात्पर्य अपने गुरु महाप्रभु वल्लभाचार्य से है। कैसा सुन्दर प्रसंग ऊपर से चला आ रहा है! सूर का कृष्ण से भक्ति का वरदान माँगना, बाधक शत्रु कामक्रोधादि से छुटकारा पाना और वरदान प्राप्त करना कि दक्षिणी ब्राह्मण वल्लभाचार्य से कृष्ण-भक्ति में दीक्षित होकर सूर कृतकृत्य हो जायँगे। सीधा और सरल अर्थ। पर, दक्षिण विप्र का पेशवा अर्थ लगा कर इन लेखकों ने समस्त साहित्यिक सौष्ठव एवं सामंजस्य पर पानी फेर दिया, जैसे दक्षिण विप्र का अर्थ पेशवा के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। यदि इन लेखकों को मुसलमान बादशाहों को नाश करने वाले का ही अर्थ ग्रहण करना था तो 'शिवा जी' अर्थ करना उपयुक्त एवं इतिहास-सम्मत होता। महाराष्ट्र साम्राज्य के संस्थापक और मुगलों के प्रतापी साम्राज्य का ध्वंस करने वाले छत्रपति शिवा जी ही थे, पेशवा नहीं। पेशवा तो मन्त्री थे, बाद में [illegible] राजा बन बैठे। पर ये लेखक 'शिवाजी' अर्थ कैसे लेते? शिवाजी क्षत्रिय थे और 'दक्षिण विप्र' में विप्र शब्द ब्राह्मणत्व का द्योतक पड़ा है। पेशवा [illegible] ब्राह्मण थे। अतः इन लेखकों का पेशवा अर्थ की क्लिष्ट कल्पना [illegible] नहीं। सूर की भक्ति और वरदान प्राप्ति के अनुकूल दक्षिण विप्र का सीधा

सरल और प्रासंगिक अर्थ महाप्रभु वल्लभाचार्य* था, क्योंकि वे दक्षिणी ब्राह्मण लक्ष्मण भट्ट के द्वितीव पुत्र थे ।† इस उपयुक्त एवं अभीष्ट अर्थ को छोड़ कर ये विद्वान दुरूहार्थ रूपी दग्धारण्य में क्यों प्रविष्ट हुए, यह समझ में नहीं आता।

साहित्य-लहरी के इसी पद में इन्हीं पंक्तियों से आगे अपने गुरु वल्लभाचार्य का वर्णन करने के उपरान्त सूरदास अपने गुरुपुत्र का वर्णन करते हैः—"थपि गुसाईं करी मेरी आठ मध्ये छाप।" यह एक प्रसिद्ध घटना है कि महाप्रभु वल्लभाचार्य के चार शिष्यों के साथ अपने चार शिष्यों को मिलाकर उनके पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ ने अष्टछाप‡ की स्थापना की थी। ऊपर की बातों से मिलाते जाइये, पद में कहीं भी प्रसंग का तार नहीं टूटता। सूर के जीवन की प्रायः सभी मुख्य-मुख्य बातें इस पद में आ गई हैं। पर, हममें से ऐसे भी विद्वान हैं, जो प्रसंग को छिन्न-भिन्न करके, पद के संश्लिष्ट सौन्दर्य का संहार करके, अपनी मनमानी कल्पनाओं द्वारा पद को अप्रामाणिक घोषित करते हैं, और फिर कितना आश्चर्य, कितनी विडम्बना, कि जिस पद को ये विद्वान अप्रामाणिक कहते हैं, उसीकी पंक्तियों को अपने कथन के समर्थन में उद्धृत भी करते जाते हैं!

पद की प्रामाणिकता में एक अन्य प्राज्ञ ने अतीव पोच पेच डाल कर संदेह उत्पन्न करना चाहा है। इनका कथन है कि पद में ब्रह्मराव और विप्र दो विरोधी शब्द साथ-साथ प्रयुक्त हुए हैं, अतः पद सिद्ध नहीं, साध्य कोटि में है। हमारी समझ में नहीं आता कि ब्रह्मराव और विप्र क्यों विरोधी शब्द है। पद में विप्र शब्द सूर के वर्ण का परिचायक है, और ब्रह्मराव शब्द वंश के मूल पुरुष का नाम है। दोनों शब्द पृथक्-पृथक् दो बातें बतला रहे हैं। फिर उनमें विरोध कैसा?

---

*श्री राधाकृष्णदास ने (राधाकृष्ण ग्रंथावली पृष्ठ ४३८ के नीचे की टिप्पणी में) दक्षिण विप्र से वल्लभाचार्य का ही अर्थ लिया है और लिखा हैः—"मैं इसी अनुमान को ठीक समझता हूँ, क्योंकि भगवद्दर्शन पाकर फिर सूरदास को लौकिक कामना कोई रह न गई, यहाँ तक कि आँख तक न चाही।"

†दक्षिण विप्र-कुल वाली पंक्ति से मिली हुई दूसरी पंक्ति 'अखिल बुद्धि विचारि विद्यामान मानै सास' वल्लभाचार्य के लिए ही कही गई है, जिनकी विद्वत्ता एवं सिद्धांतों को अनेक विद्वानों ने स्वीकार किया था।

‡अष्टछाप में आचार्यवल्लभ के चार शिष्य—सूरदास, कृष्णदास, परमानन्ददास और कुम्भनदास थे, और विट्ठलदास के चार शिष्य—चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, नन्ददास और गोविन्ददास थे।

एक विद्वान ने सूरजदास, सूरदास और सूरश्याम नाम के तीन कवि मान कर सूरसागर में उनकी रचनाओं का सम्मिश्रण माना है। संभव है, सूरसागर के कुछ पदों के साथ अन्य कवियों के पद सम्मिलित हो गये हों, पर जहाँ तक उपर्युक्त तीन नामों का सम्बन्ध है, वे एक ही कवि के नाम जान पड़ते हैं। सूरजदास तो मूल नाम सूरजचन्द का ही संन्यास का नाम है। अन्धे होने के कारण सूरजदास ही सूर या सूरदास कहलाते हैं, और भक्ति में सराबोर होने के कारण वे सूरश्याम भी कहीं-कहीं अपने को लिख देते हैं। जिस विद्वान ने इन तीनों नामों को भिन्न-भिन्न माना है, उसने अपने कथन की पुष्टि में कोई सबल प्रमाण उपस्थित नहीं किया। सूरश्याम के सम्बन्ध में यह विद्वान लिखता है कि जहाँ श्याम शब्द का सम्बन्ध पद के आगामी शब्दों से अन्वित हो, वहाँ तो वह पद सूरदास का है; परन्तु जहाँ श्याम शब्द सूर शब्द के साथ नाम का भाग हो, वहाँ पद को किसी अन्य कवि (सूरश्याम) का मानना चाहिये। हमारी सम्मति में सूर के काव्य में ऐसा स्थल एक भी नहीं है, जहाँ श्याम शब्द केवल नाम के साथ ही सम्बद्ध हो। जो रचना अपने संपूर्ण रूप में भगवद्भक्ति एवं लीला से सम्बन्धित है, उसमें श्याम शब्द का अन्य शब्दों के साथ कुछ न कुछ सम्बन्ध मिल ही जाता है। दूसरा कारण यह उपस्थित किया गया है कि सूर श्याम वाले पदों में हठयोग की क्रियाओं का वर्णन है। परन्तु परीक्षा करने पर यह भी अशुद्ध निकला। पदों में हठयोग की क्रियाओं का वर्णन अवश्य है, परन्तु वह वर्णन कहीं तो भक्ति में सहायता करने वाले आसन, प्राणायामादि का है, और कहीं-कहीं मुद्रा, सींगी, भस्म, विषाण, नेत्र-निमीलन आदि क्रियाओं की असारता और भगवद्भक्ति की उपयोगिता सिद्ध करने के लिये है, जो सूर की भक्ति-पद्धति के ही अनुकूल है।

अतः हमारी समझ में ये तीनों नाम एक ही कवि के हैं। गोस्वामी हरिराय कृत चौरासी वार्ता की भावाख्य विवृति और साहित्य-लहरी का पद हमारी सम्मति का समर्थन कर रहे हैं। 'सूर' नाम के अन्य कवियों ने अपने नाम के साथ मदनमोहन आदि शब्द लगा रखे हैं, जो उनकी भिन्नता के द्योतक हैं। हमारे सूरदास से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस विषय पर साहित्यलहरी के विवेचन में हम और भी अधिक विचार करेंगे।

इस प्रकार पद में आई हुई समस्त बातों का समर्थन अन्तः तथा बाह्य दोनों प्रकार के साक्ष्यों से हो रहा है। इसमें सूर का वंश, उनके मुख्य-मुख्य पूर्वजों के नाम, भ्राताओं के नाम, कूप-पतन, महाप्रभु वल्लभाचार्य द्वारा सिद्धि

प्राप्त करना, गोस्वामी विट्ठलनाथ द्वारा सूर का अष्ट-छाप में स्थापित किया जाना, व्रज में निवास करना आदि अनेक वातों का विवरण दिया हुआ है। सूरसागर, सारावली और साहित्य-लहरी के पदों में सूर के उपनामों के अन्तर्गत जो सूरज और सूरजदास उपनाम आये है, उनका भी मूलाधार इसी पद में उपलब्ध होता है। सूर का मूल नाम सूरजचन्द है। उसी का संक्षिप्त रूप सूरज और वैष्णव रूप सूरजदास है। सूरज से सूर और सूर से सूरदास नाम सम्भवतः अन्धे होने के कारण पड़ गया है। जब तक सूर के ग्रन्थों मे ये दो उपनाम विद्यमान है, तब तक उनका मूल नाम सूरजचन्द ही मानना पड़ेगा। इस मूल नाम का उल्लेख साहित्य-लहरी के पद के अतिरिक्त और किसी स्थान पर नहीं है। इस आधार से भी पद की सत्यता सिद्ध होती है। पद में सूर के नाम के साथ 'मन्द निकाम, लयो मोल गुलाम आदि' दैन्य प्रदर्शक शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जो सिद्ध करते हैं कि वह सूर ही का लिखा हुआ है। पद के शब्द, शैली, भाव तथा विचार सभी सूर की रचना के अनुकूल हैं। अतः हमारी सम्मति में यह पद प्रामाणिक और सूरदास की जीवनी पर अनेक दिशाओं से आलोक विकीर्ण करने वाला है।

सूरसागर—

इसके पूर्व जिन अन्तःसाक्षियों के द्वारा हमने सूर के जीवन पर प्रकाश डालने का यत्न किया है, वे प्रायः सूर-जीवन के वैराग्य-प्रधान अंश से सम्बन्ध रखती हैं। सूरसारावली का जो पद उद्धृत किया गया है, उसमें सूर ने महाप्रभु वल्लभाचार्य की कृपा से प्राप्त हरिलीला-दर्शन की ओर संकेत किया है। साहित्य-लहरी के वंश-परिचायक पद में भी कूप-पतन और वरदान वाली घटना, भगवान के दर्शन और आचार्य वल्लभ तथा उनके पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ आदि के वर्णन सूर के विरक्त एवं भक्त-जीवन से ही सम्बन्ध रखने वाले हैं। साहित्य-लहरी के १०६वें पद से उसके निर्माण-काल का और ११८वें पद से सूर के वंश का परिचय अवश्य मिल जाता है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी अंतःसाक्षियाँ भी हमें सूरसागर में उपलब्ध हुई हैं, जो सूर के गार्हस्थ जीवन को प्रकट करती हैं। इस सम्बन्ध में नीचे लिखे पद विचारणीय हैं:—

(१) कितक दिन हरि सुमिरन बिनु खोये।
पर निन्दा रसना के रस में अपने पर-तर बोये॥
तेल लगाइ कियो रुचि मर्दन, वस्त्रहिं मलि मलि धोये।
तिलक बनाय चले स्वामी ह्वै विषयनि के मुख जोये॥

काल बली तें सब जग कम्पत ब्रह्मादिक हू रोये।
सूर अधम की कहौ कौन गति उदर भरे परि सोये ॥ १-३४
(ना० प्र० स० ५२)

(२) अब नाथ मोहि उधारि।
मग नहीं भव अम्बुनिधि में कृपासिंधु मुरारि ॥
नीर अति गम्भीर, माया लोभ लहरति रंग।
लिये जात अगाध जल में गहे ग्राह अनंग ॥
× × ×
काम क्रोध समेत तृष्णा पवन अति झकझोर।
नाहि चितवन देत तिय सुत नाम नौका ओर ॥ १-४० । (६६)

(३) माधव जू मन हठि कठिन पर्यौ।
यद्यपि विद्यमान सब निरखत दुःख शरीर मर्यौ ॥ १-४१ । (१००)

(४) आछौ गात अकारथ गार्यौ।
निशि दिन विषय-विलासन विलसत फूटि गई तव चार्यौ।
अब लाग्यौ पछितान पाइ दुख दीन दई कौ मार्यौ ॥१-४१ । (१०१

(५) अपनी भक्ति देउ भगवान।
कोटि लालच जो देखावहु नाहिंने रुचि आन।
जरत ज्वाला, गिरत गिरि तें, सुकर काटत सीस।
देखि साहस सकुच मानत राखि सकत न ईस ॥
कामना करि कोप कबहूँ करत कर पशु घात।
सिंह सावक जात गृह तजि इन्द्र अधिक डरात ॥
जा दिना तें जन्म पायौ यहै मेरी रीति । १-४७ । (१०६)

तथा—सूरदास के हृदय बसि रह्यौ स्याम सिव कौ ध्यान । ४१। पृष्ठ१२६ (७८८)
हरि हर संकर नमो नमो ॥ (७८६)

(६) कीजै प्रभु अपने विरद की लाज।
माया सबल, धाम, धन, बनिता बाँध्यौ हौं इहि साज ॥ १-४६ । (१०८)

(७) तुम गोपाल मोसौं कहुत करी।
पावक जठर जरन नहिं दीनों कंचन सी मोरी देह धरी ॥ १-५७ । (११६)

(८) तुम कब मोसौ पतित उधार्यौ !
अजामील तौ विप्र-तुम्हारौ हुतौ पुरातन दास ॥
× × ×
तौ जानौं जौ मोहि तारिहौ सूर कूर कवि ठोट !! १—७५।(१३२)

(६) कहावत ऐसे त्यागी दानी ।
सूरदास सों कहा निठुर भये नैनन हू की हानी ॥ १–७६ । (१३५)
(१०) मोसों बात सकुच तजि कहिए ।
कत ब्रीडत, कोउ और बतावहु वाही के ह्वै रहिये ॥
× × ×
तीनों पन मैं ओर निबाहे इहै स्वाँग कों काछे ।
सूरदास कों इहै बड़ौ दुःख परत सबन के पाछे ॥ १—७७ । (१३६)
(११) अब मैं नाच्यौ बहुत गोपाल ।
काम क्रोध कौ पहरि चोलना कंठ विषय की माल ॥
महा मोह कौ नेपुर बाजत निन्दा शब्द रसाल ।
भरम भये मन भयौ पखावज चलत कुसंगति चाल ॥
तृष्णा नाद करत घट भीतर नाना विधि दै ताल ।
माया कौ कटि फेंटा बाँध्यौ लोभ-तिलक दियौ भाल ॥
कोटिक कला काछि दिखराई, जल, थल सुधि नहिं काल ।
सूरदास की सबै अविद्या दूरि करौ नन्द लाल ॥ १-६३ । (१५३)
(१२) सृक चन्दन वनिता विनोद सुख यह जुर जरनि जरायौ ।
मैं अजान अकुलाइ अधिक लौ जरत माँझ घृत नायौ ॥
भ्रमि भ्रमि हों हार्‌यौ हिय अपने देखि अनल जग छायौं । १-६४ ॥(१५४)
(१३) यहै जिय जानि के अन्ध भव-त्रास तैं सूर कामी कुटिल सरन आयौ १-५
(१४) इत उत देखत जनम गयौ ।
या माया झूठी की लालच दुहुँ दृग अन्ध भयौ ॥ १-१७० (२६१)
(१५) सबै दिन गये विषय के हेत ।
तीनों पन ऐसे ही बीते केस भये सिर सेत ॥
आँखिनु अन्ध, श्रवण नहिं सुनियत, थाके चरण समेत । १-१७५ । (२६६)
(१६) द्वै में एकौ तौ न भई ।
ना हरि भजे न गृह सुख पाये वृथा बिहाइ गई ।,
ठानी हुती और कछु मन में औरै आनि ठई ॥
अविगत गति कछु समुझि परत नहिं जो कछु करत दई ॥
सुत सनेह तिय सकल कुटुम्ब मिलि निसिदिन होति खई ।
पद नख चन्द चकोर विमुख मन खात अङ्गार मई ।
विषय विकार दवानल उपजी, मोह बयार बई ।
भ्रमत भ्रमत बहुतै दुख पायौ, अजहुँ न टेव गई ।

कहा होत अब के पछिताने होनी सिर बितई।
सूरदास सेये न कृपा-निधि जो सुख सकल मई ॥ १ १७७ (२६६)

(१७) दीनानाथ अब बार तुम्हारी।
पतित-उधारन बिरद जानि कें बिगरी लेहु सँभारी ॥
बालापन खेलत ही खोयो युवा विषयरस माते।
वृद्ध भये सुधि प्रगटी मोकों दुखित पुकारत तातें ॥
सुतनि तज्यो, तिय तज्यौ, भ्रात तजि, तनत्वच भई जुन्यारी।
श्रवन न सुनत, चरन गति थाकी, नैन बहे जलधारी ॥ १-५६। (११८)

(१८) मेरी तौ पति गति तुम अन्तहि दुख पाऊँ।
हौं कहाइ तिहारौ अब कौन कौ कहाऊँ ॥
× × ×
सागर की लहर छाँड़ि खार कत अन्हाऊँ।
सूर कूर आँधरौ हौं द्वार पर्यौ गाऊँ ॥ १-१०५। (१६६)

(१६) कर जोरि सूर बिनती करै, सुनहु न हो रुकमिनि रमन।
काटहु न फंद मो अन्ध के, अब बिलम्ब कारन कवन ॥ (१८०)

ऊपर उद्धृत पद सूरदास की वैराग्य-जन्य स्थिति में लिखे होने के कारण सर्वसाधारण के लिए एक सामान्य निर्वेद-परक अर्थ रखते हैं, पर कवि का व्यक्तित्व भी अपने काव्य मे अन्तर्हित रहता है, इसी हेतु उसका उद्घाटन करने के लिये निम्नांकित पंक्तियों मे पदों पर विचार किया जा रहा है।

उद्धरण संख्या १, २, ३, १४ और १५ में सूर लिखते हैं कि मेरे जीवन के अनेक दिन भगवान को स्मरण किए विना ही व्यतीत हो गये। पद १ में वे स्पष्ट रूप से अपनी प्राथमिक अवस्था का वर्णन करते हुए लिखते हैं :—"मैंने इस शरीर में तेल का मर्दन किया, वस्त्रों को धो-धो कर उज्ज्वल बनाया, अर्थात् शरीर और वस्त्र दोनों को उज्ज्वल रखने का प्रयत्न किया, तिलक लगाकर स्वामी बनने का भी ढोंग किया, पर क्या इनमे से किसी ने मेरा साथ दिया ?" उद्धरण संख्या २ में गृहस्थ की व्याकुलता का चित्र खींचते हुए सूरदास कहते हैं:—"अरे इन स्त्री और पुत्रों के झंझटों ने मुझे बुरी तरह फाँसा...ऐसा फाँसा कि मैं प्रभु के नाम रूपी नौका की ओर देख भी न सका।" उद्धरण संख्या ३ मे भी इसी प्रकार की व्याकुलता का वर्णन है। सूर लिखते हैं :—"गृहस्थी के जंजाल, ये स्त्री पुत्रादि सब के सब मौजूद हैं। पर, इनकी विद्यमानता में ही मैं (अपने प्रभु से वंचित होकर) दुःख के मारे मरा जा रहा हूँ।"

उद्धरण संख्या ६ में सूरदास अपने को गृह, सम्पत्ति एवं स्त्री के बन्धनों में बँधा हुआ अनुभव करते हैं।

उद्धरण संख्या १२ मे सूर फिर वही बात लिखते हैः—"मैंने खूब फूल-मालायें धारण कीं, चन्दन का लेप किया और स्त्री-जनित विनोद सुख का भी पर्याप्त मात्रा में उपभोग किया, परन्तु यह सब जैसे ज्वर की जलन थी। मैंने अज्ञान के वशीभूत हो इस जलन को अपनी लालसाओं के घी से और भी अधिक प्रज्ज्वलित किया और उसके परिणाम स्वरूप आज देखता हूँ कि वह मेरी प्रज्वलित की हुई अग्नि समस्त संसार में फैली हुई है—कहीं पैर भी रखने को जगह नहीं।"

उद्धरण संख्या १३ में सूर संसार मे फैली हुई इस अग्नि के त्रास से संत्रस्त, संतप्त और भयभीत होकर प्रभु की शरण आते हैं, जो संत्रस्तों को आश्वस्त, संतप्तों को शीतल और भयभीतों को निर्भय कर देती है।

उद्धरण संख्या १६ मे सूर ने अपने दुःखाक्रान्त गृहस्थजीवन का और भी स्पष्ट वर्णन किया है। इस पद से प्रकट होता है कि उनका गृहस्थ-जीवन सुख से व्यतीत नहीं हुआ। सूर कदाचित् गृहस्थ में पड़ना नहीं चाहते थे, और जब पड़ गए तो जैसा चाहते थे वैसा साथी इन्हें नहीं मिला। सन्तान भी हुई, पर पुत्र, पत्नी और परिवार मानों सूर के लिए कलह के अखाड़े बन गये। विषय-विकारों की दावाग्नि मोह की हवा से प्रज्वलित होकर सूर के मानस को दग्ध करने लगी। सूर पश्चात्ताप करने लगेः—"मैं क्यों इस ज्वाला के जाल में फँसा? क्यों न कृपानिधान भगवान के चरणों की मैंने सेवा की, जो समस्त सुखों का स्रोत है।"

(इन पदों से सिद्ध होता है कि सूर ने गृहस्थ जीवन का उपभोग किया था, परन्तु वह सुखमय नहीं, कलह का केन्द्र था। उनकी मनोवृत्ति इसमें रमी नही। बार बार उचाट खाकर, वे इससे विरक्त होने का यत्न करते रहे।) स्मरण रखना चाहिए कि इन समस्त पदों में सूर ने अपने सम्बन्ध में लिखा है—उत्तम पुरुष में वर्णन किया है। एकाध पंक्ति को छोड़कर वह सामान्य कथन नहीं जान पड़ता।

उद्धरण संख्या ४ और ७ से प्रकट होता है कि सूर को सुन्दर शरीर प्राप्त हुआ था। प्रभु से प्रार्थना करते हुए वे कहते हैं कि मुझे गर्भ की जठराग्नि में ही क्यों न जल जाने दिया? क्यों मेरे शरीर को स्वर्णकांति के सदृश आभावान बनाया?

उद्धरण संख्या ५ में सूर ने अपने प्राथमिक ऐश्वर्य का वर्णन किया है। वे कहते हैं—"भगवन्, अब आपकी भक्ति के अतिरिक्त मुझे अन्य किसी भी वस्तु में रुचि नहीं रही है। असंख्य ऐश्वर्यों का लालच आप दिखावें, तो उन्हें तो मैं खूब देख चुका हूँ—यहाँ तक कि छक चुका हूँ—उनकी ज्वाला ही तो मुझे आज जला रही है। शिवारावन से बड़े-बड़े साहस के कार्य कर चुका हूँ। जबसे जन्म लिया, ऐसा ही तो कुछ ऊटपटांग काम करता रहा हूँ—पशुओं को काटना, यज्ञ करना और इन कार्यों से इन्द्र को शंकित करना—पर अब नहीं, अब इनमें से कुछ भी नहीं चाहिये—अब तो चाहिये आपके पद-पद्मों की रेणु—बस यही!

इस पद से प्रकट होता है कि सूर एक संस्कृत कुल* में उत्पन्न हुये थे और उत्तराखण्ड के अन्य ब्राह्मणों की भाँति इनका वंश भी शैव सम्प्रदाय का अनुगामी था। सम्भवतः अपनी प्रारम्भिक आयु में सूर भी शैव थे, क्योंकि सूर-सारावली के छन्द संख्या १००२ मे इन्होंने स्पष्ट रूप से अपने को शैव सम्प्रदाय के विधानों के अनुकूल तप करने वाला कहा है। परन्तु सूरसागर के उसी पद तथा अन्य पदों से निश्चित है कि शैव सम्प्रदाय के विधान इन्हें संतुष्ट न कर सके और आचार्य वल्लभ से भेंट करने के पूर्व ही ये गृहस्थ और शैव सम्प्रदाय दोनों का परित्याग कर चुके थे; महाप्रभु के सामने उन्होंने जो पद गाये थे वे भगवद्भक्ति विषयक ही थे। चौरासी वार्ता के अनुसार वल्लभ द्वारा कृष्ण-भक्ति मे दीक्षित होने के पहले ही सूर संन्यस्त हो चुके थे, भगवद्भक्ति मे लीन रहते थे और विनय के पद बनाकर गाया करते थे। इनके अनेक शिष्य भी इनके पास रहते थे। इस समय के बनाए हुए विनय के पद सूरसागर के पदों में ही सम्मिलित हैं।

उद्धरण संख्या १० और १७ से प्रकट है कि सूर ने लम्बी आयु भोगी। तीन पन—बाल्य, तारुण्य एवं वार्द्धक्य—सूर के सामने आए। उद्धरण संख्या १५ से भी इनकी वृद्धावस्था के चिह्न प्रकट होते हैं। सूर कहते हैं—"आँखों से मैं वैसे ही अन्धा था, अब तो कान भी जवाब दे गये। कानों से सुना नहीं जाता और चरणों मे चलने की सामर्थ्य नहीं रही?

उद्धरण संख्या १७ में सूर ने अपने गृहस्थ आश्रम की और भी कई बातों का उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि पुत्रों ने मुझे छोड़ा, स्त्री ने छोड़ा और सहोदर बन्धु भी छोड़ कर चले गये। साहित्य-लहरी के वंश परिचायक पद मे भी इनके

*साहित्य लहरी का ११८वाँ पद भी यही सिद्ध करता है। जिस वंश के व्यक्ति आर्य संस्कृति की रक्षा के लिए बादशाहों से युद्ध करने की हिम्मत रखते हों, वह वंश असंस्कृत नहीं हो सकता।

भ्राताओं के मारे जाने का वर्णन मिलता है। मालूम होता है कि इनकी स्त्री और पुत्र भी मर गए थे। चोट पर चोट खाकर सूर का विरक्त हृदय प्रपंच-पाशों से मुक्त होता गया।

उद्धरण संख्या ४, ६, १२, १४, १५, १८ और १६ सूर की नेत्र-विहीनता पर प्रकाश डालते है, परन्तु उनसे यह निश्चित रूप से अभिव्यंजित नही होता कि सूर जन्म से ही अन्धे थे। उद्धरण संख्या ४, १४ और १५ से कुछ ऐसी ध्वनि निकलती है कि सूर विषय-विलास की विषमता एवं माया के मिथ्या मोह के कारण अंधे हुए। पर ये कथन उनके प्राक्तन जन्मों की परिस्थिति के सूचक भी माने जा सक्ते हैं, जिससे वे इस जीवन मे जन्मांध उत्पन्न हुए हो और जैसा हम पीछे सिद्ध कर चुके हैं, सिकन्दर लोदी के साथ युद्ध करते हुए अपने भाइयों के वीर गति प्राप्त करने के समय तथा आचार्य वल्लभ से मिलने के पहले ही वे निश्चित रूप से अंधे थे। बाह्य साक्षियाँ उन्हें जन्म से ही अंधा बताती हैं।

उद्धरण-संख्या ११ मे सूर ने अपने पूर्व जीवन को अविद्या अर्थात् माया से अभिभूत माना है और उससे मुक्त होने के लिये भगवान से प्रार्थना की है।

उद्धरण संख्या ८ मे सूर अपने को कवि कहते हैं। क्या इससे वे अपने वंश की कुछ अभिव्यक्ति कर रहे हैं?

इन अन्तः साक्षियों से सूर के लौकिक जीवन की कतिपय बातें ज्ञात हो जाती हैं। बाह्य साक्षियों में महाराज रघुराजसिंह ने भी राम रसिकावली में सूर के गृहस्थ जीवन पर थोड़ा सा प्रकाश डाला है, फिर लिखा है:—

> ह्वै विरक्त संसार तें, दिव्य दृष्टि हरि ध्यान।
> सूरदास करते रहे, निसि-दिन विदित जहान॥

अर्थात् सूर दिव्य-दृष्टि द्वारा भगवान का ध्यान करते हुए संसार से विरक्त हो गए। यही बात पूर्वोल्लिखित अन्तः साक्षियों से भी विदित होती है। वार्ता साहित्य उन्हें जन्म से ही विरक्त मानता है (ऊपर उद्धृत पदों में व्यंजित भावों के आधार पर कहा जा सकता है कि ४०-४५ वर्ष की आयु तक कलह-कवलित गृहस्थ का उपभोग करके विरागशील सूर ने सांसारिक ऐषणाओं पर लात मार दी। अपने भाइयों के युद्ध में मारे जाने से सूर का वैराग्य और भी दृढ़ हुआ होगा। उनके स्त्री-पुत्र भी मर चुके थे) अतः "पुत्रैषणा मया त्यक्ता, वित्तैषणा मया त्यक्ता, लोकैषणा मया त्यक्ता" कह कर वे संन्यासी बन गये। वैष्णव धर्म उन दिनों उत्तराखण्ड में फैल चुका था। मानवों के मानस-मयूर घनश्याम की उन उमड़ती हुई घटाओं को देख कर मत्त हो नवल नृत्य करने लगे थे। सूर का रस-पिपासु भावुक हृदय शैव पंथ का परित्याग करके भगवद्भक्ति की ओर आकर्षित

हो गया और प्रभु-प्रेम से परिप्लावित हो अपने सरस संगीत से वैष्णव भक्तों को मुग्ध करने लगा।* पर अभी, अभी थोड़ी सी कमी थी। सूर की आयु पर्याप्त हो चुकी थी। सूर सारावली के अनुसार वे ६७ वर्ष के हो चुके थे—फिर भी

---

* नाभादास ने भक्तमाल छप्पय सं० ३४ में एक सूरज भक्त को रामानन्दी सम्प्रदाय के प्रख्यात सन्त कृष्णदास पयहारी के शिष्यों में परिगणित किया है। यदि यही सूरज आगे चलकर अष्टछापी सूरदास बने, तो कम से कम उनकी प्रथम संन्यास दीक्षा की समस्या का समाधान अवश्य हो जाता है। (रामानन्दी सम्प्रदाय में शैव सम्प्रदाय की हठयोग सम्बन्धी क्रियाओं का भी विशेष रूप से प्रचार रहा है। सूर ने सारावली के हरि-दर्शन वाले पद बंद में इन क्रियाओं अथवा विधानों की ओर संकेत किया है। रामानन्दी तपसी शाखा हठयोग के लिए प्रसिद्ध है) कृष्णदास पयहारी भी अच्छे हठयोगी थे। गोस्वामी तुलसीदास जी भी रामानन्द की शिष्य परम्परा में कहे जाते हैं। उन्होंने तो शिव को गुरुरूप में ही स्वीकार किया है। किम्वदन्ती है कि रामभक्त श्री हनुमान जी ने भी शिव जी से ही योग विद्या सीखी थी। इस सूरज को एक पृथक भक्त मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भक्तमाल में कुछ भक्तों के नामों तथा चरितों का उल्लेख दो-दो तीन-तीन बार हुआ है। जैसे कृष्णदास पयहारी का चरित्र छप्पय संख्या ३३ और १८० में है। नाम तो ३२, ३३, ३४, १११ आदि कई छन्दों में है। गयेस भक्त का उल्लेख छप्पय ३२ और ६४ में है। रामदास का नाम भी कई छन्दों में है जिनमें ३२ और ७८ के रामदास एक ही प्रतीत होते हैं। उन्हीं रामदास के शिष्य खेम का उल्लेख छप्पय सं० ७८, ६३, और ६५ में है। दोनों ही रामानन्दी हैं। ४८ के रामदास प्रियादास के अनुसार डाकोर के निवासी और १६१ के रामदास बछवन के निवासी हैं। छप्पय ३२ के श्रीरंग और नरहरि छप्पय ६५ में भी है। कल्याण भक्त छप्पय ३४, १७१ और १८४ के एक ही हैं। गुरु परम्परा भी परिवर्तित होती रही है। छप्पय ३४ में पद्मनाभ कृष्णदास के शिष्य हैं, पर छप्पय ६३ में वे कबीर के भी शिष्य कहे गये हैं। अल्ह का नाम छप्पय ३०, ४६ और १३४ में है (चौरासी वार्ता और भक्तमाल को पढ़ कर हमें तो ऐसा जान पड़ा कि पद्मनाभ, नारायण, त्रिपुर आदि कई रामानन्दी भक्त सूर की ही भाँति बाद में आचार्य वल्लभ के सम्प्रदाय में सम्मिलित हो गये थे। त्रिपुरदास का वर्णन तो प्रियादास ने किया भी है। प्रियादास चैतन्य सम्प्रदाय और मनोहरदास के शिष्य हैं, पर भक्तमाल की टीका में रामानन्दी नाभा दास जी को भी वे अपने गुरु रूप में स्वीकार करते हैं।)

जीवन में शाँति नहीं, तृप्ति नहीं, भक्ति करते हुए भी सुगति-प्राप्ति नहीं, प्रभु के दर्शन नहीं। प्रभु के दर्शन! आह सूर की बन्द आँखें आज खुलकर उस लीलामय के दर्शन करने को लालायित हो रही है। अपनी इस कमी को बुरी तरह अनुभव* कर रही हैं! दर्शन होने ही चाहिए। वह देखो, भक्त की भावना भगवान तक पहुँची। उसने आचार्य वल्लभ जैसे सिद्ध पुरुष को सूर के पास भेज ही तो दिया। आज महाप्रभु भक्त सूर की कुटी के पास पहुँचे हैं। विद्युत आकर्षण दोनों हृदयों को समीप ले आया है। आचार्य ने कहा—सूर, अब कैसा घिघियाना? कहते हैं, गुरु-शब्द कान में पड़ते ही सूर की आँखें खुल गई—प्रकाश हो गया। भगवद्लीला के दर्शन कर वे धन्य धन्य हो गये। आज का प्रकृतिवादी कहेगा—यह चमत्कार है। अभ्यासी सन्त कहेंगे, यह सच्ची सिद्धि है, वास्तविक अनुभूति है।

बाह्य साक्षियाँ

(१) भक्तमाल—यह ग्रंथ प्रसिद्ध भक्त नाभादास जी का लिखा हुआ है। नाभादास जी सूरदास जी के समकालीन हैं। अतः सूरदास जी के सम्बन्ध में उनका कथन निश्चित रूप से अधिक महत्व का है, परन्तु खेद है उनके भक्तमाल से सूरदास के जीवन पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता। नाभादास जी ने इस ग्रंथ में केवल एक छप्पय लिखा है, जो नीचे उद्धृत किया जाता है:—

उक्ति,चोज, अनुप्रास, बरन अस्थिति अति भारी।
वचन प्रीति-निर्वाह, अर्थ अद्भुत, तुकधारी॥
प्रतिबिम्बित दिवि दृष्टि, हृदय हरिलीला भासी।
जन्म, कर्म, गुन, रूप सबै रसना जु प्रकासी॥
विमल बुद्धि गुनि और की, जो वह गुनि स्रवननि धरै।
श्री सूर कवित सुनि कौन कवि, जो नहि सिर चालन करै॥

छप्पय संख्या ६८

व्रजवास ने सूर को हरिदासी तथा हरिवंशी सम्प्रदायों से भी प्रभावित किया होगा जैसा कि पद संख्या १७६८ से प्रकट होता है। संवत १५८१ में ये आचार्य वल्लभ के पुष्टिमार्ग में सम्मिलित हुए और सम्वत् १६०७ में गोस्वामी विट्ठलनाथ ने इन्हें अष्टछाप में मूर्धन्य स्थान दिया। उपर्युक्त अनुमान की पुष्टि भक्तमाल के छप्पय संख्या ६३ से होती है जिसमें सूरज को कुम्भनदास के साथ रखा गया है, जो निश्चित रूप से पुष्टिमार्गी थे।

*देखो पीछे अंत- साक्षियों में उद्धरण संख्या १० (सूरसागर, १-७७ ना० प्र० स० १३६)

इस छप्पय से प्रकट होता है कि सूरदास जी की दिव्य दृष्टि में भगवान की लीला प्रतिविम्बित हो भासने लगी थी। इससे यह सूचित होता है कि वे अंधे थे। उन्होंने भगवान की लीला का गायन किया। उनके पद उक्ति-चमत्कार, वचन-विदग्धता, वर्णमैत्री, अनुप्रास आदि अलंकार और अर्थ-गाम्भीर्य से भरे पड़े हैं। प्रेम का निर्वाह अर्थात् शृंगार रस उनकी रचना का मुख्य विषय है। उनकी कविता में वह शक्ति है जो मनुष्यों के मन को मतवाला कर दे।*)

(२) भविष्यपुराण—पुराण महाभारत आदि भारतवर्ष के विश्वकोष हैं, जो पौराणिक सूतों द्वारा निर्मित हुए। जैसे आजकल विश्वकोषों (Encyclopedia) का निर्माण होता है और उन्हें समय के साथ (up-to-date) रखने के लिये उनके प्रत्येक नवीन संस्करण में नवीन बातों का समावेश होता रहता है, उसी प्रकार आर्य जाति के विश्वकोष पुराणों का हाल है। जैसे (Encyclopedia Britannica) के प्रथम तथा नवीनतम दोनों संस्करणों में सहस्रों पृष्ठों का अन्तर है, उसी प्रकार महाभारत तथा पुराणों के प्राचीन एवं अर्वाचीन रूपों में महान् अन्तर है। भविष्यपुराण का प्रथम संस्करण सम्भवतः ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी में तैयार हुआ था। यह समय विक्रम संवत् के प्रवर्तक उज्जयिनी के महाराज विक्रमादित्य का समय था, जिनकी सभा के नवरत्नों में वेताल की भी गणना की जाती है। अन्य पुराण सौति उग्रश्रवा द्वारा कहे गये हैं, परन्तु भविष्य पुराण का प्रमुख वक्ता वेताल है। इस पुराण का नाम भविष्य सम्भवतः भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं के समावेश करने के उद्देश्य से ही रक्खा गया हो। इसी हेतु कलकत्ता तथा बम्बई दोनों स्थानों से प्रकाशित भविष्य पुराण में अंग्रेजों के भारत में आगमन काल तक की घटनाओं का उल्लेख पाया जाता है। मुगल कालीन घटनायें उन्हीं दिनों सम्मिलित कर दी गई होंगी।

इस भविष्य पुराण में तुलसी, केशव आदि कवियों के साथ महात्मा सूरदास का भी नाम आता है। श्लोक इस प्रकार हैः—

सूरदास इति ज्ञेयः कृष्णलीला करः कविः।
शम्भुर्वैचन्द्रभट्टस्य कुले जातो हरि प्रियः॥

'भविष्य पुराण, प्रतिसर्गपर्व, तीसरा भाग अध्याय २२, श्लोक ३०, चतुर्थ खण्ड।

---

*छप्पय की अन्तिम पंक्ति पर तानसेन के नीचे लिखे दोहे का प्रभाव पड़ा हैः—

किधौं सूर को सर लग्यौ, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यौ, तन मन धुनत सरीर॥

इस श्लोक मे सूरदास के सम्बन्ध मे लगभग सभी प्रसिद्ध बातें आ गई हैं। सूरदास चन्द्र भट्ट के कुल मे उत्पन्न हुए थे। वे प्रथम 'शम्भु' अर्थात् शैव-धर्मावलम्बी थे,* बाद मे हरिप्रिय† अर्थात् भगवद्भक्त बने। अंतः साक्षियों मे सर्व प्रथम उद्धृत सूरसारावलीका पद सं० १००२ भविष्यपुराणकी बाह्य साक्षी का समर्थनकरता है। चन्द्रवरदाई के वंश में उत्पन्न होने की सत्यता साहित्य-लहरी के ११८वें पद से प्रमाणित होती है। इसके साथ ही भविष्य पुराण सूरदास को कृष्ण लीला का गायक कहता है, जो भक्तमाल आदि सभी ग्रंथों द्वारा अनुमोदित और संसार में प्रसिद्ध है। सूर का समस्त काव्य भगवान की लीला से ही मुख्यतः सम्बन्धित है।

---

*भविष्य पुराण के अनुसार वे मुकुन्द ब्रह्मचारी के शिष्य शम्भु के अवतार थे। शम्भु का अर्थ है कल्याणकारी, परन्तु अपनी प्राचीन साहित्यिक समास शैली में ध्वनि से इसका अर्थ शैव धर्मावलम्बी भी हो सकता है। वाराणसी के निवासी 'महादेव' सम्बोधन द्वारा काशी नरेश को अब तक पुकारते रहे हैं। श्लोक में सूर के साथ शम्भु शब्द है, परन्तु आश्चर्य है; इसी का पर्यायवाची 'कल्याण' शब्द हरिवंशी सम्प्रदाय के अनुयायी ध्रुवदास के निम्नांकित दोहे मे महात्मा सूरदास के साथ संयुक्त है:—

सेयौ नीकी भाँति सौ श्री संकेत स्थान।
रह्यौ बड़ाई छाड़ि कैं, सूरज द्विज कल्यान॥

(भक्त नामावली दोहा ८२)

साहित्य लहरी सूरदास को सूरज और ब्राह्मण कहती ही है। दोहे का 'श्री संकेत स्थान' विशेष रूप से हरिवंशी सम्प्रदाय वालों का मान्य स्थान है, पर सूरदास ने सूरसागर, पद संख्या १७६८ (ना० प्र० स०) मे हरिदासी तथा हरिवंशी सम्प्रदाय वालों के साथ रहने की लालसा प्रकट की है। अतः यह असम्भव नहीं है कि वे 'श्री सकेत स्थान मे भी कुछ दिन जाकर रहे हों। दोहे का 'कल्यान' शब्द सूर का विशेषण है, कोई पृथक नाम नही है, क्योंकि दोहे में प्रयुक्त किया 'रह्यो' एक वचन है।

†वैष्णव वार्ता मणिमाला के अन्तर्गत सूर की वार्ता श्लोक १३ मे मठेश श्री नाथदेव ने सूरदास को भगवत्प्रिय और भाषा प्रबंधकारों में अग्रणी लिखा है।

(भक्तमाल के छप्पय संख्या ४१ मे विल्वमंगल सूरदास और छप्पय संख्या १२१ से मदनमोहन सूरदास का वर्णन किया गया है* । भविष्य पुराण मे भी इन दोनों सूरदासों के नाम आते है, पर दोनो ग्रंथो मे सूरसागर के रचयिता सूरदास को इन दोनों सूरदासो से भिन्न माना गया है । मदनमोहन सूरदास नर्तक तथा पौर्वात्य शूरध्वज ब्राह्मण थे ।† हमारी सम्मति मे 'आइने अकबरी' मे वर्णित बाबा रामदास के बेटा और अकबरी दरबार के गायक सूरदास भी यही रहे होंगे । अकबर ने बाद मे इन्हे सन्डीले का अमीन बना दिया होगा, जिसे छोड़ कर ये चैतन्य सम्प्रदायी भक्त बने और विरक्त होकर वृन्दावन वास करने लगे । नाभादास जी ने अपने भक्तमाल मे इनकी कविता की बड़ी प्रशसा की है । विल्वमंगल सूरदास कृष्णावेना के निवासी थे और बनारस मे रहा करते थे । इन्हीं के सम्बन्ध में चिंतामणि नाम की वेश्या द्वारा सुई से आँखें फोड़े जाने की कथा प्रचलित हुई है।भविष्य पुराण के अनुसार ये दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे तथा नायिका भेद मे निपुण वेश्या-पारग और अकबर बादशाह के सखा थे ।‡)

---

*—ये छप्पय इस प्रकार है:—

कर्णामृत सुकवित्त जुक्ति अनुच्छिष्ट उचारी ।
रसिक जनन जीवन जु हृदय हारावलि धारी ।।
हरि पकरायौ हाथ बहुरि तहँ लियो छुटाई ।
कहा भयो कर छुटें बदौ जौ हिय तें जाई ।।
चिंतामनि संग पाय के व्रज वधू केलि वरनी अनूप ।
कृष्ण कृपा का पर प्रगट विल्व मँगल मगल स्वरूप ।।४१।। (भक्तमाल)

× × ×

गान काव्य गु राशि सुहृद सहचरि अवतरी ।
राधाकृष्ण उपास्य रहसि सुख के अधिकारी ।।
नवरस मुख्य सिंगार विविधि भाँतिनि करि गायौ ।
वदन उच्चरित वेर 'सहस पायनि ह्वै धायौ ।।
अँगीकार की अवधि यह ज्यों आख्या भ्राता जमल ।
(श्री) मदन मोहन सूरदास की नाम शृंखला जुरि अटल ।।१२१ ।
(भक्त माल)

†—मदनो ब्राह्मणो जातः पौर्वात्य' सच नर्तकः । चंदलो (जमलो) नाम विख्यातो रह· क्रीडा विशारदः ।। २६ ।

‡—सूरश्चैव द्विजो जातो दक्षिणश्चैव पण्डितः । २४
विल्वमंगल एवापि नाम्ना तन्नृपतेः सखा । नायिका भेद निपुणो वेश्यानां स च पारग· ।।२५।।

(३) चौरासी वैष्णवों की वार्ता—यह ग्रन्थ गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के पुत्र गोस्वामी गोकुलनाथ जी का लिखा हुआ कहा जाता है। इसमें चौरासी वैष्णव भक्तों के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली वैष्णवभक्ति-परिचायिका कथायें दी हुई हैं। सूरदास के सम्बन्ध मे इस ग्रन्थ से नीचे लिखी बातें ज्ञात होती हैः—

(क) सूरदास गऊघाट के ऊपर रहते थे। यह गऊघाट आगरा और मथुरा के बीचोबीच है।

(ख) आचार्य वल्लभ से भेंट करने के पूर्व सूरदास संन्यासी हो चुके थे और इनके अनेक शिष्य इनकी सेवा मे रहा करते थे।

(ग) आचार्य-भेंट से पूर्व सूरदास भगवदीय अर्थात् वैष्णव भक्त भी बन चुके थे।

(घ) सूरदास गाना बहुत अच्छा गाते थे।

(ङ) एक समय सूरदास को अपने सेवकों द्वारा समाचार मिला कि दक्षिण में दिग्विजय करने वाले, भक्तिमार्ग के प्रतिष्ठाता महाप्रभु वल्लभाचार्य गऊघाट पर आये हैं। सूरदास ने एक सेवक से कहा कि जब आचार्य जी भोजन करके विराजमान हों तब खबर करना, हम आचार्य जी का दर्शन करेंगे। जब महाप्रभु भोजनोपरान्त गद्दी पर बैठे, सेवक ने सूरदास जी को जाकर बतलाया और उन्होंने आकर आचार्य जी के दर्शन किये। आचार्य जी ने सूरदास से भगवद् यश वर्णन करने के लिए कहा। सूर ने उन्हें कुछ विनय के पद सुनाये। पद सुन कर आचार्य जी ने कहाः—"सूर होकर ऐसा क्यों विघियाता है। कुछ भगवद् लीला का वर्णन कर।" सूरदास इसके पश्चात् स्नान करके आचार्य जी की सेवा में दीक्षा प्राप्त करने के लिए उपस्थित हुए। महाप्रभु ने उन्हें नाम सुनाया, समर्पण करवाया और दशमस्कन्ध की अनुक्रमणिका सुनाई। इससे सूरदास के सब दोष दूर हो गए और उन्हें सम्पूर्ण लीला स्फुरित हो गई। सिद्ध पुरुष वल्लभाचार्य से इस प्रकार हरिलीला के दर्शन पाकर सूर ने अपने समस्त शिष्यों को आचार्य जी की सेवा मे उपस्थित किया और सब को दीक्षा दिलवाई। आचार्य जी गऊघाट पर तीन दिन रहे, फिर सूरदास जी को साथ लेकर ब्रज को चले आये।

(च) चौरासी वैष्णवों की वार्ता में सूरदास के सम्बन्ध में छह वार्तायें दी हुई हैं। वार्ता प्रसंग दो से पता चलता है कि सूरदास से मिलने के पहले ही आचार्य गोवर्धन पर श्रीनाथ मन्दिर की प्रतिष्ठा कर चुके थे। यह मंदिर संवत् १५७६ में बना था। आचार्य जी जब सूर को साथ लेकर गोकुल पहुँचे तो मन

में विचार किया कि श्रीनाथ मन्दिर में भगवान की सेवा में सम्बन्धित अन्य भी सब प्रबन्ध हो चुका है, केवल कीर्तन का प्रबन्ध अवशिष्ट है। यह कार्य सूरदास को सौंपना चाहिए। सूर ने सहर्ष इस उत्तरदायित्व को स्वीकार कर लिया।

इससे प्रकट है कि सूर से आचार्य जी की भेंट संवत् १५७६ के पश्चात् ही हुई। सूर की आयु इस समय तक ६७ के लगभग हो चुकी थी। उनके भगवद्भक्ति सम्बन्धी सुरीले संगीत की ध्वनि व्रज के कोने कोने में ही नहीं, भारत के सुदूर-देशों तक फैल चुकी थी। आचार्य वल्लभ भी उससे आकर्षित हुए। भगवान के ऐसे अनुपम भक्त को भला वे कैसे छोड़ सकते थे? यह कहने की आवश्यकता नहीं कि वल्लभ के पुष्टिमार्ग के पोषण में सूर का प्रतिदान कितना अधिक है। सूर की मृत्यु के समय गोस्वामी विट्ठलनाथ ने सूरदास को पुष्टिमार्ग के जहाज की उपमा दी थी। स्वयम् आचार्य वल्लभ सूरदास को भक्ति का सागर कहा करते थे।

(छ) सूरदास ने सहस्रावधि पद बनाये हैं। भक्ति के सागर सूरदास की रचनाओं को इसी हेतु "सूरसागर" कहा जाता है। विनय के पदों को छोड़ कर कृष्ण लीला से सम्बन्धित पद सूर ने वल्लभ से दीक्षित होने के उपरान्त ही बनाये।

(ज) सूर के उन चतुर्दिक् प्रख्याति-प्राप्त पदों को सुन कर अकबर ने सूरदास जी से भेंट की और अपनी प्रशंसा में कुछ पद गाने के लिए कहा। सूर ने अकबर को "मना रे तू करि माधव सों प्रीति" और "नाहिन रह्यो मन में ठौर" दो भगवद्भक्ति विषयक पद गाकर सुनाये। चौरासी वार्ता में इन्हीं दो पदों का उल्लेख किया गया है। यही प्रामाणिक भी है। कुछ विद्वानों ने "सीकरी में कहा भगत को काम', शीर्षक पद का भी इस स्थल पर सूर द्वारा गाया जाना लिखा है। यह भ्रमात्मक है। यह पद कुम्भनदास ने अकबर से भेंट करने के समय कहा था।

(झ) सूर अन्धे थे। इस विषय के दो स्थल वार्ता में आये हैं, जिनका उल्लेख पीछे हो चुका है।

(ञ) श्रीनाथ मन्दिर में तो सूरदास कीर्तन की व्यवस्था करते ही थे, कभी कभी गोकुल में श्री नवनीत प्रिय जी के दर्शन को भी चले जाते थे।

(ट) श्रीनाथ जी की बहुत दिन तक सेवा करके, मृत्यु समय निकट जान सूरदास जी परासौली* चले गये और वहीं गोस्वामी विट्ठलनाथ जी की विद्यमानता में उन्होंने परमधाम को प्रयाण किया।

---

*परासौली गोवर्धन पर्वत की तलहटी में जमुनावत ग्राम के पास थी। परासौली के चन्द्रसरोवर के ऊपर जमुनावत निवासी श्री कुम्भनदास की जमीन थी, जहाँ वे खेती किया करते थे। अष्टछाप के चतुर्भुजदास इन्हीं कुम्भनदास के लड़के थे।

मृत्यु से कुछ पूर्व सूरदास जी से चतुर्भुजदास ने पूछा कि आपने भगवान के यश का तो बहुत वर्णन किया है, पर आचार्य जी के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा। यह सुन कर सूरदास ने उत्तर दिया कि मैंने आचार्य जी और भगवान में कभी भेद ही नहीं समझा। फिर सूर ने नीचे लिखा पद सुनाया:—

भरोसौ दृढ़ इन चरनन केरौ।
श्री वल्लभ नखचन्द छटा बिनु सब जग माँझ अँधेरौ।
साधन और नहीं या कलि में जासों होत निबेरौ।
सूर कहा कहै द्विविध आँधरौ बिना मोल कौ चेरौ॥

इसके पश्चात् गोस्वामी विट्ठलनाथ ने पूछा, 'सूरदास! तुम्हारे नेत्र की वृत्ति कहाँ है?' इसके उत्तर में सूरदास ने नीचे लिखा पद कहा:—

खजन नैन रूप रस माते।
अतिसै चारु चपल अनियारे पल पिंजरा न समाते।
चलि चलि जात निकट श्रवनन के उलटि पलटि ताटंक फँदाते।
सूरदास अंजन गुन अटके नतरु अबहि उड़ि जाते॥३२८५ (ना० प्र० स०)

(४) राम रसिकावली—यह ग्रन्थ महाराज रघुराज सिंह का बनाया हुआ है। इसमें सूर को उद्धव का अवतार माना गया है और लिखा है कि सूर ने सवा लक्ष पदों का निर्माण किया। इस ग्रन्थ के अनुसार सूर जन्म से ही अंधे थे। जब वे गृहस्थ आश्रम में थे, इनकी पत्नी ने इनके दिव्य नेत्रों की परीक्षा लेने की इच्छा से कहा:—'प्रिय, ग्राम की समस्त स्त्रियाँ मुझसे कहती हैं कि जब तेरा पति चक्षुहीन है तो तू किसको दिखाने के लिए शृंगार करती है?" सूर ने कहा, अच्छा, 'आज भली भाँति शृंगार करके अनेक स्त्रियों के साथ आना। हम बता देंगे, तुम्हारे कौन से शृंगार का आभूषण बिगड़ा हुआ है।' ऐसा ही हुआ और सूर ने अपनी दिव्य दृष्टि से भाल पर लगी हुई बिन्दी को बता दिया। सूर के सम्बन्ध में इसी प्रकार की प्रशंसात्मक पंक्तियाँ इस ग्रंथ में लिखी गई हैं। कुछ पंक्तियाँ देखिये:—

छायौ तेज पुहुमि में रघुराज रूरे हरिजन जीव सूर सूर उदै होत सूर के।
× × × ×
भनै रघुराज और कविन अनूठी उक्ति मोहिं लागी जूँठी जानि जूँठी सूरदास की।
× × × ×
भाषै रघुराज राधामाधव को रास रस कौन प्रगटावतो जो सूर नहिं आवतो॥
× × × ×
भनै रघुराज सोई ऊधौ अवनी में आइ रसिक सिरोमनि सो सूर कहवायो है॥

नीचे लिखे छन्द में रघुराज सिंह ने दिल्ली में बादशाह (अकबर) से सूर की भेंट का उल्लेख किया है:—"साह सुन्यो स्रुरन सों, बेगि ही बुलायो डिल्ली

पूछ्यो कौन हो तूँ, सूर कह्यो पूछो चेटी माँ । साह कह्यो जानों कैसे, सूर कह्यौ जंघ तिल, साह पुछवायो सो तुरत एक चेटी माँ।"........इत्यादि।

(५) भक्तविनोद—यह ग्रंथ कवि मियासिंह का लिखा हुआ है। इसमें लिखा है कि वृन्दावन के केलिकुञ्जों के दर्शनों का अभिलाषी एक यादव भगवान से वरदान पाकर मथुरा प्रांत में एक ब्राह्मण के घर उत्पन्न हुआ। वह जन्म ही से नेत्रों की ज्योति से शून्य था। आठ वर्ष की आयु में इनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। यह बालक सूरदास के नाम से नगर भर में प्रसिद्ध हो गया। एक बार बालक को लेकर माता-पिता ने वृन्दावन की यात्रा की। माता-पिता तो लौट आये, परन्तु बालक सूरदास कृष्ण को ही अपना आश्रय और सर्वस्व समझ कर साधुओं के संसर्ग से भगवद्भक्ति का विकास करता हुआ वृन्दावन में रहने लगा। अन्धे होने के कारण एक दिन कुएँ में गिर पड़ा। परम कारुणिक भगवान ने हाथ पकड़ कर सूरदास को कूप में से निकाला। हाथ छुड़ा कर जब भगवान चलने लगे तो सूरदास ने कहा:—

कहा भयौ कर ते छुटे, करनधार भवसिंधु।
मनतें छूटन कठिन जन, भक्त कुमुद उर इन्दु॥
अवतो बल करि तोरि कर चले निबल कर मोहि।
पै मनतें छूटौ न जब, तब देखो प्रभु तोहिं*॥

सूरदास के ऐसे व्यङ्ग वचनों को सुन कर भगवान ने अपने हाथों के स्पर्श से उसके दोनों नेत्र खोल दिये। दिव्य दृष्टि पाकर सूर ने भगवान के दिव्य रूप के दर्शन किये और कहा—प्रभो! आपके दर्शन पाकर मैं आज कृतार्थ हो गया। अब ऐसी कृपा करो कि ये संसार की कामनायें नष्ट हो जायें, आपकी बलवती

---

* इसीसे मिलता जुलता यह दोहा भी प्रसिद्ध है:—

बाँह छुड़ाये जात हो, निबल जानिकै मोहि।
हिरदे तैं जब जाइहौ, मरद बदौंगो तोहिं।

विल्वमंगल सूरदास कृत कृष्णकर्णामृत में इसी आशय का यह श्लोक मिलता है:—

हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलाद् बन्धो किमद्भुतम्।
हृदयाद् यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥

(भक्ति सुधास्वाद तिलक पृष्ठ ३७४)

इसी के आधार पर नाभादास ने विल्वमंगल के सम्बन्ध में भक्तमाल छप्पय संख्या ४१ में लिखा है:—

हरि पकरायो हाथ बहुरि तहं लियौ छुटाई।
कहा भयौ कर छुटैं बदौं जौ हिय तैं जाई॥

माया अब मुझे अपनी ओर आकर्षित न करे, मैं सर्वदा आपही का स्मरण करता रहूँ। जिन नेत्रों से आपके दर्शन किये हैं, उनसे अब सांसारिक प्रपंच को देखने की इच्छा नहीं है। अतः जो आँखें आपने दी हैं, उन्हें फिर पूर्ववत् बन्द कर दो।" भगवान ने सूर को वरदान दिया—"ऐसा ही होगा।"

सूरदास कृष्णलीला के पद बना कर गाने लगे। उनकी अनन्य भक्ति की ख्याति से दिल्लीश्वर भी प्रभावित हुआ। बादशाह ने सूरदास को दरबार से बुलाया और आने पर उनका उठ कर प्रणामादि से सत्कार किया। बिदा होने पर बादशाह ने सूरदास को बहुत द्रव्य देना चाहा, पर सूर ने स्वीकार नहीं किया। अन्त में लिखा है कि सूर ने विमल भक्ति से भरे हुए अगणित पदों से कृष्ण की लीला का गायन किया। ये पद क्या है, मानों भवसागर मे मग्न व्यक्तियों को पार करने के लिए पावन पुल हैं।

(६) भारतेन्दु का लेख—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने वेङ्कटेश्वर प्रेस बम्बई से मुद्रित सूरसागर की भूमिका में सूर के जीवन पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। इस सूरसागर के प्रारम्भ में सूरसारावली भी जोड़ दी गई है। इस भूमिका में भारतेन्दु जी ने लिखा है कि यद्यपि सूरदास को हम पहले सारस्वत समझते थे, परन्तु अब साहित्य-लहरी के ११८वें पद को देखकर हमारा विचार बदल गया। फिर साहित्य लहरी के उक्त पद का सारांश देकर लिखते हैं:—"इस लेख से और लेख अशुद्ध मालूम होते हैं। जो हो, हमारी भाषा-कविता के राजाधिराज सूरदास जी एक इतने बड़े वंश के (अर्थात् चन्द्रभट्ट के वंश में उत्पन्न) हैं, यह जान कर हम लोगों को बड़ा आनन्द हुआ।"

भारतेन्दु ने अपनी लिखी चरितावली और सूरशतक पूर्वार्द्ध की भूमिका में भी सूरदास को चन्दबरदायी के वंश मे उत्पन्न माना है। सूर के जीवन पर सर्वप्रथम ऊहापोह इस युग में भारतेन्दु जी ने ही प्रारम्भ की। भक्तमाल और चौरासी वैष्णवों की वार्ता का नाम लेकर इस युग के कुछ विद्वानों ने उन्हें बिना देखे ही सूर को सारस्वत लिख दिया है, पर इन ग्रंथों में सूर के वंश के सम्बन्ध में एक भी शब्द नहीं है।* स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिंदी साहित्य के इतिहास के संशोधित एवं नवीन संस्करण मे जातीय कल्पना को स्थान ही नहीं

---

* गोस्वामी हरिराय कृत चौरासी वार्ता की भावाख्य विवृति में सूरदास को सारस्वत लिखा गया है, पर इस भावाख्य विवृति में आई हुई बातें साहित्य-लहरी के वंश-परिचायक पद में आई हुई बातों से समता ही अधिक रखती हैं, विरोध किञ्चित् भी नहीं।

दिया ।* डा० सूर्यकान्त शास्त्री एम० ए०, डी० लिट० ने अपने हिंदी साहित्य के विवेचनात्मक इतिहास में, डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने स्वरचित सूरदास जीवन सामग्री में, पं० केशवप्रसाद मिश्र ने 'पद्य-पारिजात' में, बा० राधाकृष्णदास ने ग्रन्थावली के सूर सम्बन्धी लेख में तथा पं० द्वारकाप्रसाद जी मिश्र ने सूर-सम्बन्धी अपने लेखों में सूर को ब्रह्मभट्ट ब्राह्मण स्वीकार किया है।

(७) सर जार्ज ग्रियर्सन ने इम्पीरियल गजट में और सर चार्ल्स जेम्स लायल के० सी० एस० आई० ने एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में साहित्यलहरी के पद को स्वीकार करते हुए सूरदास को चन्दबरदायी के वंश में उत्पन्न हुआ माना है।

(८) प्राच्य विद्या-महार्णव श्री नगेन्द्रनाथ वसु के बंगला विश्वकोष के और उसके आधार पर निर्मित हिन्दी विश्वकोष के चतुर्विंश भाग में लिखा है;—"ब्रह्मभट्ट सदा से ब्राह्मण कहलाते आये हैं। अतः सूरदास ब्रह्मभट्ट वंश में उत्पन्न हुए हैं। इसमें जरा भी सन्देह नहीं रह सकता।"

(९) महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री और मुंशी देवीप्रसाद ने सूरदास के जीवन-चरित्र में साहित्यलहरी वाले पद की प्रामाणिकता स्वीकार की है।

(१०) अखबार एड्केशनल गजट मुमालिक मुतहद्दा आगरा व अवध के १५ जनवरी सन् १६११ के अंक में तथा कल्याण के योगांक में भी सूरदास को चन्दबरदायी का वंशज कहा गया है।

(११) साहित्य वाचस्पति रायबहादुर डा० श्यामसुन्दरदास हिंदी भाषा और साहित्य में सारस्वत और ब्रह्मभट्ट दोनों पक्षों को मान्य समझते हैं। हिंदी-शब्द सागर में भी यही बात लिखी हुई है। ब्रह्मभट्ट सरस्वती पुत्र कहलाते हैं। अतः सारस्वत पक्ष के साथ उनका कोई विरोध नहीं है। बाणभट्ट ने हर्षचरित के प्रथम उच्छ्वास में अपने वंश का सम्बन्ध सरस्वती के साथ स्थापित किया है।

स्वर्गीय डा० भण्डारकर ने भी सारस्वत ब्राह्मणों की उत्पत्ति सरस्वतीपुत्र और सरस्वती तटवर्ती दोनों प्रकारों से मानी है।

(१२) नवरत्न के संवत् १६८८ वाले संस्करण में उसके लेखकों ने एक नवीन खोज की है, जो प्रथम संस्करणों में नहीं थी। इस संस्करण के पृष्ठ २२६

* शुक्ल जी ने साहित्यलहरी के पद का उल्लेख किया है, पर उसे प्रामाणिक नहीं माना। पद पर उन्होंने गम्भीरता से विचार नहीं किया है। वे ऐसा करना आवश्यक भी नहीं समझते थे। तुलसी को छोड़कर उन्होंने किसी कवि की जीवनी पर अधिक विचार नहीं किया। तुलसी की जीवनी को भी उन्होंने बाद में अपने ग्रंथ से निकाल दिया।

पर लिखा है:—"विनोद में चौरासी की कई टीकाओं का कथन है, जिनमें अनेक बातें कथित होंगी, पर वे सब अप्रकाशित हैं और सब हमारे देखने में नहीं आई हैं।" फिर दो ही पंक्तियों के पश्चात् लिखा है:—"हरिराय गोस्वामी विट्ठलनाथ के समकालीन थे। उनकी चौरासी वैष्णवों की वार्ता की टीका में सूरदास सारस्वत ब्राह्मण लिखे हुए हैं।" नवरत्न की ये पंक्तियाँ कितनी असावधानी से लिखी गई हैं यह इसी बात से प्रकट हो जाता है कि चौरासी वैष्णवों की वार्ता बनी गोकुलनाथ के समय में या उनके भी बाद, क्योंकि यह उनके किसी शिष्य की लिखी कही जाती है और नवरत्न के लेखकों की दृष्टि में उसकी टीका बनी गोकुलनाथ के पिता, विट्ठलनाथ के समय में। टीका पहले बन जाती है, मूलग्रन्थ उसके पश्चात् अस्तित्व में आता है। इस असम्बद्ध कथन के अतिरिक्त टीकाओं को न देख कर प्रमाण रूप में उनके उल्लेख द्वारा उक्ति में जो परस्पर विरोध आ जाता है उसकी ओर भी लेखकों की दृष्टि नहीं गई है। इसके पश्चात् चौरासी वार्ता के रामदास नामक वैष्णव भक्तों के नाम गिनाये हैं, जिनका हमारे सूरदास के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यदि होता, तो चौरासी वार्ताकार इस ओर अवश्य संकेत कर देता।

(१३) श्रीराधाकृष्ण दास ने (राधाकृष्ण ग्रन्थावली, पृष्ठ ४४६-४४७ पर) सूरदास का समय निश्चित करते हुए लिखा है:—"आइने अकबरी से यह सिद्ध है कि अकबर के समय में सूरदास जी थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य के सेवक होने की बात स्वयं सूरदास जी ने अपनी कविता में लिखी है। गोस्वामी विट्ठलनाथ के समय में इनका वर्तमान रहना भी इनकी कविता से सिद्ध है। श्री वल्लभाचार्य जी का जन्म मिती वैसाख कृष्ण ११ संवत् १५३५ और अन्तर्धान मि० आषाढ़ शुक्ल ३ संवत् १५८७ और गो० विट्ठलनाथ जी का जन्म मिती पौष कृष्ण ६ संवत् १५७२ और अन्तर्धान मिती माघ कृष्ण ७ संवत् १६४२ को हुआ।* अतएव संवत् १५३५ से लेकर संवत् १६४२ तक १०७ वर्ष के भीतर ही सूरदास का जन्म और मरणकाल निश्चय है।" चौरासी वार्ता के अनुसार सूरदास की मृत्यु गोस्वामी विट्ठलनाथ के सामने अर्थात् संवत् १६४२ के पूर्व ही हुई थी।

---

*पुष्टिमार्गीय सांप्रदायिक ग्रन्थों में इन तिथियों के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। सम्प्रदाय कल्पद्रुम के अनुसार गो० विट्ठलनाथ की मृत्यु सं० १६४४ की फाल्गुण शुक्ल एकादशी को हुई। अन्य विद्वान सं० १६४२ की फाल्गुण शुक्ल सप्तमी को इस विषय में मान्यता देते हैं। आचार्य वल्लभ की जन्म-तिथि पर भी ऐकमत्य नहीं है। कुछ विद्वान उनका जन्म सं० १५३५ और कुछ १५२९ वि० मानते हैं। गो० गोकुलनाथ जी के अनन्य भक्त श्री कल्याण भट्ट ने अपने कल्लोल नामक ग्रन्थ में अन्तिम संवत् को स्वीकार किया है।

फिर पृष्ठ ४४६ पर लिखा है:—'सूरदास के पदों की बड़ी संख्या ही उनकी दीर्घायु बतलाती है। . उनकी निज रचित कविता से भी सिद्ध होता है कि तीसरी अवस्था तक वे इधर-उधर ही घूमते रहे:—

"विनती करत मरतहौं लाज।
नख-सिखलौं मेरी यह देही है पाप की जहाज॥
और पतित आवत न आँखितर देखत अपना साज।
तीनों पन भरि ओर निबाह्यौ तऊ न आयौ बाज॥" ६६

हमें भी सूरसागर में ऐसे कई पद मिले हैं, जिनमें सूर अपनी दीर्घायु तक ही व्याकुलता का वर्णन करते हैं, जैसे—"मेरी तौ पति गति तुम अंतहि दुख पाऊँ। हौ कहाइ तिहारौ अब कौन को कहाऊँ। १-१०५, (१६६) तथा—'तीनों पन ऐसे ही बीते, केस भए सिर श्वेत" ॥ १-१७५, (२६६)। इसी भाव को लेकर राधाकृष्ण दास जी पृष्ठ ४५२ पर लिखते हैं:—"वृद्धावस्था तक शांति के साथ सूरदास जी जमकर व्रज में नहीं रह सके थे। यद्यपि श्री वल्लभाचार्य के शिष्य हो चुके थे। लाखों पद भक्ति-रस के बना चुके थे, परन्तु नियमपूर्वक व्रज-वास नहीं करते थे।" राधाकृष्णदास जी की यह बात तो हमें भी सत्य प्रतीत होती है कि सूरदास दीर्घायु तक अशांत रहे। पर यह सत्य नहीं है कि वल्लभाचार्य के शिष्य होने के बाद भी उनको वैसी ही अवस्था रही। चौरासी वार्ता से सिद्ध होता है कि महाप्रभु से भेंट होने के उपरांत सूरदास को श्रीनाथ मन्दिर में कीर्तन का कार्य सौंपा गया और वे बराबर अपने मृत्युकाल तक वहीं बने रहे। बीच में कभी-कभी नवनीत प्रिय जी के दर्शनार्थ गोकुल अवश्य हो आते थे। सूरसारावली के पद, संख्या १००२ से भी प्रकट होता है कि सूरदास ६७ वर्ष की दीर्घआयु तक शैवादि संप्रदायों मे भटकते रहे थे। वे विरक्त अवस्था में वैष्णव हो गये थे, जैसा इस पंक्ति से निश्चित होता है:—"सूरदास प्रभु तुम्हारी भक्ति लगि तजी जाति अपनी" वैष्णव संप्रदाय मे ही जाति-पाँति का अधिक विचार नहीं रहता। अतः ६७ वर्ष की आयु तक वे अशांत ही रहे। परन्तु ६७ वर्ष की आयु में जब आचार्य वल्लभ से भेंट हुई तो उन्हें राधाकृष्ण की शाश्वत लीला के दर्शन हुए। इस दर्शन के पश्चात् सूर की समस्त व्याकुलता नष्ट हो गई, उनका कायाकल्प हो गया। सूर ने अपने इसी नवीन रूप में राधाकृष्ण लीला का गायन किया। इसके पूर्व वे विनय के पद बना कर गाया करते थे, जिसमें अंतर्वेदना, विराग, व्याकुलता, निवेदन तथा अशांति के चित्र अंकित रहते थे। महाप्रभु से भेंट होने के उपरांत सूर का यह घिघियाना बंद हो गया; अशांति जाती रही, उल्लास और कर्तृत्व की अद्भुतछटा का उनके पदों में प्रदर्शन होने लगा। काव्य-धारा अबाध-

गति से प्रवाहित होने लगी।) तभी तो ६७ वर्ष की दीर्घ आयु के पश्चात् राधाकृष्ण लीला के सहस्रावधि पदों का वे निर्माण कर सके।

सूर के कवित्व के सम्बन्ध में राधाकृष्णदास जी ग्रंथावली के पृष्ठ ४७५ पर लिखते हैं:— 'सूरदास जी के आशु कवित्व का परिचय 'वार्ता में मिलता है। उनकी कविता धारावाही चलता थी। जब श्री वल्लभाचार्य जी ने इनको आज्ञा दी कि भगवल्लीला कहो, तो इन्होंने 'ब्रज भयो महरि के पूत जब यह बात सुनी'—यह पद आरम्भ किया। कहते कहते ऐसे प्रेमोन्मत्त हो गये कि कविता-धारा बन्द ही न होती थी। यह पद वल्लभ संप्रदाय के मंदिरों में भगवान के जन्म-समय, वेद की ऋचाओं की भाँति, अवश्य ही गाया जाता है।''

ऊपर हमने लिखा है कि सूर को हरिलीला के दर्शन ६७ वर्ष की आयु में हुए। सूरसारावली में सूर ने स्वयं लिखा है कि ये दर्शन उन्हें महाप्रभु वल्लभाचार्य की कृपा से प्राप्त हुए। चौरासी वार्ता के अनुसार आचार्य वल्लभ से सूर की भेंट श्रीनाथ मन्दिर की स्थापना के पश्चात् हुई। श्रीनाथ मन्दिर की स्थापना संवत् १५७६ में हुई थी और आचार्य जी की मृत्यु का समय संवत् १५८७ है। अतः इन दोनों संवतों के बीच ही उनकी सूर से भेंट हो सकती है। गणना से सरस अर्थात् मन्मथ संवत् १५८१ में पड़ता है।† सूर सारावली में सरस संवत् का वर्णन है, जैसा उसकी अंतिम पद की इस पंक्ति से प्रकट होता है:—"सरस‡ संवत् सर लीला गावे, युगल चरण चित लावै॥" सम्भव है, इसी वर्ष वल्लभ सूर से मिले हों अथवा आचार्य-भेंट, इसके पूर्व ही हो गई हो और ब्राह्म सम्बन्ध होने के पश्चात् कुछ दिन साधना करने के उपरांत इन्हें संवत् १५८१ में हरिलीला के दर्शन हुए हों। इस दर्शन के समय इनकी ६७ वर्ष की आयु थी। अतः १५८१ में से ६७ निकाल देने से इनका जन्म-संवत् १५१५ के समीप जान पड़ता है।

---

†श्री हरिराय जी कृत 'सूरदास की वार्ता' में पृष्ठ १७ पर लिखा है:— "तापाछै श्री आचार्य जी ने सूरदास कूं पुरुषोत्तम सहस्रनाम सुनायौ। यह ग्रन्थ इसी पृष्ठ के नीचे सम्पादक श्री प्रभुदयाल मीतल की दी हुई टिप्पणी के अनुसार सं० १५८० के लगभग निर्मित हुआ था। इस आधार पर भी सूर और आचार्य वल्लभ की भेंट तथा हरिलीला-दर्शन वाली उक्ति का समय सं० १५८१ ही जान पड़ता है।

‡स्व० पं० सुधाकर द्विवेदी ने सरस को खरस (षरस) मान कर, रस = ६ और ख = ० अर्थात् ६० अर्थ लगाया था। संवत् भी ६० ही होते हैं। वा० राधाकृष्णदास जी ने सरस को लीला का विशेषण माना है।

श्री गोवर्धननाथ जी की प्रागट्य वार्ता के अनुसार* महाप्रभु ने संवत् १५७६ में श्री नाथ मन्दिर के निर्माण के पश्चात् कुंभनदास को कीर्तन की सेवा सौंपी थी। (पर चौरासी वैष्णवों की वार्ता, पृष्ठ २६२, वार्ता प्रसंग दो में लिखा है:— "महाप्रभु जी अपने मन में विचारे जो श्रीनाथ जी के इहाँ और तो सब सेवा को मडान भयो है, पर कीर्तन को मडान नाहीं कियो है। तातें अब सूरदास जी को दीजिये।" इससे प्रतीत होता है कि महाप्रभु की दृष्टि में कीर्तन कार्य के लिये कुम्भनदास इतने अधिक उपयुक्त न रहे होंगे जितने सूरदास।) इसी हेतु सम्भवतः संवत् १५८१ में उन्होंने सूरदास को कीर्तन का अध्यक्ष बनाया होगा। सूरसारावली के हरिदर्शन वाले पद भी इसी संवत् में लिखे गये होंगे।

चौरासी वैष्णवों की वार्ता, पृष्ठ ३००, ३२७ और ३४२ को पढ़ने से ज्ञात होता है कि सूरदास, परमानन्ददास और कुम्भनदास तीनों ही श्रीनाथ मन्दिर में कीर्तन का कार्य करते थे। सूरदास भगवान के शृङ्गार करने के समय, परमानन्ददास मंगला के दर्शन तथा भोग के समय और कुम्भनदास प्रातः शृङ्गार के पश्चात् दर्शकों के आने के समय कीर्तन करते थे। कीर्तन-कार्य वाद्यादि की सुरताल के साथ मणिकोठा में होता था। कुम्भनदास की वार्ता प्रसंग एक (चौरासी वार्ता, पृष्ठ ३३२) से पता चलता है कि कुम्भनदास तभी से कीर्तन कार्य करते थे जब से श्रीनाथ जी की स्थापना गोवर्धन के ऊपर एक छोटे मंदिर में हुई थी।)

(१४) कृष्णगढ़ के महाराज नागरीदास ने अपने "पद प्रसंगमाला" ग्रंथ में सूरदास के सम्बन्ध में लिखा है:—"दोऊ नेत्र करि हीन एक व्रजवासी कौ लरिका व्रज में सूरदास सों होरी के भडौआ बनावै, द्वै तुकिया। ताके वास्ते श्री गुसाईं जू सों जाइ लोगनि ने कही। ता पर श्री गुसाईं जू वा लरिका को बुलाइ वाके भडौआ सुने, हँसे, श्रीमुख तें कह्यौ जु लरिका तू भगवत् जस बखान।"

(*श्री गोवर्धननाथ जी के प्रागट्य की वार्ता में लिखा है कि जब सं० १५७६ में पूर्णमल खत्री ने श्रीनाथ मन्दिर बनवा कर पूरा कर दिया तब इस सं० की वैसाख वदी अक्षय तृतीया को वल्लभाचार्य ने इस मन्दिर में श्रीनाथ जी की स्थापना की। उस समय माधवेन्द्र पुरी बंगाली को मुखिया, कृष्णदास को अधिकारी और कुंभनदास को कीर्तन की सेवा सौंपी गई। गोस्वामी विट्ठलनाथ के समय में बंगालियों के स्थान पर गुजराती ब्राह्मण श्रीनाथ जी की सेवा में नियुक्त किये गये। बंगालियों के निकालने का अत्यन्त रोचक वर्णन चौरासी वार्ता के अंत में कृष्णदास अधिकारी की वार्ता में दिया हुआ है। औरंगजेब के अत्याचारों से तंग आकर सं० १७२८ में श्रीनाथ जी मेवाड़ पहुँचाये गये। गोवर्धन वाले श्री नाथ मन्दिर के स्थान पर औरंगजेब ने मस्जिद बनवा दी।)

(डा० धीरेन्द्र वर्मा—विचारधारा, पृष्ठ ११०)

श्री भागवत के अनुसार प्रथम जनम की ही लीला गाय* ।" सूरसारावली भी दो तुक अर्थात् कड़ियों का एक वृत्त होली का गाना है। सम्भव है, इसी आधार पर नागरीदास जी ने सूरदास के सम्बन्ध मे ऐसा लिख दिया हो।

बाबा वेनीमाधवदास ने तुलसीचरित में लिखा है:—

सोलह सौ सोलह लगे कामदगिरि ढिग वास।
शुचि एकांत प्रदेश महँ आये सूर सुदास॥
पठये गोकुल नाथ जू कृष्ण रंग मे बोरि।
कवि सूर दिखायहु सागर को।
शुचि प्रेम कथा नटनागर को॥ इत्यादि

इससे प्रकट होता है कि तुलसी और सूर की भेंट संवत् १६१६ मे कामदगिरि के निकट हुई। इसी संवत् मे गोस्वामी गोकुलनाथ तो नही, पर गोकुल के नाथ गोस्वामी विट्ठलनाथ जगन्नाथपुरी गये थे। सम्भव है, उनके साथ सूरदास भी गये हों और बीच में उन्होंने तुलसी से भेंट की हो। बा० राधाकृष्णदास ने सूर-तुलसी भेंट का स्थान काशी माना है। काशी का वर्णन सूरसागर की निम्नलिखित पंक्तियो मे है:—

बड़ी वारानसी मुक्ति क्षेत्र है चलि तोकों दिखराऊँ।
सूरदास साधुन की संगति बड़ौ भाग्य जो पाऊँ॥ पृष्ठ २९

कुछ विद्वान् तुलसी चरित्र की प्रामाणिकता मे संदेह प्रकट करते हैं, पर तुलसी और सूर की भेंट होना असम्भव नहीं है। कम से कम इस भेंट के आधार पर सूर संवत् १६१६ तक अवश्य जीवित थे और सूरसागर को भी समाप्त कर चुके थे। विरक्त सन्त श्री द्वारकादास जी परीख सं० १६२६ में तुलसीदास और सूरदास की भेंट का गोकुल मे होना सिद्ध करते हैं†। साहित्य-लहरी का प्रणयन अथवा सम्पादन-काल हमने उस ग्रन्थ की अन्तः साक्षी के आधार पर संवत् १६२७ माना है। अतः सूर इस सम्वत् तक भी अवश्यमेव जीवित थे। कुछ विद्वानों ने सूर की निधन-तिथि संवत् १६२० मानी है, वह इस अन्तः साक्षी तथा घटनाचक्र पर दृष्टिपात करने से अशुद्ध प्रतीत होती है। सूरदास का गोलोकवास गोस्वामी विट्ठलनाथ की विद्यमानता मे हुआ था पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र के मतानुसार‡ गोस्वामी विट्ठलनाथ संवत् १६१६ से १६२१ तक काशी के बाहर यात्रा में रहे। सम्वत् २६२० की अक्षय तृतीया के दिन जबलपुर ग्राम के पास रानीदुर्गावती की राजधानी गढ़ा में उन्होंने कृष्णराम भट्ट की पुत्री पद्मावती के

*राधाकृष्णदास ग्रन्थावली पृष्ठ ४६८।
†ब्रज भारती, फाल्गुन, २००२, नन्ददास सम्बन्धी लेख।
‡देखो सूर सौरभ प्रथम संस्करण पृष्ठ २३–२५।

साथ विवाह किया। गढा से प्रयाग होते हुए सम्वत् १६२२ की भाद्रकृष्ण तृतीया को वे मथुरा पहुँचे और संवत् १६२३ मे फिर गुजरात की यात्रा को चल दिए। अतः संवत् १६२० में उनके सामने सूर की मृत्यु व्रज के अन्तर्गत परासोली में कैसे हो सकती है? दूसरी बात इसी सम्बन्ध में अकबर से भेंट करने की है। (अकबर सम्वत् १६१३ मे गद्दी पर बैठा, परन्तु उसकी बाल्यावस्था के कारण बैरामखाँ ने राज्यशासन सँभाला। संवत् १६१८ में राज्य की बागडोर अकबर ने अपने हाथ में ली। अतः इस संवत् तक उसकी सूर से भेंट होना असम्भव है! यह भी कहा जाता है कि तानसेन द्वारा सूर की प्रशंसा सुन कर अकबर ने सूर से मिलने की अभिलाषा प्रकट की। ऐतिहासिकों के मतानुसार तानसेन अकबर के दरबार में संवत् १६२१ मे आये। अतः संवत् १६२१ के पश्चात् ही यह भेंट हो सकती है। अतएव यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सूरदास संवत् १६२० के पश्चात् कई वर्षों तक जीवित रहे।)

(१६) गोस्वामी हरिराय जी ने सूरदास की वार्ता प्रसंग ३ से अकबर और सूर की भेंट का स्थान मथुरा लिखा है। उनके लेखानुसार अकबर जब दिल्ली से आगरा लौट रहा था, तब उसने हलकारे भेज कर सूरदास का पता लगाया। हलकारो ने आकर निवेदन किया कि सूरदास जी तो मथुरा मे विराजमान हैं। अकबर ने मथुरा पहुँच कर सूरदास जी को बुलाया और उनके मुख से भक्तिभाव गर्भित पदों को सुनकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। अकबर ने इस अवसर पर सूरदास को बहुत कुछ द्रव्य, ग्राम आदि देना चाहा, परन्तु सूरदास ने कुछ भी ग्रहण नहीं किया। अकबर ने उन्हें बहुत आदर सम्मानपूर्वक विदा किया। पहले हमारा विचार था कि सम्वत् १६२६ से अकबर ने पुत्र-जन्म के उपलक्ष मे जब तीर्थ भ्रमण किया होगा, तब संतों के दर्शनार्थ वह मथुरा भी पहुँचा होगा और उसी समय उसने सूरदास से भेंट की होगी, पर इधर श्री प्रभुदयाल जी मीतल और संत प्रवर द्वारकादास जी परीख ने सम्प्रदाय की अतरंग घटनाओं के उद्घाटन द्वारा 'सूर निर्णय' मे यह सप्रमाण सिद्ध किया है कि संवत् १६२३ मे गोस्वामी विट्ठलनाथ जी की अनुपस्थिति में उनके ज्येष्ठ पुत्र गिरधर जी श्रीनाथ जी के स्वरूप को कुछ समय के लिये गोवर्धन से मथुरा ले गये थे और सूरदास भी उनके साथ मथुरा गये थे।* 'अष्ट सखान की वार्ता-

*सूरसागर के पद सं० ३७,१४, ३७१५ सम्भव है, उसी समय बने होंगे। इन पदों मे मथुरा को अखिल भुवन की शोभा, समस्त तीर्थों द्वारा सेवित, पुरा शिरोमणि, अगतिन की गति, हरिदर्शन की राजधानी आदि कहा गया है। मथुरा छोड़ कर अन्यत्र रहने से हानि, मथुरा वास से आवागमन का नाश, मथुरा की चक्र-सुदर्शन के ऊपर स्थिति आदि विषय भी वर्णित हुये हैं।

के अनुसार अकबर ने तानसेन द्वारा सूरदास के एक पद को सुनकर उनसे मिलने की इच्छा प्रकट की थी। सूरदास इस समय मथुरा में थे। यह जानकर अकबर ने वहीं पर सूरदास से भेंट की। 'सूर निर्णय' के विद्वान लेखकों का मत हमें ग्राह्य प्रतीत होता है।

(१७) रामरसिकावली मे महाराज रघुराजसिंह ने दिल्ली मे अकबर और सूर की भेंट होने का वृत्तांत लिखा है। अबुलफजल के पत्र के आधार पर राधाकृष्णदास ने प्रयाग† और कतिपय अन्य लेखकों ने फतेहपुर सीकरी को भेंट का स्थान माना है। दिल्ली के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। चौरासी वार्ता के अनुसार फतेहपुर सीकरी में अकबर ने सूरदास से नहीं, कुम्भनदास से भेंट की थी। वार्ता में लिखा है कि इस अवसर पर कुम्भनदास ने अकबर को नीचे लिखा पद सुनाया था :—

भक्तन कौं कहा सीकरी काम।
आवत जात पनहियाँ टूटीं, बिसरि गयौ हरि नाम॥
जाकौ मुख देखें दुख लागै ताको करन परी परनाम।
कुम्भनदास लाल गिरधर विनु यह सब झूँठौ धाम॥‡

चौरासी वार्ता का यह कथन हमे अनुपयुक्त जान पड़ता है। कुम्भनदास जैसा भक्त एक प्रतापशाली सम्राट के आगे इस प्रकार के अशिष्टता सम्वलित पद का गान नहीं कर सकता। भक्त-माहात्म्य की अतिरंजना में ऐसा वर्णन चौरासी वार्ताकार की लेखनी द्वारा हो गया है। स्वर्गीय डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने अपने ग्रंथ 'सूरदास—जीवन सामग्री' के पृष्ठ ४०-४१ पर इस पद को कुम्भनदास द्वारा सूर अकबर भेंट के उपरान्त सूर पर फबती कसे जाने के रूप में कहा गया माना है।

प्रयागवाली भेंट के सम्बन्ध में हम यही कह सकते हैं कि वह किसी अन्य सूरदास से सम्बन्ध रखती है, परन्तु यह भेंट हुई या नही—इस बात को अबुलफजल ने कहीं पर भी नही लिखा। इस भेंट का आधार मुन्शियाते अबुलफजल में अंकित वह पत्र है, जिसे अकबर की आज्ञानुसार अबुलफजल ने बनारस में स्थित सूरदास को भेजा था। मुंशी देवीप्रसाद ने सूरदास के जीवन चरित्र में इस बात की कल्पना की है कि जब अकबर संवत् १६६१ के लगभग प्रयाग जाने वाले थे,

---

†प्रयाग का वर्णन सूर के नीचे लिखे पद में पाया जाता है:—
जय जय जय जय माधववेनी।
जग हित प्रकट करी करुणामय अगतिन को गति देनी॥६॥ पृष्ठ ७०॥
ना० प्र० स० ४५५

‡चौरासी वैष्णवों की वार्ता, पृष्ठ ३३७।

उस समय उन्होंने यह पत्र सूरदास को लिखवाया होगा। परन्तु माता की अस्वस्थता आदि के कारण अकबर उस समय प्रयाग न जा सके और परिणामतः सूरदास से भेंट न हो सकी। यदि यह भेंट हुई होती तो अबुलफजल इसे अवश्य अकबरनामे मे लिखता। उनका यह भी अनुमान है कि बनारस के सूरदास कोई दूसरे सूरदास थे। बाबू राधाकृष्णदास जी ने मुंशी देवीप्रसाद की इन दोनों बातों को अस्वीकार किया है। उनकी सम्मति मे बनारस और ब्रज वाले दोनों सूरदास एक ही हैं और सूरदास की अकबर से भेंट सम्वत् १६६१ मे न होकर सम्वत् १६४० में प्रयाग में हुई, जब अकबर प्रथम बार किला तथा बांध को बनवाने वहाँ पहुँचा। किन्तु हमे संवत् १६४० की भेंट वाली बात अप्रामाणिक एवं निराधार जान पड़ती है। इस संवत् के समीप यदि सूरदास जीवित भी थे तो वे इस योग्य तो कदापि नहीं हो सकते कि ब्रज से काशी तक की यात्रा कर सकें और वहाँ से प्रयाग स्थान पर अकबर से भेंट करने के लिए चल पड़ें। पत्र में जो करोड़ी की शिकायत करने की बात लिखी है, वह भी भक्त सूरदास की मर्यादा के विरुद्ध है। एक भगवद्भक्त अपने जीवन के अन्तिम समय में किसी की क्या शिकायत करेगा? सम्भवतः यह पत्र उन सूरदास को लिखा गया है जिनका नाम बिल्व मंगल है और जो चिंतामणि वेश्या से आँखें फुड़वा कर सूरदास नाम से काशीवास करने लगे थे। भविष्य पुराण में प्रसिद्ध कवि सूरदास के साथ इनका नाम भी आया है। बाबू अक्षयकुमारदत्त ने "भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय" नाम की पुस्तक में काशी से एक कोस उत्तर शिवपुर ग्राम मे इनकी समाधि बनी हुई बतलाई है। एक सूरदास मदनमोहन भी थे, जो अकबर के बड़े प्रिय थे, अकबर ने इन्हें संडीले का अमीन बना दिया था। यह चैतन्य सम्प्रदायी थे और विरक्त होकर बाद में वृन्दावन में रहने लगे थे। राधाकृष्ण लीला सम्बन्धी इनकी रचना की भी भक्तमाल मे बड़ी प्रशंसा लिखी है। भविष्यपुराण इन्हें पौर्वात्य ब्राह्मण कहता है। लोक मे यह शूरध्वज नाम से भी प्रसिद्ध हैं। बनारस के आस पास शाकल द्वीपी शूरध्वज ब्राह्मण इस समय भी रहते हैं। सम्भव है अपनी जन्मभूमि का स्मरण करके यही काशी गये हों और अबुलफजल ने इन्हीं के नाम पत्र भेजा हो और उपर्युक्त समाधि भी इन्हीं की हो। अकबर इनका बहुत मान करता था। सूरसागर के रचयिता को न किसी की शिकायत करनी थी और न राधा-कृष्ण को छोड़कर किसी के आगे सहायता के लिए हाथ पसारना था। चौरासी वार्ता के अनुसार अकबर और सूर की भेंट अवश्य हुई थी, परन्तु वह मथुरा में ही हुई होगी, अन्य किसी स्थान पर नहीं।

(१८) आईने अकबरी और मुंतखिब-उल-तवारीख में सूरदास का नाम बाबा रामदास के साथ अकबर की सभा के कलावन्त गायकों में आया है और

सूरदास को बाबा रामदास का बेटा कहा गया है। संवत् १६१३ में अकबर के राज्यसिंहासनासीन होने के समय सूरदास पर्याप्त वृद्ध हो चुके थे। ऐसा विरक्त संत किसी बादशाह का दरबारी गायक भला कैसे बन सकता है। अतः आईने अकबरी और मुन्तखिब-उल्-तवारीख के गायक सूरदास भी हमारे सूरसागर के रचयिता से भिन्न समझ पड़ते हैं।* भविष्यपुराण भी बिल्वमंगल तथा मदन मोहन सूरदास को तो अकबरी दरबार से सम्बद्ध करता है, परन्तु चन्द बरदायी के वंशज सूरदास को उससे पृथक ही रखता है।

उपर्युक्त उद्धरणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि सूर संवत् १५१५ के लगभग उत्पन्न हुए और संवत् १६२८ के आसपास तक जीवित रहे। अकबर से उनकी भेंट जीवन के वार्द्धक्य काल में ही हुई होगी। संवत् १६२८ के पश्चात् उनके जीवित रहने का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

(१) ओरछा के प्रसिद्ध कवि व्यास जी ने† जो संवत् १६१२ में ४५ वर्ष की अवस्था में हरिवंश गोस्वामी जी के शिष्य होकर वृन्दावन में रहने लगे थे, अपने एक पद में लिखा है:—

विहारहि स्वामी (हरिदास) बिनु को गावै।
बिनु हरिवंसहि राधावल्लभ को रस रीति सुनावै॥
कृष्णदास बिनु गिरधर जू को को अब लाड़ लड़ावै।
मीराबाई बिनु को भक्तन पिता जानि उर लावै।
स्वारथ परमारथ जैमल बिनु को सक बंधु कहावै॥

---

* कृष्णदास पयहारी स्वामी अनन्तानन्द के शिष्य और स्वामी रामानन्द के पौत्र शिष्य थे। स्वामी रामानन्द का समय सं० १३५६ से १४६७ तक है। अतः कृष्णदास पयहारी का समय अधिक से अधिक १५६७ तक जा सकता है और यदि इन्ही के शिष्य सूरज साहित्यलहरी के सूरजदास हैं तो वे इस संवत् के पूर्व ही उनके शिष्य हो सकते हैं। कितनी आयु मे और १५६७ वि० से कितने वर्ष पूर्व वे पयहारी जी के शिष्य बने होंगे, इसको जानने का कोई भी साधन इस समय प्राप्त नही है। कम से कम उनके पिता तो १५६७ वि० में अवश्यमेव वृद्ध होंगे। फिर साहित्यलहरी के सूरजदास भगवद् भक्त हैं, विरागी हैं। प्रभु का आश्रय छोड़कर वे किसी लौकिक प्रभु, बादशाह की सेवा मे किस प्रयोजन से पहुँचेंगे, यह चिन्तनीय है। समय का अन्तर भी ध्यान में रखने योग्य है। ऐसी अवस्था में हम कृष्णदास पयहारी के शिष्य सूरज को भी अकबरी दरबार का गायक स्वीकार नहीं कर सकते।

†राधाकृष्णदास ग्रन्थावली पृष्ठ ४५३-५५

परमानन्ददास बिनु को अब लीला गाइ सुनावै ।
सूरदास बिनु पद रचना अब कौन कविहिं कहि आवै ॥
व्यासदास इन सब बिनु को अब तन की तपनि बुझावै ॥

इस पद से प्रकट होता है कि श्री व्यास जी ने यह पद इन महान पुरुषों की मृत्यु के पश्चात् बनाया। पद में मीराबाई और जयमल के स्वर्गप्रयाण की बात भी लिखी है। राधाकृष्णदास जी ने मीरा की मृत्यु संवत् १६०४ और जयमल की मृत्यु संवत् १६२४ में मानी है। इन्हीं के साथ कृष्णदास, परमानन्ददास और सूरदास की मृत्यु का भी उल्लेख किया है। ये तीनों संत आचार्य वल्लभ के शिष्य थे और गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के सामने ही गोलोकवासी हो चुके थे। अतः हमारी सम्मति में अधिक-से-अधिक संवत् १६३० तक इनकी जीवनचर्या जा सकती है। इस दृष्टि से भी संवत् १६२८ के आसपास ही सूर की निधन तिथि निश्चित होती है।

मानसिक अंश

पुष्टि मार्ग के उस 'जहाज', उस महान अवलम्बन एवम् प्रभावशाली ऐन्जिन के पार्थिव अंश की कुछ थोड़ी सी छानबीन हमने विगत पृष्ठों मे की है, परन्तु वह लोकोत्तर प्रतिभा जिसने आचार्य वल्लभ से दीक्षा पाकर निर्विशेष को सविशेष, असीम को ससीम और अनन्त को सान्त रूप से चित्रित करके जन-जन के समक्ष उपस्थित कर दिया, क्या इस भौतिक विश्लेषण द्वारा अभिव्यक्त की जा सकती है ? सूर का बुद्धि वैभव, मानसिक महत्व, आंतरिक ऐश्वर्य, उसकी बाह्यविभूति से कितना अधिक विस्तृत, गौरवशाली एवम् प्रभावोत्पादक है, इसको सूर के सामान्य पाठक कल्पना भी नही कर सकते। जिस महात्मा की मंगलमयी वाणी ने तत्कालीन भारत को प्रभावित ही नहीं, निर्मित भी किया था, जिस हृदय की महामहिम भाव-धारा तब से लेकर अब तक लोक-लोक-मानस को रससिञ्चित एवं आप्यायित करती रही है, जिस प्राण की पावन विद्युत अपनी लहरों के प्रबल वेग द्वारा आर्य-अन्तस्तल को पुलकित, आन्दोलित एवं गतिशील करती रही है—वह महाप्राण, विशाल हृदय, महान आत्मा किस चैतन्यालोक से जगमग हो रहा था ? उसकी स्फूर्ति, सजीवता, स्पर्शशीलता का सतत-प्रस्रावी स्रोत कहाँ पर है ? क्या हम उसके इस आन्तरिक अंश, मानसिक-निर्माण के उपादान एकत्रित कर सकते है ?

सूर के जीवन का यह मानसिक अंश सूरसागर मे वर्णित कृष्णलीला एवं उसमे अन्तर्हित विचार, सिद्धांत और भावनाओं का मुख्य आधार है। सूर जीवन के इस अंश का निर्माण एक व्यक्ति. एक शताब्दी और एक विशिष्ट वातावरण द्वारा नहीं हो सकता था। इसके पीछे भारतीय ऋषियों की युगों की चिंतन धारा लगी हुई है। आज हम कृष्ण के बालरूप की उपासना और अर्चना वाले पदों को पढ़कर विस्मित नहीं होते, क्योंकि वह कई शताब्दियों से हमारे हृदय की चिर परिचित वस्तु बनी हुई है—पर क्या इसका प्रचार एक दिन में ही हो गया था ? ईसा के पूर्व और पश्चात् की चार-पाँच शताब्दियों से पूछो, कितनी प्रसव पीड़ा के पश्चात् वे इस बालक को जन्म दे सकीं ! पिछली तीन सहस्राब्दियों पर दृष्टि डालो, जिन्होंने इस गर्भ की स्थापना और विकास में प्रमुख भाग लिया था और सूर के मानसिक अंश का निर्माण ? उसके लिए भी हमें उस सुदूर वैदिक

काल के शिखर तक जाना पड़ेगा, जहाँ से नाना भाव-धारायें निकल-निकल कर आर्य जाति की चिन्तन-प्रणालियों में प्रवाहित होती रही हैं।

आस्तिक आर्यों की विश्वासी बुद्धि के अनुसार वेद ब्रह्म की वाणी है। उसमें समस्त धर्मों के, कर्तव्यों के सूत्र संकलित हैं। ऋग्वेद ऋक् अर्थात् स्तुतिपरक है। आदि कालीन ब्राह्मण स्तोता थे, ऐसा हम कहीं पीछे लिख चुके हैं। ऋग्वेद ऐसी ही ऋचाओं अर्थात् स्तुतियों से भरा पड़ा है। इन स्तुतियों द्वारा अग्नि, वायु, द्यावा, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, अदिति, ऋत, सत्य, मेघ आदि के गुण दोषों का विवेचन हुआ और विश्व की नाना प्रकार की शक्तियों के सम्बन्ध में प्रचुर ज्ञानराशि संचित हो गई। ऋग्वेद को इसीलिये ज्ञानकाण्ड का वेद कहा जाता है। यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में ही श्रेष्ठतम कर्म करने का आदेश दिया गया है। यह वेद यजुस् अर्थात् कर्मकाण्ड का वेद है। सामवेद हृदय के रागात्मक अंश से सम्बन्ध रखता है। यह उपासना काण्ड का वेद है। अथर्ववेद पूर्वोक्त वेदत्रयी से समन्वित हो एक ओर ब्रह्म विद्या का प्रकाश करता है, तो दूसरी ओर लौकिक ज्ञान का भी भण्डार बना हुआ है। इसी हेतु इसे ब्रह्म वेद कहते हैं। देवर्षि पितामह ब्रह्मा ने इस ज्ञान, कर्म और उपासना की त्रिवेणी में स्नान कर मानवों के लिए ज्ञानार्जन को सुलभ बनाया। इस युग में तीनों काण्ड अपने समुज्ज्वल रूप में विकसित हुए। शतपथादि ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में याज्ञिक अनुष्ठानों की प्रधानता हो गई और कर्मकाण्ड का अनेक रूपों में विश्लेषण हुआ। ज्ञान और भक्ति पीछे पड़ गये। आरण्यक तथा उपनिषद् युग में इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। कर्मकाण्ड को दबाकर ज्ञानकांड आगे निकल गया। भक्ति यद्यपि उपेक्षित-सी हो गई थी, पर जनता का श्रद्धालु हृदय उसके साथ किसी न किसी रूप में चिपटा ही रहा। ज्ञान-प्रधान उपनिषदों के ऋषियों के कण्ठ से भी वह बीच-बीच में अनायास फूट पड़ती थी। श्वेताश्वतर उपनिषद् के अन्त में लिखा है:—

यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाश्यन्ते महात्मनः ॥ २३ ॥

इस श्लोक में प्रभु-भक्ति के साथ-साथ गुरुभक्ति पर भी बल दिया गया है। वैसे उपनिषदों में ज्ञान-प्राप्ति के लिये गुरु-सेवा का महत्व प्रतिपादित हुआ है, पर यहाँ भक्ति के लिए ही वह प्रतीत होता है। छान्दोग्य उपनिषद् में भी प्राणोपासना आदि के रूप में भक्ति का ही बीज निहित है। छान्दोग्य उपनिषद के प्रपाठक २,—खण्ड ११ में उपासना के हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतीहार और निधन ये पांच अङ्ग वर्णित हुए हैं, जिनमें नाद, स्तुति, कीर्तन, धारण और विलय—प्रभु में तन्मय हो जाना—की ओर क्रमशः संकेत किया गया है। लगभग यही नाम सामवेद में भी प्रयुक्त हुए हैं, जो उपासना काण्ड का मुख्य वेद कह-

लाता है। मुण्डक उपनिषद का यह श्लोक भी भक्ति-भावना को प्रगट कर रहा है ?—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मावृणुते तनूं स्वाम् ।।

तृतीय मुण्डक, द्वितीय खण्ड, श्लोक ३

अर्थात् प्रभु की प्राप्ति प्रवचन, मेधा तथा बहुत सुनने से नहीं होती। प्रभु जिस पर कृपा करते हैं, उसी को प्रभु की प्राप्ति होती है। श्रुति भगवती उच्च स्वर से घोषित कर रही है:—

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टम् देवेभिरुत मानुषेभिः ।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ।।

ऋ० १० से १२५-५ ।

[मैं स्वयं कहता यही हूँ, देव सेवन कर चुके हैं।
मुनि मनन-रत नर अनेकों साक्ष्य इसका भर चुके हैं।
मैं जिसे चाहूँ उसे निज तेज से उद्दीप्त कर दूँ।
ब्रह्मवर ऋषिवर बना दूँ मंजु मेधा शक्ति भर दूँ।]

'सोम' भक्तितरंगिणी

यही मंत्र आचार्य वल्लभ द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्गीय भक्ति का मूलाधार है। वेदों में भक्ति परक अनेक मन्त्र है। उदाहरण-स्वरूप हम यहाँ दो मन्त्र अपने अनुवाद सहित उद्धृत करते हैं:—

देवान् यन्नाथितोहुवे ब्रह्मचर्यं यदूषिम् ।
अक्षान् यद् बभ्रू नालभे ते नो मृडन्त्वीदृशे ।।

अथर्व० ७ । १०६ । ७ ।

नाथ! विकट सङ्कट की वेला ।
रिपुदल चारों ओर खड़ा है, देख मुझे असहाय, अकेला ।।
देवों का आह्वान करूँ मै, पर वे भी मुख मोड़ चले क्यों ?
ब्रह्मचर्य व्रत, तप, संयम सब मुझ विपन्न को छोड़ चले क्यों ?
इन्द्रिय-दमन, शमन-मन-तन का मैंने खेल व्यर्थ ही खेला;
नाथ ! विकट सङ्कट की वेला ।
मेरी इस दयनीय दशा पर दया-दृष्टि करुणाकर डालो,
मेरी बिगड़ी बात बनाकर कष्ट-कूप से नाथ ! निकालो ।
पलटें पुण्य-कर्म फिर मेरे, लगे विजय-श्री-सुख-का मेला ।।
नाथ ! विकट सङ्कट की वेला ।

न घा त्वद्रिगपवेति मे मनस्त्वे इत्कामं पुरुहूत शिश्रिय ।
राजेव दस्म निषदोऽधि बर्हिषि अस्मिन्त्सु सोमेऽवपानमस्तु ते ॥

अथर्व २० १७-२

आज मिला तट-घाट री, कूल-उछल संसृति-सरिता से ।
इन मादक चंचल लहरों ने, डाल रूप के जाल सलोने,
खींच लिया मुझको उर अन्तर, बन्द विवेक कपाट री ! आज०
अघ से अटका, भ्रम में भटका, फेन-फेन झटके पर झटका,
बिलख उठा, प्रभु करुणा जागी, गई पावन बाट री ! आज०
अब मन नहीं हटाये हटता, बारबार प्रभु ही प्रभु रटता,
अब न लुभाता मोहक गति से, सुन्दर सरिता पाट री ! आज०
न्यौछावर बाँकी झाँकी पर, जीवन का सर्वस्व निरन्तर,
आश्रित सकल मनोरथ मेरे, चंचल चित की चाट री ! आज०
हृदयासन पर देव विराजे, मनहर-मंगल बाजन बाजे,
सोमपान-उल्लास-हास के, शोभित सुखकर ठाट री ! आज०*

वेद की हृदय-पावनी यह भक्ति-धारा ब्राह्मण काल के याज्ञिक अनुष्ठानों तथा औपनिषदिक निवृत्ति और ज्ञानवाद के दुर्गम मरु में क्षीण-सी हो गई थी, पर साधारण जनता का हृदय सदैव उसके लिये उत्सुक बना रहा; और जैसा हम उपनिषदों के उद्धरण देकर सिद्ध कर चुके हैं, भक्ति ऋषियों के कण्ठ से बरबस निकल कर प्रकाश पाने के लिये छटपटाती रही। उपनिषद युग के पश्चात् इस भक्ति का द्वितीय उत्थान परिस्थितियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार, श्रीमद्-भगवद्गीता में दिखाई पड़ा।

गीता भीष्म पर्व के पूर्व महाभारत के अंग रूप में आती है। महाभारत में ब्राह्मण युग का याज्ञिक कर्मकाण्ड और उपनिषदों की निवृत्ति एवं ज्ञान की धारा स्पष्टरूप से अङ्कित है। एक का प्रतीक दुर्योधन है और दूसरी का अर्जुन। महाभारत में एक स्थान पर दुर्योधन कहता है कि मैंने शास्त्र-विधि के अनुकूल यज्ञों का अनुष्ठान किया है, ऋत्विज, होता, अध्वर्यु आदि का वरण करके पुष्कल धन द्रव्य-दान में दिया है; मैंने प्रजा को सन्तुष्ट करने के लिए वापी, कूप तड़ागादि का निर्माण कराया है; वेद-विधि से श्राद्ध, तर्पणादि किये हैं; अतः मैं अवश्य ही स्वर्ग जाऊँगा। दुर्योधन वास्तव में कर्मकाण्ड का धनी था। परन्तु ऊपर से किया हुआ कोरा कर्मकाण्ड भी तो अहम्मन्यता उत्पन्न करता है। यह अहम्मन्यता समस्त दोषों का मूल है। फिर एक पाखण्डी मनुष्य भी दिखावे के लिये कर्मकाण्ड कर सकता है। कर्मकाण्ड की इस दूषित प्रवृत्ति को गीता उपदेष्टा

*लेखक की लिखी हुई 'भक्ति तरंगिणी' से उद्धृत।

ने भलीभाँति हृदयंगम किया था। तभी तो वेद के नाम पर प्रचलित इस कर्मकांड की निंदा गीता में कई स्थानों पर पाई जाती है। नीचे के श्लोकों पर विचार कीजियेः—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः॥
कामात्मानः स्वर्गपराः जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रिया विशेष बहुलां भोगैश्वर्यगतिंप्रति॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥गीता अ० २, ४२-४४

हे अर्जुन! श्रुति-मधुर, जन्म-कर्मरूप फल देने वाले, भोग और ऐश्वर्य प्राप्ति के साधक कर्मों को बताने वाले ये वाक्य विचार-हीन पुरुषों द्वारा कहे जाते हैं। वेदोक्त काम्य कर्म को ही जो एकमात्र धर्म समझते हैं और कहते हैः— इनके सिवा और कुछ है ही नहीं," उनकी कामना नष्ट नहीं हुई है। वे स्वर्ग चाहते हैं, भोग तथा ऐश्वर्य चाहते हैं और इन्हीं में इनका जी लगता है। ऐसे पुरुषों की बुद्धि इतनी निश्चयात्मक नही होती कि वे ईश्वर मे चित्त की एकाग्रता कर सकें।

इसी प्रकार युद्ध के पूर्व अर्जुन के मुख से निकली हुई ज्ञान और निवृत्ति पथ की बातों का खण्डन गीता मे पाया जाता है। युद्धिष्ठिर भी कुछ-कुछ ऐसे ही निवृत्ति पथ का अनुगामी है। गीता के प्रथम अध्याय के ३२वें श्लोक में अर्जुन कहता हैः—

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविंद किं भोगैर्जीवितेन वा॥

हे कृष्ण, मैं जय नहीं चाहता, राज्य नहीं चाहता और सुख भी नहीं चाहता। हे गोविंद! राज्य लेकर हम क्या करेंगे? ऐसे सुख से क्या होगा? और इस दशा मे जीवित रहना भी किस काम का है? फिर द्वितीय अध्याय के पाँचवे श्लोक में अर्जुन कहता हैः—

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयोभोक्तुं भैक्ष्यमपीहलोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरुनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥

अर्थात् ऐसे महानुभाव गुरुजनों को मारने की अपेक्षा लोगों के बीच में भीख माँग कर खाना भी अच्छा है। यद्यपि दुर्योधन का अन्न खाने के कारण इनको लड़ने के लिए आना पड़ा है, तो भी ये हमारे गुरु ही हैं। इनको मारने से हमें इसी लोक में इनके रक्त मे सने सुख भोगने होंगे।

ऐसी निवृत्ति-परक और ज्ञान की बड़ी-बड़ी बातें सुन कर कृष्ण जी ने अर्जुन को बुरी तरह डाट कर कहाः—'अरे अर्जुन ! एक ओर तुम अशोचनीयों के लिये शोक भी प्रकट करते जाते हो और दूसरी ओर ज्ञान के बड़े लम्बे-चौड़े भाषण भी देते जाते हो । क्या पण्डितों का यही काम है ? इसके पश्चात् आत्मा का अमरत्व बताकर श्रीकृष्ण जी ने अर्जुन को किस प्रकार युद्ध में प्रवृत्त किया, इसे सभी जानते हैं ।

गीता ने वैदिक, हिंसा-पूर्ण, यज्ञपरक काम्य कर्म के स्थान पर अनासक्ति-पूर्ण-कर्तव्य-कर्म की स्थापना की, तथा निवृत्तिपरायण ज्ञानकाण्ड के स्थान पर प्रवृत्तिपरायण भगवद्भक्ति को स्थान दिया । साथ ही आत्मा के अमरत्व की इसने उच्च स्वर से घोषणा की ।

पर, कोई मार्ग सर्वथा बन्द नहीं हो जाता । गीता द्वारा अवरोध पाकर कुछ समय के पश्चात् वैदिक कर्मकाण्ड फिर बल पकड़ने लगा* । इतिहास का विद्यार्थी जानता है, किस प्रकार इस पशु हिंसा-पूर्ण यज्ञ कर्म के विरोध में बार्हस्पत्य (चार्वाक), लोकायत, जैन तथा बौद्ध धर्मों ने अपना अहिंसा-प्रधान धर्म चलाया । इतिहास की पुनरावृत्ति हुई । यज्ञ में हिंसा वेद के नाम पर होती थी, अतः इन सभी विरोधी धर्मों ने वेद को अप्रामाणिक माना । जैन धर्म ने अहिंसा और आचार की पवित्रता का प्रचार किया, साथ ही यह भी बताया कि जिन साधनों से सत्य की प्राप्ति मे सहायता मिलती है, वे केवल सत्य का स्वल्प रूप दिखा सकते हैं । सत्य के सम्पूर्ण स्वरूप की प्राप्ति अहिंसा तथा आचार की पवित्रता पर ही अवलम्बित है । जैन-धर्म में योग की साधना का भी महत्व माना गया है ।

बौद्ध धर्म समस्त दुःखों का मूल इच्छा को ही समझता है । इन इच्छाओं को नष्ट करना ही बौद्ध-धर्म का मूल मन्त्र है । जैन-धर्म आत्माओं के अस्तित्व को स्वीकार करता है, परन्तु बौद्ध-धर्म व्यक्तिगत आत्माओं मे विश्वास नहीं रखता । इस धर्म के अनुसार जीवात्मा का मानना अहमिति का मूल कारण है और अहमिति (अहंकार) कामनाओं को जन्म देती है, जो दुःख का मूल कारण है । अतः जीवात्मा मे विश्वास करना ही नही चाहिये । बौद्ध-धर्म में ज्ञान, आचार की शुद्धता तथा योग तीनों बातें मानी गई हैं और प्रव्रज्या एव त्याग पर अधिक बल दिया गया है ।†

---

*पूर्व मीमांसा इसी समय की लिखी जान पड़ती है ।

†यहाँ पाठक यह न समझें कि जैन और बौद्ध धर्म कोई नवीन पथ थे । कतिपय बातों को छोड़ कर ये धर्म उपनिषदों मे उपदिष्ट निवृत्तिपरायण साधनों के ही अपर रूप थे ।

परन्तु आत्मा को न मान कर सदाचार की बातें करना दार्शनिक दृष्टि से आधार-हीन था। प्रव्रज्या पर अधिक बल देने से वर्ण-सम्बन्धी कर्तव्य कर्मों पर भी पानी फिर गया। एक अद्‌भुत विश्रृंखलता, विरक्ति एवं उदासीनता इन धर्मों के कारण चारों ओर व्याप्त होगई जिसका सामाजिक दृष्टि से निराकरण करना परमावश्यक था।

जैन-धर्म के अनुयायियों ने ग्रीक प्रभाव में आकर अपने तीर्थङ्करों की नग्न मूर्तियाँ मन्दिरों में स्थापित कीं। उपासना का एक मार्ग निकाला। बौद्धों ने भी बाद में महात्मा बुद्ध की मूर्ति बना कर पूजा करना प्रारम्भ कर दिया। हृदय को थोड़ा-सा सहारा मिला। यहीं भक्ति का तृतीय उत्थान दिखाई देता है, जिसमें वैदिक धर्मावलम्बियों ने रामायण, महाभारत, गीता, पुराण आदि के नवीन संस्करण तैयार किये। एक ओर जैन-बौद्ध-अनुकरण पर चौबीस अवतारों की प्रतिष्ठा की गई, उनकी मूर्तियाँ बनाई गई—इस प्रकार साधारण जनता के हृदय की उठती हुई हूक को शांत एवं तृप्त किया गया और दूसरी ओर ग्रन्थों के नवीन संस्करणों में शम्बूक मुनि का वध, तुलाधार वैश्य तथा धर्म व्याध आदि की कथायें जोड़कर वर्णों के कर्तव्य कर्मों पर बल दिया गया। यह भी कहा गया कि प्रत्येक वर्ण का व्यक्ति अपने वर्ण के कर्तव्यों‡ का पालन करता हुआ ही सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। अपना कर्म-हीन होते हुए भी दूसरे के उत्तम कर्म से अधिक कल्याणकारी है।§ इस प्रकार प्रव्रज्या लेकर आनन्द प्राप्ति की धुन में जो वर्ण-धर्म पालन में विश्रृंखलता आ गई थी, वह दूर होगई।

(तृतीय उत्थान वाली भक्ति ने दुधारा खड्‌ग का काम किया। इसने जैन, बौद्धादि धर्मों की अहिंसा, परोपकार, करुणा, शील आदि लोक-कल्याणकारी भावनाओं को यज्ञ-प्रधान ब्राह्मण धर्म में सम्मिलित कर लिया। महाभारत के पृष्ठ के पृष्ठ इन भावनाओं की प्रतिष्ठा करने वाले उपाख्यानों से भरे दिखाई देते हैं। वसुउपरिचर का कथानक, युधिष्ठिर यज्ञ संवाद, सम्वर्त का यज्ञ कराना, ब्राह्मण का अपनी पत्नी को इन्द्रिय यज्ञ बतलाना तथा इसी प्रकार जलदान, अन्नदान, अतिथि सत्कार आदि का माहात्म्य—ऐसी सभी कथायें बौद्ध प्रभाव को सूचित करती है। यज्ञों की नवीन व्याख्या चल पड़ी।* यह तो ब्राह्मण धर्म का संस्कार हुआ। (अब बौद्ध धर्म के संस्कार अथवा उसकी त्रुटियों को दूर करने का वृत्तान्त सुनिये। बौद्धों की प्रव्रज्या से सामान्य जनता सुगति-प्राप्ति के आशा-पाश में

‡स्वे स्वे कर्मणि अभिरतः संसिद्धि लभते नरः। गीता १८-४५।

§ श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्व नुष्ठितात्। गीता १८-४७।

* द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे। गीता ४-२८।

अपानेजुह्वति प्राणं प्राणेपानं तथाऽपरे। गीता ४-२९।

बँध गई थी, परन्तु उसका परिणाम समाज के लिये अतीव भयंकर सिद्ध हुआ। भक्ति के इस तृतीय उत्थान में एक ओर तो सबको अपना-अपना काम करते हुये मोक्ष की आशा दिलाई गई और दूसरी ओर ऐकान्तिक उपासना को प्रव्रज्या के स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया गया। गीता कई स्थानों पर इस उपासना का, किसी विशेषता के बिना, सामान्य जनता के लिये आशा-स्रोत के रूप में उपदेश करती दिखाई देती है। यह भक्ति स्त्री, शूद्र तथा निम्न वर्गीय पुरुषों के लिए आश्वासन देने वाली सिद्ध हुई। गीता के इस सम्बन्ध के कुछ श्लोक देखिये—

अपिचेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितोहि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा, शश्वत् शान्तिं निगच्छति
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परांगतिम्॥

गीता अ० ६, श्लोक ३०-३१-३२।

अर्थात् दुराचारी मनुष्य भी यदि अनन्य रूप से भगवान का भजन करे तो उसे साधु ही समझना चाहिये। ऐसा भक्त तुरन्त धर्मात्मा बन जाता है। भगवान की इस भक्ति का आश्रय प्राप्त करके स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापी व्यक्ति भी परमगति को प्राप्त कर लेते है। जो बात यहाँ भक्ति के सम्बन्ध में कही गई है, वही बात बौद्ध लोग प्रव्रज्या के सम्बन्ध मे कहा करते थे।

गीता की इस शिक्षा ने बौद्ध-धर्म का संस्कार किया। विद्वानों ने जन-साधारण के लिये इस भक्ति को सुलभ बना कर बौद्ध-धर्म के अनीश्वरवाद पर कुठाराघात किया। गीता की यह भक्ति नीचे लिखे श्लोकों से भली भाँति अभिव्यञ्जित हो रही है—

मन्मनाभव, मद्भक्तो, मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः। गीता ६-३४
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः। गीता १८-६६
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ गीता ६-२२
तथा—न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति॥

इन श्लोकों से दुख-दग्ध आत्माओं को कितनी शान्ति और सन्तोष मिलता है! बौद्ध-धर्म की नीरस शिक्षा के स्थान पर इस सरस भक्ति को अपनाने

के लिये सभी व्यक्ति दौड़ पड़े। यही नहीं, जो बौद्ध धर्म के अनुयायी कहे जाते हैं, वे भी इससे प्रभावित हुए। कनिष्क जैसा सम्राट एक ओर अपने को बौद्ध कहता है, तो दूसरी ओर अपने को भागवत धर्म का अनुयायी कहने में भी गौरव का अनुभव करता है।

यह गीतोक्त धर्म अन्य सम्प्रदायों का अविरोधी था, जैसा नीचे लिखे श्लोकों से प्रकट होता है:—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते, तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥

तथा

मम वर्त्म अनुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

जैन बौद्ध युग में कतिपय वैदिक दर्शनों का भी निर्माण हुआ। पतंजलि का योग तथा सांख्यदर्शन के नवीन संस्करण तैयार हुए। सांख्यदर्शन के पुरुष प्रकृति वाले सिद्धांत का आगे चल कर भागवत भक्ति पर बड़ा प्रभाव पड़ा, यह हम राधा के व्यक्तित्व-विकास में प्रदर्शित करेंगे। बौद्धों के विरोध में वादरायण व्यास के ब्रह्मसूत्रों ने भी बड़ा कार्य किया। वादरायण के शिष्य शुकदेव, शुकदेव के गौड़पाद, गौड़पाद के गोविन्दपाद और गोविन्दपाद के शिष्य आचार्य शंकर हुए, जिन्होंने बौद्ध-धर्म की जड़ हिला दी थी। अर्थशास्त्र के रचयिता चाणक्य और मीमांसा के भाष्यकर्ता कुमारिल भट्ट का भी इस दिशा में कम हाथ नहीं है। ब्रह्मसूत्र वादरायण व्यास के लिखे हुए हैं। सम्भवतः गीता का नवीन संस्करण करने वाले भी यही वादरायण व्यास हैं।† गीता और ब्रह्मसूत्र दोनों में आये

† ये वादरायण व्यास दाक्षिणात्य हैं और महाभारत के मूल रचयिता कृष्णद्वैपायन व्यास से सर्वथा भिन्न हैं। संभव है इन्होंने पतंजलि के योगदर्शन का भाष्य किया हो। पतंजलि शुंगवंशीय पुष्यमित्र राजा के समय में थे। इनका लिखा हुआ अष्टाध्यायी पर महाभाष्य व्याकरण में प्रामाणिक माना जाता है। भारतीय विद्वत्परंपरा में प्रचलित नीचे लिखे श्लोक के अनुसार योगदर्शन और महाभाष्य के रचयिता एक ही पतंजलि हैं:—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचाम्, मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतंजलिं प्रांजलिरानतोऽस्मि ॥

महाभाष्य से पूर्व कात्यायन अष्टाध्यायी पर वार्तिक लिख चुके थे। कात्यायन चाणक्य के समकालीन हैं। चाणक्य चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु थे, जिनका काल ईसा पूर्व चौथी शताब्दी है; अतः वादरायण ईसवी सन् के पूर्व दूसरी शताब्दी के जान पड़ते हैं। गीता १०-१२ में कृष्ण द्वैपायन व्यास का नाम इन्हीं व्यास द्वारा उल्लिखित हुआ है, जिससे सिद्ध होता है कि दोनों व्यास भिन्न-भिन्न थे और वर्तमान गीता का संस्करण परवर्ती व्यास का ही किया हुआ है।

हुये कतिपय पदों और सिद्धांतों की समता दर्शनीय है। आचार्य शंकर ने इन दोनों ग्रन्थों का भाष्य किया है।

महाराज अशोक के पश्चात् ही बौद्ध विहारों में विलासिता का विहार हो चला था। इस आन्तरिक दुर्बलता ने बौद्ध-धर्म को पूर्व ही क्षीण कर दिया था। अत: कुमारिल भट्ट और आचार्य शङ्कर का धक्का लगते ही वह अस्त-व्यस्त हो गया। अशोक के पश्चात् वैदिक मतानुयायी शुंग वंश का प्रतापी राजा पुष्यमित्र मगध के सिंहासन पर बैठा। इसने दो अश्वमेध यज्ञ किये। शुंगवंश के पश्चात् कारव, भारशिव (नाग) और वाकाटक वंश के राजा हुये जो बौद्ध-धर्म के कट्टर विरोधी थे। वाकाटक वंश के पश्चात् गुप्तवंश का प्रतापी साम्राज्य स्थापित हुआ, जो भागवत धर्म को अपनाने के कारण इतिहास में प्रसिद्ध है। गुप्त साम्राज्य की पताका पर गरुड़ चिह्न अङ्कित था। गरुड़ को पुराणों में विष्णु का वाहन कहा गया है। गुप्त वंशीय सम्राटों ने अनेक अश्वमेध यज्ञ किये और वेदानुगामी वैष्णव धर्म के प्रचार में बड़ा योग दिया। इस युग में धर्म का पुनरुत्थान हुआ। भागवत सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखने वाली १०८ पांचरात्र संहिताओं का निर्माण हुआ। श्रीमद्भागवत भी इसी युग की रचना जान पड़ती है। भागवत धर्म का यह प्रधान ग्रन्थ है। इसी के साथ भक्ति का चतुर्थ उत्थान हुआ।

गीता के पश्चात् भागवत धर्म की व्याख्या एवं प्रचार करने वाले तीन ग्रन्थ दिखलाई देते हैं:—श्रीमद्भागवत, नारद भक्ति-सूत्र तथा शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र[1] भागवत सम्भवतः तीसरी शताब्दी* तक बन चुकी थी। भक्ति-रस से लबालब भरे हुए इस ग्रन्थ में हमें सूरसागर की प्रायः समस्त सामग्री मिल जाती है, कमी केवल राधा के चरित्र की है। परन्तु जिस भागवत धर्म का इस ग्रन्थ में व्याख्या हुई है, वह गीता से उल्लिखित भागवत धर्म से कई अंशों में भिन्न है। गीताज्ञान कर्म एवं उपासना तीनों का समन्वय करती हुई भगवद् भक्ति का उत्कर्ष स्थापित करती है, परन्तु भागवत शुद्ध रूप से भक्ति-मार्ग का ही उपदेश करने वाली है। गीता प्रवृत्ति मार्ग पर बल देती है, परन्तु भागवत निवृत्ति मार्ग की अनुगामिनी है।

उपनिषद के ऋषियों ने जिस निवृत्ति-परायण धर्म का उपदेश दिया था, वह अनेक शाखाओं में फैलता-फूटता जैन-बौद्धादि धर्मों के रूप में प्रबल शक्ति

* देखो परिशिष्ट १

[1] नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः। ३—८
क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥ २—३

के साथ आविर्भूत हुआ। कुमारिल, शंकर आदि आचार्यों के तर्करूपी कशाघातों से यद्यपि बौद्ध धर्म जर्जर हो गया था, परन्तु लोक मानस पर अपनी अटल छाप छोड़ गया। बड़े बड़े प्रयत्न हुये, पर यह छाप मिटाये न मिटी। समस्त अभिनव पन्थ अपनी पृथक सत्ता रखते हुए भी निवृत्ति के रंग मे रँगते चले गए। वर्णधर्म भी, कम से कम भक्ति के क्षेत्र मे, शिथिल हो गया और जैसा हम पीछे लिख चुके है, बौद्ध धर्म भी इस भक्ति के साथ समझौता करके अपने रूप को संस्कृत करने लगा। ईसा के प्रथम शतक मे ही अश्वघोष के शिष्य सिद्ध योगी नागार्जुन ने बौद्धों के महायान सम्प्रदाय की स्थापना की, साथ ही मैत्रेय के योगाचार सम्प्रदाय का भी विशेष प्रचार हुआ। इन दोनों सम्प्रदायों के साथ मंत्रयोग के प्रचलित होने से महायान के अन्तर्गत मंत्रयान संप्रदाय भी चल पड़ा, जो उग्ररूप धारण कर तिब्बत के वर्तमान वज्रयान मे दृष्टिगोचर होता है। मन्त्रयोग के साथ देवताओं का ध्यान भी आवश्यक था। अतः इसी समय से मंजुश्री, अवलोकितेश्वर, मैत्रेय आदि बोधिसत्वों की मूर्तियाँ निर्मित हुईं और बौद्धों में मूर्तिपूजा का प्रारम्भ हुआ। यह तो बौद्ध धर्म पर भागवत धर्म के प्रभाव की बात हुई। दूसरी ओर श्रीमद्भागवत में बौद्ध धर्म की शिक्षाओं का समावेश किया गया। बुद्ध स्वयं भागवत धर्म के अनुयायियों मे ईश्वर का अवतार मान लिये गए और उनके द्वारा प्रचारित निवृत्ति पथ का उपदेश तो श्रीमद्भागवत द्वारा समस्त जाति के साथ ऐसा संयुक्त हुआ कि वह आज तक हमारा पल्ला पकड़े है, हिन्दुओं की रग-रग में भिदा पड़ा है।

श्रीमद्भागवत का बाद के साहित्य पर बड़ा प्रभाव पड़ा। रामानुज, मध्व, निम्बार्क, चैतन्य, वल्लभ आदि सब आचार्य इससे प्रभावित हुए। इस ग्रन्थ ने भक्ति को सर्वोपरि स्थान दिया, जिसमे वर्ण एवं आश्रम धर्म भी बहते हुये दिखाई दिये। श्रीमद्भागवत के एकादश स्कंध के चतुर्दश अध्याय में लिखा है:—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥२०॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥२१॥

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्य भीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्ति युक्तो भुवनं पुनाति ॥२४॥

यथाग्निना हेमजलं जहाति ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम्।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय मद्भक्ति योगेन भजत्यथो माम् ॥२५॥

यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथा श्रवणाभिधानैः ।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवांजनसंप्रयुक्तम् ॥२६॥

इन श्लोकों में भगवान स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं कि न मैं योग के द्वारा, न सांख्य (ज्ञान) के द्वारा, न स्वाध्याय एवं तप (वाणप्रस्थ) के द्वारा और न त्याग (संन्यासाश्रम) के द्वारा ही प्राप्त होता हूँ। मेरी प्राप्ति का सुलभ साधन तो भक्ति है। मेरी एक निष्ठा से की हुई भक्ति चाण्डाल तक को पवित्र कर देती है। जो गद्‌गद्‌ वाणी से द्रवित चित्त हो, कभी रोता हुआ, कभी हँसता हुआ कभी लज्जा को छोड़ गाता हुआ और नाचता हुआ, मेरी भक्ति में निरत होता है, वह इस निखिल विश्व को पवित्र कर देता है। जैसे अग्नि द्वारा स्वर्ण का मल दूर होकर फूंकने पर अपने रूप में मिल जाता है, उसी प्रकार मेरे भक्तियोग से कर्म-विपाक को दूर करता हुआ आत्मा मुझे ही प्राप्त कर लेता है। मेरे पवित्र चरित्रों का श्रवण एवं ध्यान करता हुआ जैसे जैसे आत्मा शुद्ध होता जाता है, वैसे ही वैसे अञ्जनाञ्जित आँखों की तरह सूक्ष्म वस्तु के दर्शन करने लगता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि वैष्णव धर्म के प्रायः सभी आचार्य इस भक्ति-मंदाकिनी में डुबकी लगा कर केवल स्वयं ही पवित्र नहीं हुए, अपितु उन्होंने कोटि-कोटि मनुष्यों को भी कल्याण-पथ पर लगा दिया। सूर और तुलसी दोनों में हम भक्ति के इन्हीं सिद्धान्तों को प्रस्फुटित होते हुए देखते हैं।

भागवत धर्म की विशेषता

हम पीछे सिद्ध कर चुके हैं कि भक्ति अपने प्रथम उत्थान काल में सामंजस्यात्मक है। न वहाँ ज्ञान की हीनता है और न कर्म की। द्वितीय उत्थान में भी वह इस आदर्श को अपनाए हुये है, पर दबी जुबान से ज्ञान और कर्म के ऊपर अपना महत्व स्थापित करना चाहती है। इस युग में भक्ति के मुख्य उपदेष्टा श्रीकृष्ण हैं।

तृतीय एवं चतुर्थ उत्थान में ज्ञान और कर्म दोनों ही भक्ति की प्राप्ति में सहायता करने वाले हैं। भक्ति यहाँ साध्य है; ज्ञान और कर्म साधन। द्वितीय और तृतीय उत्थान की प्रवृत्ति-मूलक भक्ति चतुर्थ उत्थान में जाकर निवृत्तिमूलक बन गई। गीता में लिखा है कि यह भक्ति सर्व प्रथम भगवान से विवस्वान को प्राप्त हुई। विवस्वान से मनु और मनु से इक्ष्वाकु को मिली। इक्ष्वाकु के पश्चात् इसका प्रचार मुख्य रूप से राजर्षियों में ही प्रचलित रहा। इस भक्ति के सम्बन्ध में महाभारत के नारायणीय अध्याय में एक दूसरी ही गाथा मिलती है। वह इस प्रकार है:—एक बार नारद बदरिकाश्रम गये। वहाँ नारायण पूजा करते थे। नारद ने पूछा आप किसकी पूजा करते हैं? नारायण ने उत्तर दिया, "अपने मूल

रूप की।" नारद इस मूल रूप को देखने के लिए आकाश में उड़े, फिर मेरु शिखर पर उतरे। वहाँ उन्होंने श्वेत मानवों को देखा, जो मेघ-गर्जन तुल्य वाणी में भगवान की स्तुति कर रहे थे। नारद को इस श्वेत द्वीप में भगवान के दर्शन हुए और वासुदेव धर्म का उपदेश प्राप्त हुआ। इसी स्थान पर वसु उपरिचर का आख्यान भी आता है जो सात्वत विधि से नारायण की पूजा करता था। इस राजा ने यज्ञ में पशु बलि नहीं की।)

(ऊपर गीता और महाभारत के उद्धरणों से ज्ञात होता है कि भागवत धर्म नारायण, वासुदेव, सात्वत, ऐकान्तिक आदि कई नामों से प्रसिद्ध रहा है। नारायण को श्वेत द्वीप का निवासी कहा गया है। यह धर्म प्रारम्भ में निवृत्ति-परक था, जैसा नीचे लिखे श्लोक से प्रकट होता है:—)

नारायण परो धर्मः पुनरावृत्ति दुर्लभः।
प्रवृत्ति लक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः॥

(इस धर्म से नारायण, वासुदेव, भगवान ही भक्त का सर्वस्व हैं। श्रीमद् भागवत में एक स्थल पर लिखा है:—"अहेतुकी अव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे" —अर्थात् भगवान में हेतुरहित, निष्काम, एकनिष्ठायुक्त अनवरत प्रेम होना ही भक्ति है। शाण्डिल्य भक्ति सूत्रों में भी यही सिद्धांत प्रतिपादित हुआ है:—"सा परानुरक्तिरीश्वरे" अर्थात् ईश्वर से पराकाष्ठा की अनुरक्ति ही भक्ति है। यह भक्ति ही परम धर्म है, जैसा भागवत में कहा है:—)

स वै पुंसां परो धर्मो यतोभक्ति रधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा संप्रसीदति॥१-२-६॥

भागवत धर्म की यह भक्ति ज्ञान और कर्म दोनों से ऊपर है। कर्म और ज्ञान का संपादन इसमें इसलिए आवश्यक माना गया है कि यह वैराग्य-साधन में सहायता करता है। वैराग्य सिद्धि के पश्चात् ज्ञान एवं कर्म की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। अतः (कर्म और ज्ञान का वैष्णव भक्ति में अधिक महत्व नहीं है। इसका मुख्य लक्ष्य है—इष्ट देवता में तन्मय हो जाना। प्रारम्भ में भागवत धर्म प्रवृत्ति-मूलक था; परन्तु श्रीमद्भागवत तक पहुँचते पहुँचते निवृत्ति-मूलक बन गया जिसमें ज्ञान, कर्म, योग, तप, स्वाध्याय सभी व्यर्थ के बखेड़े थे। भक्ति ही सब कुछ मानी जाने लगी थी।) नारद भक्ति सूत्रों में "सा न कामयमाना निरोध रूपत्वात्" ॥७॥ तथा "भक्तिः सा तु कर्म ज्ञान योगेभ्यः अपि अधिकतरा" ॥२५॥ कह कर निवृत्तिमूलक भक्ति की ओर स्पष्ट संकेत कर दिया गया है।

(इस भक्ति की प्राप्ति नारद भक्ति-सूत्रों के अनुसार भगवान के अनुग्रह से ही सम्भव है।) प्रभु कृपा का लवलेश भी प्राप्त हो गया तो जीवन धन्य है। अथवा उसके भेजे हुये किसी देवदूत, किसी महान भक्त की अनुकम्पा का आश्रय मिल

गया, तो भी बेड़ा पार हो सकता है। (यही भगवत्कृपा वल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग का मूल मन्त्र है। नारद ने यह भाव, जैसा पहले लिखा जा चुका है, मुण्डक उपनिषद से ग्रहण किया है।)

(यह भक्ति परा और गौणी दो प्रकार की कही गई है। गौणी भक्ति तीन प्रकार की है:—(१) सात्विकी, जिसमें कर्तव्य कर्म समझ कर भगवान की भक्ति की जाती है। (२) राजसी, जो किसी कामना से प्रेरित होकर की जाती है। (३) तामसी, जो दूसरों को हानि पहुँचाने के उद्देश्य से की जाती है। भक्त भी इसी के आधार पर जिज्ञासु, अर्थार्थी और आर्त तीन प्रकार के हैं।) श्रीमद्भागवत में नवधा भक्ति का वर्णन पाया जाता है:—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्म निवेदनम्॥७—५—२३

अर्थात् प्रभु के गुणों का श्रवण करना, उनका कीर्तन करना, चरणों की सेवा करना, पूजन और वन्दन करना, प्रभु के ऐश्वर्य के सम्मुख झुक जाना, प्रभु को सखा समझना और अपने आत्मा को खोलकर प्रभु के सामने रख देना—यह नौ प्रकार की भक्ति है। इससे दशवीं प्रेम लक्षणा और ग्यारहवीं पराभक्ति जोड़ देने से भक्ति ग्यारह प्रकारों की हो जाती है। इसे भी हम बाह्य और अन्तरंग दो प्रकार के साधनों में विभक्त कर सकते हैं। इसका मुख्य लक्ष्य, जैसा कहा जा चुका है, प्रेम स्रोतस्वरूप प्रभु में तल्लीन हो जाना है।

(यह भक्ति प्रारम्भ से ही प्रभु को सगुण मान कर चली। ईश्वर वस्तुतः अन्य पदार्थों के गुणों से विहीन होने के कारण निर्गुण और अपने गुणों से युक्त होने के कारण सगुण कहलाता है। उपासना के क्षेत्र में स्तुति का अर्थ ही प्रभु के गुणों का कीर्तन है।) वेद में ऐसे अनेक मन्त्र हैं जिनमें प्रभु के गुणों का वर्णन पाया जाता है। नीचे हम यजुर्वेद के ४०वें अध्याय का आठवाँ मन्त्र उद्धृत करते हैं, जिसमें परमात्मा को निर्गुण और सगुण दोनों कहा गया है:—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरम् शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्
शाश्वतीभ्यः समाभ्यः

इस मन्त्र में अकायम्, अव्रणम्, अस्नाविरम्, अपापविद्धम्, शब्द प्रभु को निर्गुण बता रहे हैं, परन्तु शुक्रम् कविः, मनीषी, परिभूः स्वयम्भू शब्द उसे

* मुख्यतस्तु महत्कृपयैव, भगवत्कृपालेशाद्वा ॥३८॥ नारद भक्तिसूत्र

† सन्त सुन्दरदास ने अपने 'ज्ञान समुद्र' ग्रंथ के द्वितीय उल्लास में नवधा भक्ति को कनिष्ठ, प्रेमाभक्ति को मध्यम और पराभक्ति को उत्तम कोटि की माना है।

सगुण कह रहे हैं। इसी प्रकार उपनिषदों में अकल, अजर, अमर, अभय, इन्द्रियातीत आदि कह कर उसका निर्गुण रूप प्रकट किया गया है और सत, चित, आनन्दस्वरूप, स्वयं प्रकाश, जनिता, विधाता आदि शब्दों द्वारा उसके सगुण रूप पर प्रकाश डाला गया है। परन्तु भक्ति के आगामी युगों में निर्गुण और सगुण दोनों शब्दों के अर्थ परिवर्तित हो गये। निर्गुण से निराकार और सगुण से साकार का अर्थ ग्रहण किया जाने लगा। आचार्य शंकर ज्ञान को प्रधानता देते थे और प्रभु को निर्गुण रूप में ही स्वीकार करते थे। इनके मत में ज्ञान साध्य है और कर्म तथा भक्ति साधन। ज्ञान से ही मनुष्य मुक्ति प्राप्त करता है*। निर्गुण प्रभु कूटस्थ, तटस्थ और उदासीन है। किसी किसी विद्वान के मतानुसार आचार्य शंकर का यह अद्वैतवाद बौद्ध धर्म के शून्यवाद का ही प्रतिरूप है। यहाँ निर्गुण की परिभाषा शान्त, अचल प्रतिष्ठ आदि की भाँति है—एक ऐसी अवस्था जिसमें ईश्वर का किसी से सम्बन्ध नहीं, जो अज्ञेय और अनिर्वचनीय है। ऐसा ईश्वर जनता के किसी भी काम का नहीं था।

भागवत् धर्म में प्रभु के निर्गुण और सगुण दोनों रूप, परिवर्तित एवं मूल, दोनों अर्थों में स्वीकार किये गये हैं। वैष्णव धर्म के आचार्य जहाँ ईश्वर को अन्य के गुणों से हीन और स्वगुणों से सहित होने के कारण निर्गुण और सगुण अर्थात् निखिल हेय प्रत्यनीक और अखिल सद्‌गुणाकर कहते थे, वहाँ वे निर्गुण से निराकार और सगुण से साकार ईश्वर का अर्थ भी ग्रहण करते थे। यह था कर्मयोगी जैन धर्म का आर्य धर्म पर चुपचाप पड़ा हुआ प्रभाव। सांख्य का पुरुष प्रकृतिवाद जैन धर्म का जीव जड़वाद ही तो है। सांख्य अपने मूलरूप में ईश्वरवादी था, परन्तु बाद में प्रमाणों द्वारा ईश्वर की असिद्धि मानकर लोक की दृष्टि में निरीश्वरवादी बन गया। जैन धर्म भी आत्मा से व्यतिरिक्त ईश्वर की सत्ता नहीं मानता। इस मत में जीवात्मा ही विश्व से वीतराग होकर ईश्वर बन जाता है। वैष्णव धर्म के आचार्यों ने सृष्टि के रचयिता ईश्वर को तो माना, पर अवतार मानकर यह भी सिद्ध कर दिया कि वह जीवात्मा के अतिरिक्त अन्य सत्ता नहीं है। गीता में कृष्ण जी कहते हैं:—

> बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
> तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥ ४-५॥

अर्थात् हे अर्जुन मेरे भी अनेक जन्म हो गये हैं और तुम्हारे भी। यह (योग बल से) मुझे तो याद है पर तुम भूल गये हो। अनेक जन्मों से सिद्ध है कि जीवात्मा ही अनेक योनियों वाले गमनागमन के चक्र में पड़ता है, परमात्मा नहीं।

*आचार्य शंकर ने शिव, गोविन्द आदि देवों के कुछ भक्तिपरक स्तोत्र भी लिखे हैं।

महाभारत में एक स्थान पर नर और नारायण दो ऋषियों का वर्णन आता है और लिखा है कि इन्हीं दोनों ऋषियों ने अर्जुन और श्रीकृष्ण के रूप में द्वापर के अंत में जन्म लिया था। इस कथन से भी अर्जुन और श्रीकृष्ण जानात्मा ही प्रतीत होते हैं, जिनमें से श्रीकृष्ण ने उन्नत, विकसित एवं निर्लिप्त होकर ईश्वरत्व प्राप्त किया। अवतारों में कला तथा अंशों की गणना भी जैन प्रभाव को सूचित करती है, जिसके अनुसार एक ही समय में दो अथवा तीन अवतार भी हो सकते हैं। द्वापर के अन्त में श्रीकृष्ण, बलराम और व्यास तीन अवतार एक साथ हुये थे। जिस आत्मा में जितने ही अधिक अंश अथवा कलायें हैं वह आत्मा उतना ही अधिक ईश्वरत्व अपने में रखता है। परशुराम में पाँच कलायें थीं, राम में बारह थी, परन्तु श्रीकृष्ण में सोलहों कलायें थीं। अतः वे पूर्ण भगवान हैं—"कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्"। गीता का नीचे लिखा श्लोक भी इसी तथ्य को प्रकट करता है:

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं ममतेजोंऽशसंभवम्॥१०—४१

जैन प्रभाव को लिए हुए भी वैष्णव आचार्य वेद-धर्म के अनुगामी थे। अतः वैदिक धर्म की मूल बात भी उनके साथ चिपटी रही। प्रभु के निर्गुण और सगुण दोनों रूप उन्हें मान्य हुये। गीता से लेकर सूर काव्य तक निर्गुण भक्ति भी मानी जाती रही, पर उसे क्लेशकारक समझा गया। गीता में लिखा है:—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम् व्यक्तासक्त चेतसाम्।

सूर भी कुछ कुछ ऐसा ही कहते हैं:—

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगे मीठे फल को रस अन्तर्गत ही भावै॥
परम स्वाद सब ही जु निरन्तर, अमित तोष उपजावै।
मन, बानी कों अगम अगोचर सों जानें जो पावै॥
रूप रेख गुन जाति जुगति बिनु निरालम्ब मन धावै।
सब विधि अगम विचारै तातें सूर सगुन पद गावै।

वैष्णव भक्तों ने इसीलिये सगुण लीला गाई है। जनता भी इस सगुण भक्ति की ओर अधिक आकृष्ट हुई।

भक्ति इन चार उत्थानों में विकसित होती हुई सूरसागर में पंचमावस्था को प्राप्त हुई। सूर ने आचार्य वल्लभ से दीक्षा लेकर भगवान की लीला के दर्शन किये, पर अपनी अप्रतिम प्रतिभा के बल से उन्होंने भगवद् भक्ति का श्रीमद्भागवत से भी अधिक सजीव रूप भगवद् भक्तों के समक्ष उपस्थित कर दिया। गोपाल की इतनी अधिक बाल-केलियाँ श्रीमद् भागवत में कहाँ हैं? राधा और भ्रमरगीत वाला प्रसंग; जो कहीं रुलाता है, कहीं हँसाता है, कहीं उच्छ्वसित करता है और

कहीं व्यंग्य की विकट चोट से मन को इधर से उधर कर देता है। इतने अधिक मर्म स्पर्शी रूप सूरसागर में ही है। श्रीमद्भागवत में तो उसे अतीव संक्षिप्त रूप से प्रकट कर दिया गया है। वैदिक काल से लेकर सूर तक भक्ति का जो विकास हुआ उसी के उपादानों से तो सूर के मानसिक अंश का निर्माण हुआ था। सूर-सागर में इतनी गहराई के साथ भक्ति का जो उद्रेक हुआ है, वह कई सहस्राब्दियों की संचित सामग्री का सार होने के कारण ही है।)

कृष्ण भक्ति का विकास

कृष्ण का नाम भारतीय साहित्य के विद्यार्थी के लिए अपरिचित वस्तु नहीं है। महाभारत में कृष्ण का नाम अनेक बार आया है। इस ग्रन्थ में वे कहीं राजनीतिज्ञ योद्धा के रूप में, कहीं वेदवेदांगवेत्ता के रूप में और कहीं धर्मोपदेष्टा के रूप में चित्रित किए गए हैं। गीता तो आज तक उन्हीं के मुख से निकली हुई कही जाती है। गीता महाभारत का ही अंश है। गीता के उपदेश महाभारत के भिन्न २ स्थलों पर भी बिखरे पड़े हैं। महाभारतकार कई स्थानों पर कृष्ण को सात्वत धर्म का उपदेष्टा कहता है। पाणिनि कृष्ण शब्द का तो नहीं, परन्तु वासुदेव शब्द का अर्जुन शब्द के साथ प्रयोग करता है।* कृष्ण वसुदेव के पुत्र थे। अतः वे वासुदेव कहे जाते हैं। महाभाष्यकार पातञ्जलि लिखते हैं कि कृष्ण ने कंस को मारा। इस प्रकार कृष्ण का ही एक नाम वासुदेव लोक में प्रसिद्ध हो गया था।

(छान्दोग्य उपनिषद में कृष्ण को देवकी-पुत्र और घोर आंगिरस ऋषि का शिष्य कहा गया है। देवकी-पुत्र स्पष्ट रूप से सूचित करता है कि कृष्ण महाभारत के वासुदेव कृष्ण ही हैं। इस सम्बन्ध में छान्दोग्य उपनिषद् की उस शिक्षा पर भी विचार कीजिए जो घोर आंगिरस ऋषि से श्रीकृष्ण को प्राप्त हुई थी। छान्दोग्य में लिखा है :—†

अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः ॥३-१७-४

(अर्थात् जो तप, दान, सरलता, अहिंसा और सत्यवचन है वही यज्ञ की दक्षिणा है। इन शब्दों से द्रव्यरूप दक्षिणा का निषेध होता है; साथ ही द्रव्यमय यज्ञ का भी खंडन हो जाता है। इस प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् में यज्ञ और ब्राह्मणों

---

* वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्। ४-३-९८

† तद्धैतद् घोर आंगिरसः कृष्णाय देवकी पुत्रायोक्त्वा उवाच। अपिपास एव स बभूव। सोऽन्त वेलायामेतत्त्रय प्रतिपद्येत। अक्षितमसि, अच्युतमसि, प्राणसंशितमसीति। छां० ३-१७-६

के विरुद्ध उपदेश किया गया है। गीता की शिक्षा भी लगभग इन्हीं शब्दों में इसी प्रकार की प्रतीत होती है। नीचे लिखे श्लोकों पर विचार कीजिये:—

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञात् ज्ञानयज्ञः परन्तप। ४–३३
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्। १६–१
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्। १६–२
यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ २–४६

इस शिक्षा–साम्य से सिद्ध होता है कि छान्दोग्य के देवकी–पुत्र कृष्ण महाभारत के सात्वत धर्म के उपदेष्टा तथा गीता के प्रवचनकर्ता वासुदेव कृष्ण ही हैं। जैन ग्रन्थों मे भी कृष्ण की कथा आती है और उन्हें २२वें तीर्थङ्कर नेमिनाथ का समकालीन माना गया है। ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के ८५, ८६ और ८७ तथा दशम मण्डल के ४२, ४३ और ४४ सूक्तों के ऋषि का नाम भी कृष्ण है, परन्तु यह कृष्ण ऋषि देवकी–पुत्र नहीं जान पड़ते। ऋषि कृष्ण के नाम पर कार्ष्णायन गोत्र चला है। सम्भवतः इसी गोत्र प्रवर्तक ऋषि के नाम पर वसुदेव ने अपने पुत्र का नाम कृष्ण रखा होगा।

जिस घोर आंगिरस ऋषि का नाम छान्दोग्य उपनिषद मे आता है, उसी ऋषि का नाम कौषीतकी ब्राह्मण मे भी पाया जाता है और उसके साथ कृष्ण का नाम भी विद्यमान है। कृष्ण को इस ब्राह्मण मे आंगिरस कहा गया है। इन समस्त उल्लेखों से सिद्ध होता है कि कृष्ण के पिता का नाम वसुदेव और माता का नाम देवकी था। वे घोर आंगिरस ऋषि के शिष्य थे, समस्त वेदवेदांगों* के ज्ञाता थे, राजनीति मे निपुण थे और बलवान योद्धा थे। इन्होंने सात्वत सम्प्रदाय की स्थापना की थी, जिसका मुख्य उद्देश्य पशु-हिंसापूर्ण यज्ञों का विरोध और निवृत्ति मार्ग के स्थान पर प्रवृत्ति पथ का प्रचार करना था। सम्भवतः इसी सर्वाङ्गीण शारीरिक, सामाजिक एवं आत्मिक उन्नति के कारण वे जनता के लिये समादरणीय एवं भक्तिभाजन बन गये थे। जनता घन-घटाओं की भाँति उनके दर्शनार्थ उमड़ पड़ती थी; धनी, शूरवीर एवं विद्वान, बाल तथा वृद्ध उनकी चरण-वन्दना करने मे अपना अहोभाग्य समझते थे और विश्व की उस वन्दनीय विभूति वासुदेव कृष्ण की पूजा करते थे। एक स्थान पर महाभारत मे भीष्म जी ने ईश्वर के रूप में उनकी स्तुति भी की है।

---

* वेद वेदांग विज्ञानं बलं चाप्यधिकं तथा।
नृणांहिलोके कोऽन्योऽस्ति, विशिष्टः केशवादृते॥
महाभारत सभापर्व, ३८ अध्याय

अतः निश्चित है कि सात्वत सम्प्रदाय की सृष्टि करने के कारण, गुरु तथा उपदेष्टा होने के अतिरिक्त कृष्ण ईश्वर रूप में भी पूजित होने लगे थे। बाद के पौराणिक साहित्य में उनके ईश्वर रूप का और भी अधिक विकास हुआ और पूतना-वध, शकटभंजन, तृणावर्त, यमलार्जुन, माखनचोरी आदि कथाओं का संबंध उनके जीवन के साथ जोड़ दिया गया। हरिवंश पुराण में, जो महाभारत के पश्चात् सौति उग्रश्रवा द्वारा शौनक को सुनाया गया है, कृष्ण-चरित्र को सर्व-प्रथम गोपियों के चरित्र के साथ सम्बद्ध किया गया है। ब्रह्मपुराण के उत्तर भाग में और विष्णु पुराण के पाँचवें अंश में कृष्ण चरित्र सम्बन्धी श्लोक लगभग एक से हैं, अतः वे किसी एक ही कवि की कृति जान पड़ते हैं। पद्म पुराण*, वायुपुराण तथा वामन पुराण में भी कृष्ण कथा संक्षेप में आती है, परन्तु ब्रह्मवैवर्त के तृतीय खण्ड तथा श्रीमद्भागवत के दशम एवं एकादश स्कन्धों में यह कथा विस्तार पूर्वक वर्णित हुई है।

रासलीला का वर्णन हरिवंश तथा विष्णु दोनों पुराणों में है। हरिवंश-कार ने रास के स्थान पर हल्लीष शब्द का प्रयोग किया है। श्रीधर स्वामी ने रास का अर्थ स्त्री पुरुष का परस्पर हाथ पकड़कर गाना और मण्डली बनाकर घूमते हुये नृत्य करना लिखा है। हेमचन्द्र के अभिधान (कोष) में हल्लीष का अर्थ स्त्रियों का मण्डल बनाकर नाचना लिखा है।

प्रश्न यह है कि क्या इन लीलाओं का कृष्ण के ऐतिहासिक चरित्र के साथ कोई सम्बन्ध है? महाभारत से इन लीलाओं की वास्तविकता पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। तो इन लीलाओं का स्रोत कहाँ पर है? एक और उलझन है, उस पर भी विचार कीजिये। भागवत के अनुसार कृष्ण का बालजीवन यशोदा और नन्द के साथ व्यतीत हुआ, जहाँ वे गोप गोपिकाओं के साथ खेलते रहे और शिक्षालाभ का कोई अवसर नहीं मिला। कंसवध के पश्चात् उग्रसेन को सिंहासनासीन करके कृष्ण सान्दीपन मुनि के पास अस्त्र शिक्षा प्राप्त करने के लिए गये। इसके अतिरिक्त भागवत में अन्य विषयों के शिक्षा-लाभ का कोई उल्लेख नहीं पाया जाता। दूसरी ओर महाभारत में उन्हें वेद-वेदांगवेत्ता कहा गया है। यह वेद-वेदांग की शिक्षा उन्हें कहाँ और कब प्राप्त हुई? छान्दोग्य उपनिषद इसका उत्तर देती है कि कृष्ण ने घोर आंगिरस ऋषि के चरणों में बैठकर वेद-वेदांग की शिक्षा प्राप्त की थी। कौषीतकी ब्राह्मण भी इस बात का समर्थन करता है। इस प्रकार एक ओर तो एक दूसरे का समर्थन करने वाले तीन प्रामाणिक ग्रन्थ हैं और दूसरी ओर है श्रीमद्भागवत। ऐतिहासिक सत्यता किसमें है? वास्तव में कृष्ण जीवन से सम्बन्धित इन लीलाओं ने कृष्ण चरित्र की ऐतिहासि-

*पाताल खण्ड अध्याय ६९ से ८३ तक

कता मे एक ऐसा व्यवधान डाल रक्खा है, जो इन लीलाओं को कवि-कल्पना-प्रसूत माने बिना उलझन को सुलझने नही देता।

ग्रियर्सन, कैनेडी, वैवर आदि पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि इन लीलाओं से सम्बन्धित कृष्ण क्राइस्ट का रूपान्तर है। ग्रियर्सन के अनुसार ईसाइयों का एक दल ईसा की दूसरी शताब्दी मे सीरिया से चलकर मद्रास प्रान्त के दक्षिण में आबाद हो गया था। इस दल के ईसाइयों ने अपनी अनेक बातें छोड़ दी थीं और हिन्दुओं की प्रथा के अनुसार सेंट थामस पर्वत पर मन्दिर बनाकर ये ईसा की पूजा करने लगे थे। ईसाइयों के इस भक्ति-भाव-भरित वायुमण्डल का दक्षिण के हिन्दुओं पर प्रभाव पड़ा और उसका प्रतिफलन दक्षिण की वैष्णव आड्वार शाखा मे सर्व-प्रथम दिखाई दिया। आड्वार शाखा के प्राथमिक आचार्य शठकोप, यवनाचार्य (अथवा यामुनाचार्य) आदि निम्न वर्ग के व्यक्ति थे, अतः उच्चवर्गीय हिन्दुओं मे यह प्रभाव प्रारम्भ से दिखाई नही दिया। जब ब्राह्मण वंश मे उत्पन्न आचार्य रामानुज ने यवनाचार्य से दीक्षा ली और यह भक्तिपूर्ण धर्म स्वीकार कर लिया, तो उच्चस्तर के व्यक्ति भी इस धर्म के अनुगामी बन गये। कृष्ण का बंगाली उच्चारण क्रिस्टो हो ही जाता है, अतः क्राइस्ट का क्रिस्टो और क्रिस्टो का कृष्ण-यह शब्द का रूपान्तर मात्र है। कुछ विद्वान वैष्णव-धर्म से सम्बन्धित शेषनाग, शंख, चक्र आदि को भी आर्य जाति का नहीं मानते। इनके मतानुसार इन नामों का प्रवेश भी आर्य जाति मे बाहर से हुआ है। ग्रियर्सन इस बात पर भी बल देते हैं कि वैष्णवों की दास्य भक्ति, प्रसाद और पूतना-स्तन-पान ईसाइयत की देन है। पूतना बाइबिल की वर्जिन है, प्रसाद 'लवफीस्ट' है और दास्य भक्ति पापपीड़ित मानवता का रुदन है। इन संकेतों से पाश्चात्य विद्वान कृष्ण को क्राइस्ट का ही रूपान्तर मानते हैं। इनमे से कई संकेतों का खण्डन पश्चिम के ही एक विद्वान डा० ए० बी० कीथ द्वारा हो चुका है और फिर जो बात पाश्चात्य विद्वान कहते है, क्या वही लौट कर उनसे नहीं कही जा सकती? कृष्ण ही क्राइस्ट का रूपान्तर क्यों है? क्राइस्ट कृष्ण का रूपान्तर क्यों नहीं। कृष्ण का अस्तित्व हम ब्राह्मण काल तक दिखा चुके हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के निर्माणकाल में क्राइस्ट की नानी तक का जन्म नहीं हुआ था। तो क्या पश्चिमी विद्वान मानेंगे कि क्राइस्ट नामक कोई व्यक्ति नहीं हुआ और भारत के कृष्ण की कथा ही वहाँ क्राइस्ट सन्त के नाम से प्रचलित हो गई? 'बाइबिल इन इण्डिया' का फ्रांसीसी लेखक जैकालियट तो ऐसा ही कहता है।

पर अभी उलझन सुलझी नहीं। कृष्ण क्राइस्ट का रूपान्तर नहीं है; ठीक है, पर गोपियों की लीला क्या है? मूल महाभारत के निर्माणकाल तक गोपियों की कथा प्रचलित नहीं हुई थी। फिर यह कहाँ से आ गई? अनेक पश्चिमी

विद्वानों और एतद्देशीय स्व० डा० भण्डारकर के मतानुसार गोपी शब्द उस आभीर जाति से सम्बन्ध रखता है जो सीरिया से चलकर भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश मे ईसवी–सन् के पूर्व आकर बस गई थी। यही जाति सिंध होती हुई दक्षिण मे पहुँची। परन्तु यह भी एक दुरूह कल्पना है। इस देश के किसी साहित्यिक ग्रन्थ मे आभीरों को बाहर से आया हुआ नही कहा गया। विष्णु पुराण में आभीर वंश का उल्लेख है। वायु-पुराण मे आभीर राजाओं की वंशावली वर्णित है। यह भी लिखा है कि इन राजाओं ने शक और कुशनों से पूर्व दस पीढ़ियों तक सिंध मे राज्य किया था। सिंध से ये उत्तर की ओर आये और मधुपुर से लेकर आनर्त तक का समस्त प्रांत इनके अधिकार मे आ गया। सम्भव है आभीर क्षत्रियों में बालगोपाल की पूजा प्रचलित रही हो; परन्तु इससे यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि वे बाहर से आये ? एक विद्वान ने 'आभीर' शब्द को द्रविड़ भाषा का शब्द बतलाया है। जिसका अर्थ 'गोपाल' होता है। भागवत, दशमस्कंध पूर्वार्ध के पंचम अध्याय श्लोक २० और २३ में वसुदेव आभीराधिपति नन्द को अपना भाई कहते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण ७-४-१८ के अनुसार विश्वामित्र के पचास पुत्र पिता की आज्ञा न मानकर दक्षिण चले गये थे। सम्भव है आभीर क्षत्रिय इनकी संतान हों और द्वापर युग में पुनः उत्तराखण्ड में आ गये हों। महाभारत मे कुछ अन्य क्षत्रियों के भी दक्षिण जाने का वर्णन है। कुछ हो, इतना तो निश्चित है कि आभीर वंश बाहर से इस देश में नही आया। महाभारत में यदुवंश के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध दिखलाया गया है और लिखा है कि श्रीकृष्ण की एक लाख नारायणी सेना मुख्यतः आभीर क्षत्रियों से ही निर्मित हुई थी और युद्ध मे दुर्योधन की ओर से लड़ी थी। अतः पश्चिमी विद्वानों की यह कल्पना भी नितांत असंदिग्ध नहीं कही जा सकती।

यदि कृष्ण की कथा, गोपियों की लीला, बाहर से इस देश में आई होती तो ईसवी सन् के पूर्व लिखे हुये भारतीय ग्रन्थों में वह काव्य का विषय नहीं बन सकती थी। काव्य का विषय बनने के लिए कथाका जनसाधारण में कई शताब्दी पूर्व से प्रचलित होना आवश्यक है। गाथासप्तशती*प्राकृत भाषा का काव्य है और वह उसी की अन्तः साक्षियों के आधार पर शालिवाहन हाल द्वारा ईसा से पूर्व प्रथम शतक में लिखा माना गया है। उसमे राधाकृष्ण की लीला कैसे आ गई ?

---

*प्राकृत से संस्कृत अनुवाद—मुखमारुतेन त्वं कृष्ण गोरजो
राधिकायाः अपनयन्

एतासां वल्लवीनामन्यासामपि गौरवं हरसि ॥ १-८९।

मुहमारुएण तं कण्ह गोरअं राहिआए अवणेन्तो।

एताणं वल्लवीणं अण्णाणवि गोरअं हरसि ॥

महाकवि भास रचित बालचरित, दूत वाक्य, दूत घटोत्कच आदि नाटकों में वर्णित बाल-कृष्ण का चरित्र कहां से कूद पड़ा? डॉ० जायसवाल के मतानुसार भास ईसा से पूर्व कण्व वंशी नारायण राजा के समकालीन थे। अतः हमारी सम्मति से गोपी वल्लभ कृष्ण की लीला का स्रोत भारत से बाहर ढूंढना व्यर्थ है।

सम्भव है, आभीर क्षत्रिय दक्षिण के ही हों और दक्षिण से बंगाल तथा उत्तराखण्ड में आए हों। यह भी सम्भव है कि कृष्ण के बालरूप की पूजा, राधा तथा गोपियों की लीला का प्रचार प्रथम उन्हीं में प्रचलित रहा हो और भागवत धर्म स्वीकार करने पर उनकी ये बातें कृष्ण भक्ति के साथ जोड़ दी गई हों, पर बाहर से आई हुई तो यह लीलायें किसी प्रकार नहीं हैं।

तो क्या गोपीवल्लभ बालकृष्ण की लीला दक्षिण की देन है? भागवत में वर्णित भक्ति का दक्षिण की ओर से उत्तर की ओर आगमन इस अनुमान की पुष्टि करता है। आभीर यदि दाक्षिणात्य हैं और ये कृष्ण के बालरूप के उपासक हैं तो निस्सन्देह उत्तराखण्ड की बालकृष्ण पूजा का समस्त श्रेय इन्हीं को देना पड़ेगा। भागवत माहात्म्य अध्यायी श्लोक ४८, ५० में लिखा है कि भक्ति द्रविड़ देश में उत्पन्न होकर कर्णाटक में बड़ी हुई। कहीं कहीं महाराष्ट्र में भी उसका अच्छा मान हुआ, किन्तु गुजरात में उसे बुढ़ापे ने घेर लिया। जब भक्ति वृन्दावन में आई तो फिर अत्यन्त प्रिय रूप वाली सुन्दरी नवयुवती-सी हो गई।

वैष्णव धर्म के लगभग सभी आचार्य दक्षिण के थे, इससे भी इस भक्ति का द्रविड़ देशोत्पन्न होना सिद्ध होता है। आज तक वृन्दावन के श्रीरंग मन्दिर का मुख्य पुजारी दाक्षिणात्य ही होता है। बद्रीनाथ के मन्दिर में भी यही व्यवस्था है। कृष्ण का काला रंग भी दक्षिण की ओर संकेत करता है। अतः ऐसा अनुमान होता है कि वैष्णव भक्ति के इस रूप की प्रतिष्ठा सर्वप्रथम दक्षिण† में ही हुई। आभीर तो बाहर से नहीं आये, पर कुछ सीथियन अवश्य बाहर से आकर इस देश में बस गये थे। सम्भव है, भागवत धर्म स्वीकार करके इन्होंने अपने आपको यहाँ की पूर्व निवासिनी आभीर जाति में मिला दिया हो। बेसनगर के एक-शिला-लेख में ग्रीक राजदूत हेलियोडोरस को भागवत धर्म का अनुयायी कहा गया है, जो ईसा से दो शताब्दी पहले आकर इसी देश का निवासी

---

† भागवत ११ स्कंध, ५ अध्याय श्लोक ३९ में लिखा है कि भक्तजन द्रविड़ देश में ही अधिक पाये जाते हैं—

कलौ खलु भविष्यन्ति नारायण परायणाः।
क्वचित् क्वचित् महाराज द्रविडेषु च भूरिशः॥

हो गया था। उन दिनों ऐसे अनेक व्यक्ति एवं वर्ग बाहर से आकर इस देश मे बस गये थे और अपने को इसी देश की जातियों मे सम्मिलित कर चुके थे। भविष्य पुराण में लिखा है कि करव ऋषि मिस्र देश के दस सहस्र निवासियों को भारत में लाये और उन्हें क्षत्रियादि वर्णों में सम्मिलित कर दिया।

ऊपर हमने कृष्ण भक्ति के मूल पर प्रकाश डालने वाली कतिपय कल्पनाओं के सम्भव तथा असम्भव होने के विषय में विचार किया है। अब हम पाठकों के समक्ष एक ऐसी स्थापना प्रस्तुत करते है जो कृष्णलीला के स्रोत के लिए अधिक सम्भव और सत्य के निकट जान पड़ती है। वैदिक वाङ्मय का प्रत्येक विद्यार्थी विष्णु शब्द से परिचित है। वेद के अनेक मन्त्रों में इस विष्णु‡ को त्रिविक्रम* उरुगाय† और गोपा‡ कहा गया है। ऋग्वेद १-१५४-५ में "विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः" अर्थात् विष्णु के परम पद मे मधु का उत्स है, ऐसा भी कहा गया है। इन्हीं शब्दों के साथ नीचे लिखे मन्त्र पर भी विचार कीजियेः—

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै,
यत्रगावो भूरिशृंगा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः,
परमं पदमवभाति भूरि ॥ ऋ० १-१५४-६

इस मन्त्र में अनेक सींगों वाली गायें आयी हैं। वृष्ण शब्द भी विचारणीय है। यह भी याद रखिए कि पुराणों में कृष्ण को विष्णु का अवतार कहा गया है और उन्हें वृष्णि वंश मे उत्पन्न हुआ बतलाया गया है। इन्हीं विष्णु का एक वामनावतार भी है, जिसने तीन पैरों में ही तीनों भुवनों को नाप लिया था। वेद में भी 'त्रीणि पदा विचक्रमे' तथा 'त्रेधा निदधे पदम्' वाक्य आते है। अब नीचे लिखे मन्त्रों के पदों को देखियेः—

(१) स्तोत्रं राधानां पते। ऋ० १-३०-२९
(२) गवामपव्रजं वृधि। ऋ० १-१०-७
(३) दास पत्नी अहिगोपा अतिष्ठत। ऋ० १-३२-११
(४) त्वं नृचक्षा वृषभानुपूर्वी कृष्णास्वाग्ने अरुषो विभाहि।
अथर्व ३-१५-३
(५) तमेतदाधार यः कृष्णासु रोहिणीषु। ऋ० ८-९३-१३
(६) कृष्णा रूपाणि अर्जुना विवोमदे। ऋ० १०-२१-३

---

‡ त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपाऽदाभ्यः। ऋ० १-२२-१८
* यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेषु। ऋ० १-१५४-२
† प्रविष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षितं उरुगायाय वृष्णे। ऋ० १-१५४-३

वेद में इधर उधर बिखरे हुये जो मन्त्र पद हमने ऊपर उद्धृत किये हैं, उनमें कृष्ण की व्रजलीला से सम्बन्धित सभी नाम आ गये हैं, जैसे—राधा, गौ, व्रज, गोप, अहि (कालीनाग), वृषभानु, रोहिणी, कृष्ण और अर्जुन। इन शब्दों को देखते ही वैदिक प्रणाली से अनभिज्ञ विद्वान तुरन्त कह उठेगा कि वेद में कृष्ण राधा, अर्जुन आदि नामों के आने से निश्चित है कि वेद कृष्ण के बाद लिखे गये। परन्तु जब उसको कृष्ण के वेदवेत्ता होने की बात महाभारत से ज्ञात होती है और कृष्ण के पूर्व भी वेदों की विद्यमानता दिखलाई देती है, तो वह विचार चक्र में पड जाता है। वास्तव में वेद के मन्त्रों में न तो राधा का अर्थ राधा नाम की गोपी है, न वृषभानु राधा के पिता के अर्थ में है। न गोप का अर्थ ग्वाला है और न रोहिणी का अर्थ बलराम की माता। इसी प्रकार कृष्ण और अर्जुन शब्द भी महाभारत के वीर नायकों के नाम नहीं हैं। राधा धन, अन्न और नक्षत्र का नाम है। गो किरणें हैं और व्रज है किरणों का स्थान द्यौ। इसी प्रकार कृष्ण रात्रि और अर्जुन दिन का नाम है। वृष्ण का अर्थ वृष्णि वंश नहीं, बलवान होना है। अन्य शब्द भी इसी प्रकार अपना विशिष्ट अर्थ रखते हैं। वेदार्थ की यह प्रणाली प्रारम्भ में बहुत दिनों तक चलती रही, परन्तु बाद से उसमें व्यतिक्रम उत्पन्न हुआ। निरुक्त १-६-५ में इसका विशद वर्णन उपलब्ध होता है :—

साक्षात्कृत धर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृत धर्मेभ्यः उपदेशेन मंत्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरेबिल्म ग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषु र्वेदवेदांगानि च।

अर्थात् ऋषियों को वेदधर्म साक्षात्कृत, नितान्त स्पष्ट था। जिनको स्पष्ट नहीं था उनको उपदेश के द्वारा वेद धर्म का ज्ञान कराया गया। जब उपदेश द्वारा भी जनता उसे न समझ सकी तो वेदांगों का निर्माण किया गया। वेदांगों के साथ वैदिक वाङ्मय विस्तृत हुआ। प्रभु की वाणी के साथ ऋषियों की पवित्र वाणी भी मनुष्यों की जिह्वा पर खेलने लगी। यहीं से साहित्य का सृजन प्रारम्भ हुआ।

निरुक्त के निर्माण काल में ही वेदार्थ के कई संप्रदाय चल पड़े थे, जिनमें नैरुक्तिक, याज्ञिक और ऐतिहासिक संप्रदाय प्रधान हैं। ऐतिहासिक संप्रदाय का भी कार्य वेद की व्याख्या करना ही था। महाभारत में लिखा है:—इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। अर्थात् इतिहास और पुराण वेद का ही उपबृंहण, वृद्धि अथवा व्याख्या करने वाले हैं। ऐतिहासिकों को सूत, वंशवित्तम, पुरा कल्पवेत्ता, पौराणिक और आथर्वण कहा गया है। महाभारत आश्वमेधिक पर्व में लिखा है.—

इतिहासं पुराणञ्च गाथाश्चोपनिषत्तथा।
आथर्वणानि कर्माणि चाग्निहोत्रकृतेकृतम् ॥

इसी पर्व में अन्यत्र लिखा है:—

अत्र गाथा कीर्तयन्ति पुराकल्प विदोजनाः ॥ ३२-४

इसी प्रकार न्यायदर्शन के भाष्यकार महामुनि वात्स्यायन न्यायसूत्र ४-१-६२ की व्याख्या मे लिखते हैं:—"ते वा खलु एते अथर्वाङ्गिरसः एतत् इतिहास पुराणमभ्यवदन्। य एव मंत्र ब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते खलु इतिहास पुराणस्य धर्मशास्त्रस्य चेति ॥"

इन ऐतिहासिकों का कार्य प्राचीन इतिहास, गाथा आदि की रक्षा के साथ वेद की व्याख्या करना भी था। वैदिक अलंकारों को, जिनका समझना साधारण जनता के लिये दुरूह था, ये सूत गाथाओं द्वारा समझाया करते थे। श्रीमद्भागवत १-४-२८ में लिखा है:—भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः। अर्थात् महाभारत में इतिहास के बहाने वेदों के रहस्य को ही खोलकर समझाया गया है। पुरूरवा, उर्वशी, त्रिशंकु, नहुष, इन्द्र, वृत्र, गौतम, अहिल्या आदि की कथायें वैदिक अलंकारों के आधार पर ही निर्मित हुई हैं। साहित्य की यह एक विशेष दिशा है। इससे जनता का मनोरञ्जन भी होता है और उसे शिक्षा भी प्राप्त होती है। आजकल भी उपन्यास, नाटक, काव्यादि का निर्माण उसी प्राचीन प्रणाली के आधार पर होता है।

एक बात और थी। जब कभी दूसरों के मुकाबले अपने धर्म में किसी बात की न्यूनता दिखाई देती अथवा दूसरों की कोई बात मानवता की हितसाधिका जान पड़ती, तो झट उसकी पूर्ति अखिल ज्ञान के भाण्डार वेदों से कर ली जाती थी; और उस मानव-कल्याणकारिणी बात को वेद के ही नाम से अपना लिया जाता था। महर्षि दयानन्द ने तो आजकल के रेल, तार, वायुयान आदि सभी नवीन अविष्कारों को वेद से सिद्ध कर दिया है। सूतों का भी काम यही था।

अतः वेद मे जो राधा, विष्णु, कृष्ण आदि शब्द आये हैं, वे ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम नहीं हैं। ऐतिहासिक व्यक्तियों एवं पदार्थों के नाम वेद के शब्दों* को देख कर रक्खे गये हैं। वेद के शब्द पहले हैं, ऐतिहासिक व्यक्ति बाद में हुये हैं।

आर्य जाति को अवतारों की आवश्यकता पड़ी तो विष्णु, वामन, राम आदि वेद के शब्दों को लेकर उन पर काव्योचित कल्पना का आवरण चढ़ा दिया गया और अवतार तैयार हो गये। वे भी केवल मनोरञ्जन के लिये नहीं, विशेष

---

*सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे। मनु, १-२१

उद्देश्य की पूर्ति के लिये, अपने व्यक्तित्व से मानवता का [illegible] करने के लिये। इसका यह अर्थ नहीं है कि इन नामों से सबद्ध [illegible] सब [illegible] है। राम, कृष्ण परशुराम, व्यास आदि व्यक्ति शुद्ध रूप से ऐतिहासिक हैं। इनमें केवल अवतार भाव कवि-कल्पना प्रसूत है। राधा, कृष्ण और गोप शब्दों का भी ऐसा ही इतिहास है। विष्णु शब्द का वेद के अनुसार अर्थ था सर्वव्यापक ईश्वर। जब अवतार की कल्पना हुई तो ब्राह्मण† ग्रन्थों और उपनिषदों में वर्णित नारायण का कृष्ण रूप से अवतार प्रचलित किया गया और नारायण तथा विष्णु§ को भी एक से मिलाया गया। कृष्ण वसुदेव के पुत्र होने के कारण वासुदेव कहलाते ही थे। अतः वासुदेव कृष्ण, नारायण और विष्णु चारों शब्दों का एक में समाहार कर दिया गया। जो कृष्ण महाभारत में वेदवेदाङ्गवेत्ता और राजनीति निपुण योद्धा के रूप से चित्रित किये गये हैं, छान्दोग्य उपनिषद् में जो घोर आंगिरस ऋषि से अध्यात्म विद्या सीखते हैं, वे ही प्रथम सात्वत धर्म के उपदेष्टा एवं गुरु बनते हैं और बाद में भगवान का अवतार ही नहीं, साक्षात् ईश्वर कहलाते हैं।)

भक्ति के द्वितीय उत्थानकाल तक यही बात रहती है। भक्ति के तृतीय एवं चतुर्थ उत्थान के समय परिवर्तन होता है। (वेद के गोपा और व्रज शब्दों को लेकर गोपलीला प्रारम्भ होती है। सूतों की कविकल्पना इस गोपलीला का कृष्ण के बाल जीवन से सम्बन्ध स्थापित करती है। गोपलीला अध्यात्म पक्ष में मानव की चितरंजिनी वृत्ति का नाम है। कृष्ण का गोपियों के साथ रासलीला करना इसी चितरञ्जिनी वृत्ति का विकास रूप परिणाम है। यही वृत्ति आगे चलकर हरिलीला के रूप में परिवर्तित हो जाती है) एक ओर है पावन प्रकृति का समस्त सौन्दर्य, दूसरी ओर है विश्व को विमोहित करने वाला गोविन्द का अनंद हास। इन दोनों के बीच में है जड़ जंगम, (चर-अचर सभी को प्रभावित करने वाली मुरली की तान, वंशी की ध्वनि, संगीत की स्वर लहरी। भक्ति के लिए इससे बढ़कर और कौनसा उत्तम अवसर होगा। जीवन की एक साधारण सी घटना कवि कल्पना से ऊर्जस्वित होकर हृदय को कितना ऊँचा उठा सकती है! कहानी चली। अभी केवल गोपलीला है और विष्णु पुराण अतीव पुनीत भावना

---

†शतपथ ब्रा० १२ ३-४ तथा तैत्तिरीय आरण्यक १०-११

§श्री मद्भागवत में और महाभारत आदि पर्व अ० २२० श्लोक ५ में नारायण एक ऋषि का नाम आता है जो द्वापर के अन्त में कृष्णरूप में प्रगट हुये। इन्हीं नारायण को यज्ञ पुरुष भी कहा गया है। यज्ञ का ही दूसरा नाम विष्णु है—यज्ञो वै विष्णुः।

के साथ उसका चित्रण करता है। अच्छा और आगे बढ़िये—हरिवंश पुराण के दर्शन कीजिये, यहाँ रासलीला—हल्लीप क्रीड़ा—उद्दाम वेग के साथ हो रही है। अनुरंजनकारिणी वृत्ति एकान्त कुंज मे जाकर प्रकृति को पुरुष में घोलने की तैयारी कर रही है! श्रीमद्भागवत में इस संयोजना की संपूर्णता है; पर राधा अब भी अपना नाम छिपाये वैठी है। ब्रह्मवैवर्त मे पहुँच कर राधा अपने सन्तत तरुण, रासरंगानुरक्त, केलिकलित रूप मे खुलकर प्रकट होती है—वह कृष्ण की है, कृष्ण उसके हैं। पुरुप और प्रकृति का अनूठा, अलौकिक सम्मेलन हो जाता है। विधि-निषेध से चिपटे हुये आलोचक इस सम्मिलन मे दुर्वासनाओं की दुर्गन्ध और विलासिता के वीचि-विभ्रम का अनुभव करते हैं। वे भूल जाते हैं कि इसी अवस्था मे जीवन-सौन्दर्य का चरम विकास है, प्रेम की पराकाष्ठा है और प्रणय-पारावार में, आनन्द-अम्बुधि में सर्वतोभावेन मग्न होकर मुक्ति भी पाना है।

इस प्रकार गोपीवल्लभ की कहानी राधाकृष्ण का चरित्र बन कर बाल-गोपाल की उपासना का रूप धारण करती है और इस बाल-गोपाल का सम्बन्ध महाभारत के ज्ञानी, योगिराज श्रीकृष्ण के जीवन के साथ कर दिया जाता है। भक्ति के चतुर्थ उत्थानकाल की रमणीय रत्नों की खान श्रीमद्भागवत का यही तो है जगमगाता हुआ हीरा, जिसे सूर की हीरा जैसी आँखों ने देखा और दूसरों को दिखा दिखा कर दिव्यानन्द लूटा !!

राधा का विकास

जो राधा हमारे जीवन मे आज इतनी घुलमिल गई है उसके सम्बन्ध मे वैष्णव धर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ भागवत में कुछ भी उल्लेख नहीं मिलता। भागवत ही क्यों, महाभारत, हरिवंशपुराण, ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण किसी भी प्राचीन संस्कृत ग्रंथ में राधा का नाम नहीं आता। ईसा के पूर्व प्रथम शतक में लिखे हुये महाकवि भास के नाटकों तक में उसका पता नहीं। हाँ, पंचतन्त्र* में अवश्य राधा का नाम आया है, परन्तु वह अपने वर्तमान रूप मे पाँचवीं शताब्दी से पहले की रचना नहीं है। भागवत के दशमस्कंध के तीसवें अध्याय मे एक ऐसी गोपी का उल्लेख अवश्य है जो कृष्ण को सर्वाधिक प्यारी† थी। इसका वर्णन भागवत में

---

*पंचतन्त्र नृसिंहदेव शास्त्री संस्करण १९३२ ई० पृष्ठ १२१-२२

†अथर्ववेद की गोपालतापनी उपनिषद में भी एक प्रधान गोपी की कथा है, जिसे कृष्ण अधिक प्यार करते थे, पर इसका नाम वहाँ गांधर्वी दिया हुआ है।

इस प्रकार है:—रासलीला के बीच गोपियों का गर्व दूर करने के लिये जब कृष्ण अन्तर्धान हो गये, तो गोपियाँ वृन्दावन के वृक्ष और लता आदि से श्रीकृष्ण का पता पूछने लगीं। इसी समय उन्होंने एक स्थान पर भगवान के चरण-चिह्न देखे। वे आपस में कहने लगीं — अवश्य ही ये चरण-चिह्न नन्दनन्दन श्यामसुन्दर के हैं, क्योंकि इनमें ध्वजा कमल, वज्र, अंकुश और जौ आदि के चिह्न स्पष्ट ही दीख रहे हैं।' उन चरण-चिह्नों के द्वारा व्रजवल्लभ भगवान को ढूँढती हुई गोपियाँ आगे बढ़ीं। तब उन्हें श्रीकृष्ण के साथ किसी व्रज-युवती के भी चरण-चिह्न दीख पड़े, जिन्हें देखकर वे व्याकुल हो गईं और आपस में कहने लगीं—"जैसे हथिनी अपने प्रियतम गजराज के साथ गई हो, वैसे ही नन्दनन्दन श्यामसुन्दर के साथ उनके कंधे पर हाथ रखकर चलने वाली किस बड़भागिनी के ये चरण-चिह्न हैं ?"‡ फिर लिखा है:—

अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद् रहः॥ २८॥

अर्थात् अवश्य ही सर्वशक्तिमान भगवान श्रीकृष्ण की इसने आराधना की है। तभी तो हमें छोड़कर वे प्रसन्न हो इसे एकांत में ले गये हैं।

(भागवत के इस उद्धरण से यह तो प्रतीत होता है कि यह गोपी कृष्ण को उनकी आराधना करने के कारण बहुत प्यारी थी, परन्तु भागवतकार इसका नाम राधा नहीं बताता। सम्भव है, बाद में किसी कवि ने 'आराधितः' शब्द से राधा की कल्पना कर ली हो।§ राधा शब्द ग्राम्य-गीतों में भागवत निर्माण से पूर्व ही प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था, जैसा हम पीछे 'गाथा सप्तशती' नाम के प्राकृत काव्य-ग्रन्थ से सिद्ध कर चुके हैं। अतः 'आराधितः' से राधा शब्द की उद्भावना कर लेना कठिन कार्य नहीं था। कृष्ण की जो आराधिका है, वही राधा या राधिका है।)

वैष्णव धर्म के आचार्य वल्लभ, निम्बार्क तथा चैतन्य माया अथवा शक्ति को भगवान की ह्लादिनी शक्ति कहते हैं। सम्भव है राधा इसी ह्लादिनी शक्ति का रूपान्तर हो। जीवगोस्वामी ने उज्ज्वल नील मणि की टीका में एक स्थान पर राधा को कृष्ण की स्वरूपाह्लादिनी शक्ति कहा भी है।

---

‡कल्याण के भागवतांक से उद्धृत।

§वृहद् ब्रह्म संहिता, द्वितीय पाद, चतुर्थ अध्याय, श्लोक १७४ में राधा शब्द की यही व्युत्पत्ति लिखी है:—

त्वया चाऽऽराधितो यस्मादहं कुञ्जमहोत्सवे।
राधेति नाम विख्याता रासलीला विधायिका।

चौथी और पाँचवी शताब्दी तक शिव और पार्वती हिन्दुओं में उपास्य देव के रूप में प्रचलित हो गये थे। कुछ विद्वानों की सम्मति से इन्हीं शिव और पार्वती के अनुकरण पर सम्भवतः हिंदुओं में विष्णु और श्री की पूजा प्रारम्भ हुई। विष्णु पुराण में विष्णु के साथ श्री* अर्थात् लक्ष्मी जुड़ी हुई है। महाभारत के नारायणीय अध्याय में विष्णु को श्वेत दीप का निवासी कहा गया है। नारायण का निवास-स्थान भी जल है।† अतः नारायण और विष्णु एक ही है। नारायण के साथ भी लक्ष्मी‡ ही रहती है। यजुर्वेद के पुरुषसूक्त में "श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ" (३१-२२) कह कर रूपक द्वारा यज्ञ पुरुष विष्णु की श्री और लक्ष्मी दो पत्नियाँ मानी गई हैं। कृष्ण विष्णु और नारायण के अवतार हैं। अतः लक्ष्मी का सम्बन्ध कृष्ण के साथ भी स्थापित हुआ। इसी लक्ष्मी को निम्बार्क ने वृषभानुजा राधा कह कर, जो एक सहस्र सखियों के साथ विहार करती है, कृष्ण की शाश्वत पत्नी के रूप में उपस्थित किया।

पीछे हम लिख चुके है कि वैदिक आचार्यों के सतत प्रयत्न द्वारा बौद्ध धर्म छिन्नभिन्न हो गया था और ईसा की प्रथम शताब्दी में ही उसमें महायान और हीनयान नाम की दो शाखायें हो गई थीं, साधारण जनता भी भिक्षु—भिक्षुणियों की व्यभिचार लीला से तंग आकर भागवत भक्ति की ओर आकर्षित हो रही थी। बौद्धों ने इसी समय अपना प्रभाव जमाने के लिये तन्त्रवाद का आश्रय लिया। इस मत के अनुसार आत्मा ही शिव है, जो अपनी शक्ति के रस को ग्रहण किया करता है। तन्त्रवाद में स्त्री—पूजा इसी शक्ति का प्रतीक मानी जाती है। शाक्तमत का यह प्रभाव पूर्व तथा उत्तराखण्ड में सर्वत्र फैल गया था। सम्भव है, इसी शक्ति के अनुकरण पर राधा का निर्माण हुआ हो।

भाण्डारकर कहते हैं कि राधा सीरिया से आये आभीरों की इष्ट देवी है। आभीरों के यहाँ बस जाने पर उनके बाल गोपाल सात्वतधर्म के उपदेष्टा भगवान कृष्ण के साथ सम्मिलित हो गये और कुछ शताब्दियों के पश्चात् आभीरों की इष्टदेवी राधा भी आर्य जाति में स्वीकार कर ली गई। यही कारण है कि प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में ह। बालगोपाल की लीला तो मिलती है, पर राधा का नाम नहीं मिलता। इस कल्पना के एक अंश का खण्डन हम पीछे कर चुके हैं। कल्पना के अवशिष्ट अंश के सम्बन्ध में हमें विशेष अपत्ति नहीं है।

---

*नित्यैव सा जगन्माता विष्णोः श्री रनपायिनी ॥ १५ ॥

विष्णु पुराण प्रथम अंश, अध्याय ८

†आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
तायदस्यायनं प्रोक्तं तेन नारायणः स्मृतः॥ मनु० १·१०

‡तृष्णा लक्ष्मीर्जगत्स्वामी लोभो नारायणः परः। विष्णु० १-८-२१

पाँचवीं शताब्दी के पश्चात् जो संस्कृत साहित्य निर्मित हुआ उसमें राधा का उल्लेख कई स्थानों पर है। (१) आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक में, (२) क्षेमेन्द्र के दशावतार चरित में, (३) धनंजय के दशरूपक में, (४) भोज के सरस्वती कण्ठाभरण में राधा का नाम आया है। देवगिरि और पहाड़पुर की मूर्तियों को पुरातत्व वेत्ताओं ने राधा और कृष्ण की प्रेमलीलाओं की मूर्ति बताया है। दशवीं शताब्दी के कतिपय शिलालेखों और ताम्रपत्रों में भी राधा विषयक श्लोक आये हैं। पर राधा को दार्शनिक रूप में उपस्थित करने वाले सर्वप्रथम आचार्य निम्बार्क ही प्रतीत होते हैं।

ब्रह्मवैवर्त पुराणकार ने तो राधा की स्थापना उसके समग्र रूप में कर दी है। अनेक विद्वानों के मतानुसार यह पुराण अपने वर्तमान रूप में बहुत अर्वाचीन है। इस पुराण में आये हुए मोदक, जोला, वैद्य, गणक, अग्रदानी आदि शब्द बंगाल में प्रचलित जातियों के नाम हैं। बंगीय वैष्णव भक्तों पर ही इस पुराण की राधा-कृष्ण-सम्बन्धी पूजा का सर्वप्रथम अधिक प्रभाव पड़ा। अतः ब्रह्मवैवर्त अपने वर्तमान रूप में निश्चित रूप से किसी बंगाली पण्डित की रचना है।

इस पुराण ने भक्ति के स्वरूप को ही बदल दिया। राधाचरित्र की पूर्ण प्रतिष्ठा का श्रेय भी इसी पुराण को देना पड़ेगा। भक्ति के इस परिवर्तित रूप ने बंगीय वैष्णव धर्म को माधुर्य-प्रधान बना दिया। समस्त बंगाल राधाकृष्ण की केलि-कल्लोलों में अवगाहन करने लगा। जयदेव ने इसी नूतन वैष्णव धर्म का अवलम्बन करके गीतगोविन्द की रचना की। गीतगोविन्द के पश्चात् बँगला, मैथिली, हिन्दी आदि भाषाओं में इस प्रकार की रचनाओं की बाढ़-सी आगई। महात्मा चैतन्य ने धर्म की इसी अभिनव धारा का आश्रय लेकर मधुर रसपूर्ण रागानुगा भक्ति का प्रचार किया।

इस नूतन धर्म का मूल बीज सांख्यशास्त्र के पुरुष प्रकृतिवाद में था, जो शिव और शक्ति के रूप में तन्त्रमत में स्वीकृत हुआ। बौद्धधर्म की वज्रयान शाखा का साधना पथ भी इसी तन्त्रमत की शक्ति को ध्येय मानकर अग्रसर हुआ। शक्तिवाद ने विद्वत्सम्प्रदाय एवं साधारण जनता दोनों को अधिक आकर्षित किया। वैष्णवों का विशिष्टाद्वैतवाद इस शक्तिवाद के सामने बंगीय भक्तों को सन्तुष्ट न कर सका। सम्भवतः इसी कारण उनकी मनस्तुष्टि के लिए ब्रह्मवैवर्तकार ने वैष्णवधर्म में इस तांत्रिक मत का समावेश कर दिया।

अतः हमारी सम्मति में इस नवीन वैष्णव धर्म की राधा अपने मूलरूप में सांख्य की प्रकृति ही है। ब्रह्मवैवर्त पुराण के श्रीकृष्ण जन्मखण्ड अध्याय १५ में लिखा है.—

ममार्द्धांश स्वरूपात्वं मूल प्रकृतिरीश्वरी। ६६
तथा— यथा त्वञ्च तथाऽहञ्च भेदोहि नावयो ध्रुवम्;
यथा क्षीरेच धावल्यं यथाग्नौ दाहिका सती ॥५७॥
यथा पृथिव्यां गन्धश्च तथाहं त्वयि सन्ततम् ॥५६॥
विना मृदा घटं कर्तुं विना स्वर्णेन कुण्डलम्।
कुलालः स्वर्णकारश्च नहि शक्तः कदाचन ॥६०॥
तथा त्वया विना सृष्टिं न च कर्तुमहं क्षमः।
सृष्टे राधारभूतात्वं बीज रूपोऽहमच्युतः ॥६१॥

(इन श्लोकों मे कृष्ण स्पष्टरूप से राधा को अपना अर्धांश और मूलप्रकृति कहते हैं। आगे लिखा है कि कृष्ण और राधा दोनों में कोई भेद नहीं है। जैसे दूध मे उज्ज्वलता है, अग्नि मे दाहक शक्ति है, पृथिवी मे गन्ध है, उसी प्रकार कृष्ण अपनी मूल प्रकृति राधा में रहते है। इसके पश्चात् लिखा है कि जैसे कुम्भकार मिट्टी के बिना घड़ा नहीं बना सकता, स्वर्णकार सोने के बिना कुण्डल नहीं बना सकता, इसी प्रकार कृष्ण राधा के बिना सृष्टि की रचना नही कर सकते। राधा सृष्टि का आधार है और कृष्ण अविनश्वर बीज रूप है।)

महात्मा सूरदास ने भी राधा कृष्ण में अभेद गी स्थापना की है। नीचे लिखी सूर-सागर की पंक्तियों पर विचार कीजिये—

प्रकृति पुरुष एकै करि जानहु, बातनि भेद करायो॥

तथा

गोपी ग्वाल कान्ह दुई नाही, ये कहुँ नेक न न्यारे॥

जैसे ब्रह्मवैवर्तकार ने राधा को प्रकृति कहा है, वैसे ही विष्णु पुराणकार ने श्री* को नित्य जगन्माता प्रकृति कह कर पुकारा है। जैसे ब्रह्मवैवर्तकार राधा और कृष्ण मे कोई भेद नहीं मानता, उसी प्रकार विष्णुपुराणकार भी श्री और विष्णु दोनों को एक कहता है। जो सम्बन्ध अर्थ और वाणी में है, धर्म और क्रिया में है, बोध और बुद्धि में है, काम और इच्छा में है, यज्ञ और दक्षिणा मे है, साम और उद्गीति में है, अग्नि और स्वाहा मे है, सूर्य और प्रभा में है,

---

* नित्यैव सा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी॥ विष्णुपुराण १ ८-१५ श्वेताश्वतर उपनिषद १-६ और ४-५ तथा बृहद् ब्रह्मसंहिता जो नारद पांचरात्र के अन्तर्गत है, के १-८ और २-३६ मे इसी को अजा कहा गया है।

श्वेता० ४-१० मे मायां तु प्रकृतिं विद्यात् कहकर इसी प्रकृति को माया तथा बृहदा० १-६ में इसी को नाम, रूप, अनात्मा तथा माया कहा गया है।

चन्द्र और ज्योत्स्ना में है, वही सम्बन्ध विष्णु और श्री में है। मालोपमा तथा निदर्शना अलकारों के द्वारा इस स्थल पर विष्णु पुराण मे विष्णु और श्री के सम्बन्ध को स्पष्ट किया गया है।

हमारी समझ में नवीन वेदान्त के मायावाद के मूल में भी यही प्रकृति-वाद है, जो तन्त्रमत में शक्तिवाद के रूप मे स्वीकृत हुआ। यही शक्ति श्री और राधा बनी।

ब्रह्मवैवर्तकार ने राधा शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ और लिखी हैं। एक व्युत्पत्ति में रास† से 'रा' और 'धा' धातु के 'धा' को लेकर राधा शब्द की सिद्धि की गई है और दूसरी व्युत्पत्ति मे रा को दान वाचक और धा को निर्वाण वाचक मान कर राधा को निर्वाण‡ प्रदात्री कहा गया है। ब्रह्मवैवर्त मे राधा और कृष्ण का विवाह भी वर्णित है।

इसी ब्रह्मवैवर्त के श्रीकृष्ण जन्मखण्ड अध्याय १५ के प्रथम ७ श्लोकों की कथा के आधार पर गीतगोविंद का यह प्रथम श्लोक बना है:—

मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमाल द्रुमैः।
नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय ॥
इत्थं नन्द निदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमम्।
राधा माधवयो जयन्ति यमुना कूले रहः केलयः ॥

गीत गोविंद मे राधा का नूपुरशिंजन रुनझुन करने लगा है। इस ग्रंथ की रचना बारहवीं शताब्दी के प्रथम भाग में हुई थी। गीतगोविन्द के समकालीन आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक मे भी राधा विद्यमान है:—

तेषां गोप वधू विलास सुहृदो राधा रहः साक्षिणाम्।
क्षेमं भद्र कलिन्दराजतनया तीरे लता वेश्मनाम् ॥

ब्रह्मवैवर्तपुराण के जो श्लोक हमने पीछे उद्धृत किये है, उनमे राधा और कृष्ण में जहाँ अभेद स्थापना की गई है वहाँ राधा को कृष्ण की पूरक शक्ति भी कहा गया है। राधा के बिना कृष्ण अधूरे हैं। वे अकेले कुछ भी नहीं कर सकते। जैसे मिट्टी के विना कुम्भकार अपना कार्य नहीं कर सकता, वैसे ही कृष्ण राधा के बिना संसार की रचना नही कर सकते। यहाँ राधा आश्रित है और कृष्ण आश्रय। कुछ दिनों बाद इस भाव ने भी पलटा खाया। कृष्ण आश्रित बन गए और राधा

---

† रासे संभूय गोलोके सादधाव हरेः पुरः।
तेन राधा समाख्याता पुराविद्भिः द्विजोत्तम्। ब्रह्मखण्ड अध्याय ५

‡ ...राकारो दान-वाचकः। धा निर्वाणञ्च तद्दात्री तेन राधा प्रकीर्तिता
श्रीकृष्ण जन्मखण्ड, अध्याय २३

आश्रय । कृष्ण का अस्तित्व राधा के आश्रय से है, अतः राधा ही सब कुछ है । हिन्दी के रीतिकाल का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी जानते होंगे कि बिहारी ने अपनी सतसई के प्रारम्भ में, प्रथम दोहे मे ही राधा की वन्दना की है ।

दक्षिण की देन

पीछे हमने लिखा है कि बाल गोपाल भक्ति की अभिनवधारा सम्भवतः दक्षिण से प्रभावित हुई । बंगाल मे ब्रह्मवैवर्तकार एवं निम्बार्क के प्रभाव से चैतन्य और चंडीदास में वह एक रूप मे प्रकट हुई, गुजरात में मध्व भट्ट की शिक्षा के फलस्वरूप नरसी महता के पदों में उसका दूसरा रूप दृष्टिगोचर हुआ और वृन्दावन में आचार्य वल्लभ द्वारा अनुप्राणित होकर सूर की रचनाओं मे उसका तीसरा रूप दिखाई पड़ा ।

दक्षिण में इस भक्ति का स्वरूप सातवीं शताब्दी में ही प्रकट हो गया था । दक्षिणी आचार्यों ने हिन्दी की कृष्ण-भक्ति-शाखा पर पर्याप्त प्रभाव डाला है । अतः संक्षेप मे इनका उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है । वैष्णवधर्म की आड्वार शाखा के अन्तर्गत दक्षिण में कई वैष्णव भक्त और आचार्य उत्पन्न हुए हैं । इन्हीं मे नामोद्री वश मे उत्पन्न शठकोप नाम के एक श्रेष्ठ वैष्णव सन्त थे । इनके लिखे चार ग्रंथ तामिल मे चार वेद कहलाते हैं । इन ग्रन्थों में सरल, भावुक भाषा में विष्णु के अवतारों के गान हैं जिन्होंने कवियों, भक्तों एवं दार्शनिकों को समान रूप से प्रभावित किया है । शठकोप का नाम वैष्णव धर्म मे बड़े आदर के साथ लिया जाता है ।

आड्वार शाखा मे ही मालावार के राजा कुल शेखर हुए है, जिनकी लिखी मुकुन्दमाला गीतगोविन्द के टक्कर की मानी जाती है ।

दक्षिणी वैष्णवों में गोदा नाम की ब्रह्मचारिणी स्त्री भी हुई है । इसने श्रीरङ्गम को अपना जीवन समर्पित कर दिया था । यह बड़ी भावुक थी । इसके गीतों में विष्णु के लिये पूर्ण समर्पण और एकनिष्ठा की भावना भरी हुई है । यह कहा करती थीः—भगवान भक्त के वश मे हैं । प्रभु की शाश्वत अनन्त कृपा से ही भगवद्भक्ति प्राप्त होती है । जातपांत का बन्धन भक्ति मे आवश्यक नहीं है । साधक, चाहे स्त्री हो चाहे पुरुष, ब्राह्मण हो चाहे शूद्र, यदि उसमें प्रेम और समर्पण की भावना हैं, तो वह सच्चा भक्त है ।

हम देखते हैं कि दक्षिण से आये हुए बाद के आचार्यों ने भी भक्ति के क्षेत्र में शूद्र और ब्राह्मण के भेद को मिटा दिया था । दक्षिण मे ही कदाचित् सर्व प्रथम वैष्णव मन्दिर बने और मूर्ति-पूजन की पद्धति निर्मित हुई । ८२४ ई० मे वेदशास्त्र में पारंगत रघुनाथ मुनि नाम के एक योगी हुए । इन्होंने संस्कृत

के स्थान पर लोक-भाषाओं का महत्व स्थापित किया और उनमें लिखे हुए गानों को श्रीरङ्ग मन्दिर में गवाया। इस प्रकार दक्षिण मे कीर्तन की प्रथा प्रारम्भ हुई और लोक भाषा मे लिखे हुए प्रबन्धों को वेद का स्थान प्राप्त हुआ। गुरु में प्रायः ये सभी सन्त प्रभु के समान विश्वास रखते थे। रघुनाथ मुनि ने ही तप आदि पाँच संस्कारों का प्रचार किया और भक्त को प्रपन्न संज्ञा प्रदान की। श्रीरङ्ग मन्दिर के प्रथम महन्त यही थे। इसके बाद पुण्डरीकाक्ष और राममिश्र आचार्य हुये। ९७५ मे यवन अथवा यामुन नाम के आचार्य हुए, जिन्होंने महा पुराण निर्णय आदि ग्रन्थों की रचना की और विष्णु को महापुरुष बना दिया। इन्हीं के शिष्य रामानुज थे, जिन्होंने विशिष्ठाद्वैतवाद की स्थापना की। वैष्णव धर्म के प्रायः सभी आचार्यों ने शंकर के मायासंवलित अद्वैतवाद का खण्डन किया है। रामानुज ने वेदान्तसार, वेदान्त संग्रह, वेदान्तदीप, ब्रह्मसूत्रों पर श्रीभाष्य, गीता भाष्य आदि कई ग्रथ लिखे। भोक्ता, भोग्य और प्रेरक तीनों को ये मानते थे। जीव और प्रकृति को ब्रह्म का शरीर कहते थे। ईश्वर को सतचित-विशिष्ट मानने के कारण इनका मत विशिष्टाद्वैतवाद कहा जाता है। इनके मत से जीव और प्रकृति प्रलय होने पर ब्रह्म में सूक्ष्म रूप रहते हैं। यह ब्रह्म भक्तों पर अनुग्रह करता है, सुन्दरता की सीमा है और सच्चिदानन्द है। शूद्र और ब्राह्मण सब उसको समान रूप से प्रिय है।

रामानुज के मतानुसार ईश्वर पाँच रूपों मे अपने को प्रकट करता है:—

(१) पर स्त्रियों से सेवित वैकुण्ठवासी शङ्ख-चक्र, गदा-पद्मधारी नारायण (२) व्यूह (वासुदेव=परब्रह्म, संकर्षण = प्राणी; प्रद्युम्न=मन और बुद्धि=अनिरुद्ध= अहंकार), (३) विभव (दशावतार), (४) अन्तर्यामी (सर्व-व्यापक) और (५) अर्चावतार (मूर्तियों मे व्यापक, सबको सुलभ)। श्री (लक्ष्मी), भू, और लीला इस ईश्वर की पत्नियाँ हैं। ईश्वर सृष्टि की रचना केवल लीला (खेल) के लिये करता है। यह लीला प्रलय मे भी समाप्त नहीं होती।

वैष्णव धर्म के आचार्यों का शकर से कई बातों में मतभेद है। शंकर केवल ब्रह्म को सत्य मानते है, पर वैष्णव धर्म मे जीव और प्रकृति भी सत्य माने जाते हैं। शकर का मुक्त जीव ब्रह्म हो जाता है, परन्तु वैष्णव धर्म में मुक्त जीव ब्रह्म से भिन्न रह कर वैकुण्ठ मे प्रभु की सेवा करता है। शंकर ब्रह्म को निर्गुण मानते थे, परन्तु वैष्णव आचार्यों ने उसे सगुण कहा है। शंकर की दृष्टि में जगत मिथ्या है, वैष्णव धर्म मे उसे सत्य माना गया है।

रामानुज के अनुसार बद्ध जीव प्रभु के अनुग्रह के बिना मुक्त नहीं हो सकता। आचार्य वल्लभ ने इसी अनुग्रह को आगे चल कर पुष्टि नाम दिया। रामानुज भक्ति के उदय के लिये निष्काम कर्म और ज्ञान को आवश्यक समझते

थे। इनके मत में नारायण वासुदेव ही परम दैवत हैं। इनकी भक्ति में शृङ्गारी तत्व अर्थात् राधाकृष्ण की केलियाँ नहीं थीं। रामानुज का सम्प्रदाय श्री सम्प्रदाय कहलाता है।

मध्व भट्ट (१२वीं शताब्दी) ने रामानुज के पश्चात् वैष्णव धर्म के द्वैतवाद की पुष्टि की। मध्व ने ईश्वर को निमित्तकारण तथा जीव और प्रकृति दोनों से भिन्न बतलाया है। ईश्वर का अवतार भी इन्होंने माना है। गोपाल-कृष्ण का रूप मध्व मत में दिखलाई नहीं देता। इनका सम्प्रदाय ब्रह्म सम्प्रदाय कहलाता है।

आचार्य निम्बार्क का दूसरा नाम भास्कराचार्य था। ईसा की बारहवीं शताब्दी में इन्होंने द्वैताद्वैत मत की स्थापना की। इनके मत में जीव और प्रकृति ब्रह्म से पृथक है भी और नहीं भी—यह विचार शंकर के पूर्व भी प्रचलित था। इन्होंने वेदान्तपारिजात सौरभ, दशश्लोकी और श्रीकृष्ण स्तवराज ग्रन्थों की रचना की। इनके मत में जीव मुक्त होने पर भी कर्त्ता बना रहता है। यह ज्ञेय और ज्ञान दोनों है। माया के कारण जीव बद्ध होता है, पर प्रभु के अनुग्रह से मुक्त हो जाता है।

निम्बार्क ने प्रभु को सगुण बतलाया और कहा कि वह कृष्ण ही है—'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'। कृष्ण के चरण-कमल में समर्पण करना ही मुक्ति का प्रधान कारण है। एक सहस्र सखियों के साथ विहार करने वाली वृषभानुजा राधाकृष्ण की शाश्वत पत्नी हैं। सच्चिदानन्द ब्रह्म विराज लोक में निवास करता है। निम्बार्क से गौड़ीय (वंगीय) सम्प्रदाय अधिक प्रभावित हुआ। निम्बार्क का सम्प्रदाय सनक सम्प्रदाय कहलाता है।

ब्रज का क्षेत्र आचार्य वल्लभ के प्रेम की क्रीड़ाभूमि बना। वैष्णवों में रुद्र सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री विष्णु स्वामी के सिद्धान्तों से इनके सिद्धान्तों का अधिक साम्य है। ये १४७९ से १५३२ ई० तक जीवित रहे। ये दाक्षिणात्य तैलंग ब्राह्मण लक्ष्मण भट्ट के द्वितीय पुत्र और नारायण भट्ट के शिष्य थे। राजा कृष्णदेव की सभा में इन्होंने शैवों को पराजित किया। दक्षिण से ये वृन्दावन आये और बालकृष्ण की भक्ति एवं पुष्टि मार्ग की स्थापना की। प्रयाग के समीप अड़ैल में ये रहा करते थे। अद्वैतवाद का खण्डन करते हुए वल्लभ कहते हैं कि ब्रह्म कभी माया द्वारा अभिभूत नहीं हो सकता। वह माया सम्बन्ध से रहित और शुद्ध है। इसीलिए इनका मत शुद्धाद्वैतवाद कहलाता है। शंकर ने ब्रह्म को निर्गुण और माया के कारण सगुण-सा भासित होने वाला कहा था। वल्लभ ने कहा, ब्रह्म माया के कारण नहीं, वरन् स्वतः रूप से सगुण है। ब्रह्म और उससे बना जगत दोनों एक ही है। जैसे कुण्डल से स्वर्ण भिन्न नहीं है, वैसे ही

जगत से ब्रह्म पृथक नहीं है। सृष्टि-रचना उसकी लीला करने की इच्छा से होती है। ईश्वर से जीव अग्नि से चिनगारी की तरह प्रकट होता है। अज्ञानी जीव ज्ञान द्वारा स्वरूप-ज्ञान प्राप्त करता है और भक्ति द्वारा मोक्ष लाभ करता है। मेरा-तेरा-पन ही संसार कहलाता है, जो काल्पनिक है। विश्व प्रभु की शाश्वत लीला है। धन्य हैं वे, जो इस लीला को देखते और आनन्द मे भाग लेते है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैष्णव धर्म अपने प्रारम्भ काल से ही दक्षिण से भक्ति प्रधान रहा है, जिसमें वर्ण विशेषता को कभी महत्व नहीं मिला। गुरु को प्रभु के समान समझना, प्रभु के सगुण रूप की उपासना करना, भगवान की शाश्वत लीला मे भाग लेना, आत्म-समर्पण और प्रेम इस धर्म के प्रमुख अङ्ग थे। अद्वैत भावना भी किसी न किसी रूप मे इस भक्ति के साथ चिपटी रही। महाकवि सूर ने वैष्णव धर्म के इन सभी अङ्गों को आत्मसात किया और उनको अपनी प्रतिभा से वह रूप प्रदान किया, जो आज तक हिन्दू जाति मे जगमगा रहा है।

वंगीय प्रभाव

वंगीय वैष्णव भक्ति का मूल स्रोत ब्रह्मवैवर्त पुराण है, जिसमे तन्त्रमत के शक्तिवाद को भागवत धर्म के ईश्वरवाद मे मिला कर एक नवीन सम्प्रदाय खड़ा किया गया। वंगीय भक्तों पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। निम्बार्क के सनक सम्प्रदाय का भी इस नूतन भक्ति-मार्ग के निर्माण मे कम हाथ नहीं है। चैतन्य ने निम्बार्क से ही इस भक्ति के तत्व ग्रहण किये थे। उनके पश्चात् वंगीय कवियो के काव्यों मे यह भक्ति बराबर प्रस्फुटित होती रही।

चैतन्य १४८६ ई० में नवद्वीप मे उत्पन्न हुए थे। अन्य वैष्णव आचार्यों की भाँति इन्होंने भी वेदान्तियों को पराजित किया। संन्यास लेकर ये पुरी में रहते और जगन्नाथ के मन्दिर मे कीर्तन किया करते थे। कहते हैं, कृष्ण ने ही राधा का वियोग अनुभव करने के लिए चैतन्य के रूप मे अवतार लिया था। ये कृष्ण को साक्षात् सच्चिदानन्द ब्रह्म मानते थे। इनके मतानुसार सत-चित अर्थात् प्रकृति-जीव उसी ब्रह्म के गुण हैं और आनन्द उसका मूल रूप है। राधा मे ये महाभाव, दिव्य प्रेम का अनुभव करते थे। मुक्त होने पर ये भी भक्त को कृष्ण के माधुर्य का आस्वादन करने के लिए उनका शाश्वत साथी बना देते है। चैतन्य की भक्ति रागानुगा कहलाती है, जिसमे शूद्र-ब्राह्मण सभी का अधिकार है। अपने भक्तों के साथ ये वृन्दावन में भी कुछ दिन आकर रहे थे और १५३३ ई० मे कृष्णधाम में विलीन हो गये।

चैतन्य ने एक ओर बङ्गीय भक्तों को अपनी मादक भक्ति से प्रभावित किया और दूसरी ओर उनके वृन्दावन वास ने व्रज के कवि-हृदयों पर अपनी मोहनी डाली। चैतन्य के पूर्ववर्ती विद्यापति, उमापति, चण्डीदास प्रभृति सभी कवि जयदेव के गीत-गोविन्द की कोमलकान्त पदावली पर मुग्ध हो चुके थे और उसके अनुकरण पर अनेक गीत-काव्यों की रचना भी हो चुकी थी। सूरदास को राधाकृष्ण-सम्बन्धी जो कोमल पदावली, गीति काव्य और भाव-सम्पत्ति प्राप्त हुई उसका मूलस्रोत इन्हीं पूर्व के कवियों की रचनाओं में था। परन्तु पूर्व के कवि अधिकतर भावना-प्रधान थे। राधा और कृष्ण पर लिखे गये उनके गीतों की आधारभूमि अधिकतर शृंगारिक मादकता है। स्वतन्त्र सूझ के धनी सूर ने इनसे कोमल-कान्त-श्रुतिमधुर पद ग्रहण कर लिये, भाव-सम्पत्ति भी उधार ले ली, पर इस भावना-प्रधान मादक शृंगारमयी आधार-भूमि को उसने उपासना की पावन वेदी में परिवर्तित कर दिया।

(बालगोपाल के साथ राधा की पूजा भी अनिवार्य समझी जाती थी। यह राधा ब्रह्मवैवर्त में कृष्ण की विवाहिता पत्नी बन चुकी थी। निम्बार्क इसे कृष्ण की शाश्वत पत्नी के रूप में उपस्थित कर चुके थे। फिर भी इन पूर्वीय बंग कवियों की रचनाओं में वह परकीया के रूप में ही ग्रहण की गई। अशास्त्रीय एवं भावना-प्रधान मार्गों में प्रायः मर्यादा का ध्यान नहीं रखा जाता। सम्भवतः इसीलिये विद्यापति आदि की पदावलियों में कृष्ण का राधा के प्रति वही प्रेम प्रकट हो रहा है, जो परकीया के प्रति प्रदर्शित किया जाता है। सूर ने स्वतन्त्र मार्ग ग्रहण किया और राधा को परकीया नहीं; स्वकीया के रूप में चित्रित किया। बंगीय कवियों की कृतियों में राधाकृष्ण के विवाह का प्रसंग कहीं नहीं मिलेगा, पर सूर ने राधा और कृष्ण का विवाह बड़ी धूमधाम के साथ कराया है और इस प्रेम को शास्त्र-मर्यादा के अन्तर्गत स्थान दे दिया है।)

बंगीय कवियों में यह परकीया-प्रेम एक साथ नहीं फूट पड़ा था। आचार-भ्रष्ट बौद्ध धर्म के विहारों की विहार लीला में इसका मूल स्रोत था। मध्यकालीन नाटकों में भिक्षुणियों को जो दूती-कार्य सौंपा गया है, वह साधार और वास्तविक घटनाओं पर आश्रित है। भ्रष्ट बौद्ध उत्तराखण्ड से निकलकर, बंग, कलिंग और कामरूप के अंचल में ही वेष बदलकर रक्षा पा सके थे। बंगाल के आउल, बाउल और सहजिया पथ जो प्रेममूलक साधना और परकीया प्रेम को लेकर, चले, इसी बौद्ध धर्म के अवशिष्ट अंग थे। बंगाल में १२वीं से १४वीं शताब्दी तक के प्राप्त हुए ताम्रशासन-पत्रों पर शंकर-पार्वती की हाव-भाव-आलिंगनमयी

वन्दनाओं का पाया जाना, पुरी और कोणार्क के मन्दिरों पर अश्लील चित्रों का अङ्कित होना, हिमालय की तलहटी मे वसे रंगपुर और दीनाजपुर मे बारहवीं तथा तेरहवीं शताब्दी में प्रचलित राधाकृष्ण-सम्बन्धी अश्लील धमालियों का पाया जाना अकारण नही है। कहते है कि ये धमालियाँ दो प्रकार की थीः— असल धमाली और शुक्ल धमाली। असल धमाली का अपर नाम कृष्ण धमाली है। इनमे इतने अश्लील गाने रहते थे कि ग्राम के बाहर ही वे गाये जा सकते थे (पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते है कि चण्डीदास के कृष्ण-कीर्तन मे, जो शुक्ल धमाली का संशोधित संस्करण है, कम अश्लीलता नही है*। इससे प्रकट होता है कि वंगीय वैष्णव भक्ति किन परिस्थितियों मे परकीया प्रेम को स्वीकार करने के लिए बाध्य हुई। पर इस शृंगारिक अश्लीलता का अखाड़ा बंगाल ही रहा। वहाँ से चैतन्यादि के साथ चलकर यह ब्रज मे पहुँचा, पर वहाँ की मानसिक भूमि इस बीज के लिये उपयुक्त नही थी। ब्रज के कवियों ने अपनी राधा को कृष्ण की रानी के अतिरिक्त और कुछ नही समझा। हाँ, परकीया वाले विनोद, व्यंग्य, कटाक्ष वहाँ भी पहुँचे, परन्तु मर्यादित होकर—थोड़ा-सा उफान लिये हुए।

इस प्रकार पन्द्रहवीं शताब्दी तक अर्थात् हिन्दी साहित्य की सगुण शाखा के प्रारम्भ होने के पूर्व ही, राधा और कृष्ण मानव हृदयों में घर कर चुके थे। वे समस्त हिन्दुओं की रागमयी भावना के विषय बन चुके थे। सूर ने उर-उर में व्याप्त राधाकृष्ण के इसी रूप को अपनी स्वरलहरी का आधार बनाया। सूर के आते-आते राधाकृष्ण का दिव्य प्रेम प्रभु की शाश्वत लीला के रूप मे विकसित हो चुका था। आचार्य वल्लभ की कृपा से सूर ने इस शाश्वत लीला के दर्शन किए। फिर सूम की भाँति इसे छिपाकर नही रक्खा, ढोल बजाकर—गीत गाकर सबको दिखाया भी।

वैष्णव भक्ति के तत्व

(जैसा हम विगत परिच्छेद में लिख चुके हैं, वंगीय भक्ति भावना-प्रधान है और ब्रज की भक्ति प्रेम-प्रधान। वंगीय विद्वानो में महाप्रभु चैतन्य देव के अनुयायियों ने भक्ति का बड़ा ही विशुद्ध वैज्ञानिक विवेचन किया है। वल्लभ के पुष्टि-मार्ग का इस भक्ति से घनिष्ठ सम्बन्ध है, अन्तर केवल इतना ही है कि वल्लभ ने जहां अनुष्ठान को प्रधान स्थान दिया है, वहाँ चैतन्य देव ने राग को।)

---

*सूर साहित्य, पृष्ठ ६३

भक्ति दो प्रकार की मानी गई है :—(१) वैधी और (२) रागानुगा। वैधी भक्ति शास्त्रों के विधि-निषेध का अनुसरण करती हुई चलती है, पर रागानुगा भक्ति शुद्ध रूप से भावना, राग अथवा प्रेम पर अवलम्बित है। "वैधी भक्ति वह धारा है, जो अपने किनारों से बँधी रहती है, पर रागानुगा भक्ति वह बाढ़ है, जो किनारों का बन्धन तो मानती ही नहीं, सामने जो कुछ पड़ जाय उसे भी बहा ले जाती है।"[1] कृष्ण के प्रति गोपियों का प्रेम रागानुगा भक्ति के ही अन्तर्गत आता है। यदि हम गोपियों की-सी भक्ति नहीं कर सकते तो उनका अनुकरण तो अवश्य कर सकते हैं। नन्द रूप से, यशोदा रूप से, गोपी-गोपरूप से यह भक्ति की जा सकती है। परन्तु यह खेल नहीं है, उपनिषद के शब्दों में खरन्धार धार पर चलना है।

रागानुगा भक्ति अन्तिम सीढ़ी है, जिस पर चढ़ने के लिये प्रथम कई सीढ़ियाँ पार कर लेनी पड़ती हैं। इसीलिये आचार्य वल्लभ ने वैधी भक्ति का आश्रय ग्रहण करना अनिवार्य कर दिया था। भक्त एक दम सिद्धि नहीं बन जाता। वह पहले भक्ति में प्रवृत होता है; फिर साधना करके साधक बनता है और अन्त में भक्ति रूपी सिद्धि को प्राप्त करता है। तुलसी और उनकी गुरु परम्परा के आचार्य नरहर्यानंद, रामानन्द आदि सब वैधी भक्ति के प्रचारक और उपासक थे। यह भक्ति शास्त्र और युक्ति सम्मत विधि को लेकर आगे बढ़ती है। इसमें भक्त प्रभु के ऐश्वर्य ज्ञान से सम्पन्न रहता है। आचार्यों ने इसे मर्यादा का मार्ग कहा है। परन्तु रागानुगा भक्ति भगवान की करुणा पर आश्रित है, भगवान का अनुग्रह ही इस भक्ति का पोषण करने वाला है। अतः इसे पुष्टिमार्ग कहा जाता है। इसमें प्रभु के ऐश्वर्य का नहीं; प्रेम और करुणा का महत्व है। वल्लभ, सूर, चैतन्य आदि सन्त इसी भक्ति के उपासक हैं।

रागानुगा भक्ति दो प्रकार की है.-(१) कामरूपा—जैसे गोपियों की भक्ति। कृष्ण सुख के अतिरिक्त इसमें अन्य भावना नहीं रहती। (२) सम्बन्ध रूपा-यह भगवान और भक्त के सम्बन्ध को दृष्टि से चार प्रकार की है:—दास्य, सख्य, वात्सल्य और दाम्पत्य। दास्यभक्ति के आदर्श अन्जनी पुत्र हनुमान हैं। सख्य भक्ति के आदर्श उद्धव, अर्जुन और सुदामा है। वात्सल्य भक्ति के आदर्श को नन्द, यशोदा, वसुदेव और देवकी का भगवान में पुत्र भाव प्रकट कर रहा है। राधा और रुक्मिणी का प्रभु मे पति-प्रेम भक्ति के दाम्पत्य भाव का निदर्शक है। यह दाम्पत्य भाव ही माधुर्य भाव है और सर्वश्रेष्ठ रस का आधार है। माधुर्य भाव से संयुक्त प्रेमी जड़ देह मे वास करता हुआ भी भावना की दशा

[1] सूर साहित्य, पृष्ठ ३१

में सिद्धरूप से निवास करता है। पर लौकिक माधुर्य से इस माधुर्य में भेद है। लोक में मधुर रस, दाम्पत्य भाव, सबसे नीचे—उससे ऊपर वात्सल्य, फिर सख्य, फिर दास्य और सबसे ऊपर शान्त रस है। पर भक्ति में चित्-जगत के निम्नतम भाग में शान्त स्वरूप निर्गुण ब्रह्मलोक, उसके ऊपर दास्य रूप वैकुण्ठ तत्व, उसके ऊपर गोलोकस्थ सख्यरस और सबके ऊपर मधुररस पूर्ण वृन्दावन है, जहाँ परम पुरुष व्रजांगनाओं के साथ क्रीडा करते हैं। बंगीय विद्वानों ने इनके फिर अनेक भेद उपभेद किये है।

आचार्य वल्लभ ने एक अन्य दृष्टि से भक्ति के विकास की चार अवस्थायें मानी हैं—(१) प्रवाह—जिसमे भक्त प्रभु के अनन्त काल से प्रेम की याचना करता चला आ रहा है। प्रभु के प्रति भक्त का वह प्रेम जगत के जटिल जालों से व्यवहित हो जाता है। फिर भी जीव की ईश्वर से मिलने की यह पुकार है शाश्वत। (२) मर्यादा—इस अवस्था में भक्त मन को सब ओर से हटाकर प्रभु में लगाना चाहता है और प्रभु के प्रति उसकी आसक्ति होने लगती है। (३) पुष्टि—जिसमे भगवान के प्रति प्रेम करने का भक्त को व्यसन-सा हो जाता है। (४) शुद्ध पुष्टि—जिसमें भक्त भगवान का कृपापात्र बनकर उसके अनुग्रह को अनुभव करता, गुण-गीत गाता और मस्त रहता है। इस प्रकार के भक्त सायुज्य, सालोक्य, सारूप्य और सामीप्य नाम वाली चतुर्वा मोक्ष को भी छोड़ देते हैं। और सर्वदा हरि-सेवा में लगे रहना ही अच्छा समझते हैं। वे सब मे हरि का दर्शन करते हैं। समस्त विश्व उन्हे हरि-मय प्रतीत होता है। अत. विश्व की सेवा करना इनके लिये हरि-सेवा के समान ही है।

इस भक्ति में राधाकृष्ण की शाश्वत लीला प्रमुख स्थान रखती है। यह लीला कृष्ण ने वृन्दावन मे की थी। आज का वृन्दावन उसका प्रतीक मात्र है।*

---

* भागवत के अनुसार यह लीला—यह रास—यह शाश्वत क्रीडा शरद पूर्णिमा की रात मे हुई थी और कहा जाता है कि यह एक रात्रि ही छह महीने के बराबर बन गई थी। यह लीला अप्रत्यक्ष रूप से तो सर्वदा होती रहती है, पर कभी-कभी प्रभु की कृपा से अवतारों में प्रत्यक्ष भी हो जाती है।

जीवों के साथ रमण या लीला करने के सम्बन्ध में श्रुति कहती है:—
तस्मान्न जात. परोऽन्योऽस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा। प्रजापतिः प्रजया संरराणः त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी।
यजु० ८-३६

भगवान की इस लीला मे भाग लेना ही भक्त के लिये सब कुछ है। जहाँ मर्यादा भक्त अर्थात् वैधी भक्ति करने वाले सायुज्य मुक्ति के अधिकारी होते हैं, हरि के साथ एक हो जाते हैं; वहाँ पुष्टि मार्गीय भक्त ऐसी मुक्ति को तुच्छ समझते हुये हरि लीला में भाग लेना ही अपनी भक्ति का चरम लक्ष्य मानते हैं। उन्नत अवस्था मे भक्ति भी उनके लिए हरि-लीला में भाग लेने के अतिरिक्त और कुछ नही रहती।

ऋगवेद के तृतीय मण्डल, सूक्त ४४, मंत्र ३ मे हरि-लीला का अतीव हृदयग्राही वर्णन मिलता है:—

द्यामिन्द्रो हरिधायसं पृथिवीं हरि वर्पसम्।
अधारयद् हरितोर्भूरि भोजनं ययोरन्तः हरिश्चरत्॥

इस मन्त्र में द्यावा से लेकर पृथिवी तक समग्र संसार को हरिमय चित्रित किया गया है। हरि द्यावा-पृथिवी में रमण कर रहा है। ऊपर देखो, वह हरित आभा वाला आकाश, 'जिसकी प्रातः एवं सन्ध्याकाल की रंग-बिरंगी चित्रकारी उस अनुपम चित्रकार की कला का दिग्दर्शन करा रही है। नीचे देखो यह हरित गर्भा, हरितांचला वसुन्धरा, जो अपनी हरीतिमा से हरिमय बनी हुई है। हरि इस हरितवर्ण पृथ्वी और हरिधायस आकाश के अणु-अणु में, रोम-रोम में रम रहे हैं—अन्तश्चरण करके क्रीड़ा और केलि में निमग्न हो रहे हैं। यही केलि, यही विचरण, यही लीला इस द्यावा-पृथिवी का भोजन है, यही इसका पोषण है। इस अन्तश्चारी लीला के जिसने एक बार भी दर्शन कर लिये, उसका जीवन धन्य है। वल्लभाचार्य ने इस लीला मे भाग लेने को मोक्ष से भी बढ़कर माना है।

आचार्य वल्लभ द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्गीय भक्ति की भी दो शाखायें हो गईं:—(१) एक शाखा में भक्त के लिये प्रयत्न करना आवश्यक समझा गया है। प्रयत्न करने के उपरान्त जब भक्त अशक्त हो जावे, तब उसे प्रपन्न होकर प्रभु की शरण जाना चाहिये, जैसे बन्दर का बच्चा उछलकूद करने के पश्चात् अपनी माँ की शरण जाता है। (२) दूसरी शाखा में भक्त को प्रयत्न करने की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रभु प्रेम स्रोतस्वरूप हैं। जैसे बिल्ली अपने बच्चों की चिंता में म्याऊँ-म्याऊँ करते हुये बच्चों के पास स्वतः पहुँच जाती है, उसी प्रकार प्रभु भी शरणागत भक्त को अपनाने के लिये स्वयं उसके पास आ जाते हैं। भक्त के लिये उन्मुख हो जाना, हृदय में प्रभु-प्राप्ति की पिपासा का जागृत हो जाना ही पर्याप्त है।

गीता के भक्त चार प्रकार के कहे गये हैं:—आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी। इन चारों में ज्ञानी भक्त को ही भगवान ने श्रेष्ठ स्वीकार किया है। सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और नारद ऐसे ही ज्ञानी भक्त थे, प्रशान्त और गम्भीर।

ज्ञानी भक्त उच्च कोटि के विरागी होते हैं। वैष्णव भक्ति मे ज्ञान की निन्दा तो नहीं है, पर उसे भक्ति का सहायक और अवर कोटि का अवश्य माना गया है। गोस्वामी तुलसीदास—"ज्ञानहिं भगतिहि नहि कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा।" कह कर ज्ञान और भक्ति का एक ही परिणाम सिद्ध करते हैं, परन्तु इसी के आगे वाली पंक्तियों से भक्ति को ज्ञान से ऊपर उठा देते हैं:—

ज्ञान कै पन्थ कृपान की धारा, परत खगेश होइ नहिं वारा।
भगति करत विनु जतन प्रयासा, संसृति मूल अविद्या नासा॥

अर्थात् ज्ञान का मार्ग कृपाण की तेज धार है, जिस पर पैर रखते ही मनुष्य का वारा-न्यारा हो जाता है; परन्तु भक्ति करते हुये मनुष्य विना किसी यत्न और प्रयास के संसार के मूलकारण अविद्या को नष्ट कर लेता है। सभी वैष्णव भक्तों ने भक्ति को ज्ञान से ऊँचा पद दिया है। इस भक्ति मे पहले भावुकता अर्थात् कृष्ण विषयक रति का जागरण होता है। यह रति भाव ही सांद्र होकर प्रेम कहलाता है। वैष्णव कवियों ने इस प्रेम की प्रभूत प्रशंसा की है। यह प्रेम प्रेम से ही उत्पन्न होता है और इसी से परमार्थ की प्राप्ति होती है। इसी के द्वारा प्रेम रूप गोपाल से भेंट होती है। प्रेम पैदा नहीं हुआ तो हरिलीला का दर्शन करना असम्भव है।

भक्ति के इन सभी तत्वों को सूर ने अपनी सारग्राही बुद्धि द्वारा ग्रहण किया, पर जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, उन्होंने ज्ञान का तिरस्कार नहीं किया। भ्रमर गीत मे जो ज्ञान और योग आदि का खण्डन-सा मालूम पड़ता है, वह भक्ति-विरहित ज्ञान और योग के सम्बन्ध मे है। भक्ति-सहित योग और ज्ञान की प्रशंसा उनके अनेक पदों मे भरी पड़ी है। और फिर भक्ति, ज्ञान, योग आदि सभी तो भगवान की लीला मे प्रेम उत्पन्न कराने वाले हैं। सूर प्रतिभा का अधिकांश भाग राधाकृष्ण के इसी लीला-गायन मे व्यय हुआ है।

उपरोक्त विवेचन से प्रकट होता है कि आचार्यों ने शताब्दियों से हृदय पर पड़ी हुई निवृत्ति की छाप को वात्सल्य एवं दाम्पत्य प्रेम-भाव के मधुर रस द्वारा मिटाने का प्रयत्न किया। इस भक्ति ने एक विशेष प्रकार की प्रवृत्ति उत्पन्न की, जो जीवन से राग करना सिखाती है। भक्ति का पंचम उत्थान यहीं से आरम्भ होता है।

उपसंहार

सूर के मानसिक अंश का निर्माण करने मे जिन उपादानों ने भाग लिया है, उनका संक्षेप में उल्लेख हो चुका। सूरसागर के पदों को और इस ग्रन्थ के अगामी पृष्ठों को पढ़कर पाठक अनुभव करेंगे कि भक्ति का चतुर्थ उत्थान जो निवृत्ति-परक था, इस पञ्चम उत्थान मे जाकर किस प्रकार प्रवृत्ति-परायण वायु-

मण्डल को जन्म दे सका। निवृत्ति ने हमको जीवन के आशामय पक्ष से उदासीन कर दिया था, पर भक्ति के इस नवीन वायुमण्डल में हम फिर लौटकर जीवन की साँस लेने लगे। इस वायुमण्डल में विरक्ति नहीं थी, निराशा नहीं थी, मन का मारना नहीं था—इनके स्थान पर था भगवान को अपने आंगन में नाचते, कूदते, गाते और आमोद प्रमोदमयी बाल-क्रीडायें करते देखना।

यह वातावरण था, जो रामानन्द वल्लभ, निम्बार्क, चैतन्य आदि आचार्यों द्वारा तैयार किया गया। उन दिनों का निराश हिन्दू हृदय अपनी पराजय और परतंत्रता का अनुभव करता हुआ उस सर्व समर्थ प्रभु के चरणों में लोटने का सुख अनुभव करने लगा जो इस वातावरण का केन्द्र विन्दु था। आर्य जाति शताब्दियों के संघर्ष के पश्चात् शरीर से जर्जर हो गई थी, पर इस केन्द्र-विन्दु, इस प्रेम रूप प्रभु को प्राप्त करके अपनी अन्तरात्मा में पुनः नवजीवन का अनुभव करने लगी। यवन उसकी संस्कृति का विध्वंश करने चले थे, पर प्रभु की विचित्र लीला तो देखो, भक्ति द्वारा निष्पन्न आर्य जाति के इस अभिनव जागरण ने उनको भी इस भक्ति के रंग में रंग दिया—न जाने कितने रहीम, खानखाना जैसे खानदानी मुसलमान श्याम भक्ति की तीव्र तरंगों में अपनी संस्कृति की श्यामता को धोकर उज्ज्वल हो गये। गीता और भागवत द्वारा निर्मित यह भक्ति-कल्लोलिनी, यवन विध्वंश से बढ़ावा पाकर द्रुतवेग पूर्वक संस्कृत—गिरि से अवतरित हुई और आचार्यों ने उसे सहस्र कवि-कण्ठ धाराओं द्वारा मैदान में प्रवाहित कर दिया।

सूरदास को अपनी मानसिक साधना के लिये यह समस्त सामग्री प्राप्त हुई। सूर ही नहीं, हिन्दी के प्रायः सभी कवियों के लिये उन दिनों हरिलीला, राधा और कृष्ण की प्रेमगाथा, गोपाल की बाल-केलि कविता का विषय बन गई। वल्लभ के शब्दों में भक्ति नहीं, प्रभु का अनुग्रह ही हमारी उन दिनों की जर्जर परिस्थिति में सान्त्वना देने वाली सर्व श्रेष्ठ ओषधि सिद्ध हुई। प्रभु के इस अनुग्रह का अनुभव करके, कवियों द्वारा चित्रित हरि की इस लीला को अपनी आँखों के सामने अपने घर में देखकर हिन्दू हृदय अत्यधिक प्रसन्नता से गद्गद् हो गया और ऐसा प्रतीत हुआ जैसे दीपक निर्वाण के निकटतम काल में अपनी प्रखर लौ से चारों ओर जगमग करता हुआ जग उठा हो। पराजित और पददलित हिन्दू जाति इस भक्ति के दीप को जगाते हुये चैतन्य हो गई। (ग्रियर्सन भक्ति के इस अभ्युदयकाल को आश्चर्यजनक घटना कहते हैं। जो ज्योति थोड़े दिनों पहले हिंदी आकाश में दिखाई तक नहीं देती थी, वह निर्मल चन्द्र की राका ज्योत्स्ना के रूप में चारों ओर फैलकर प्रकाश करने लगी और पण्डित प्रवर हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में वह क्षणिक घटना के ही रूप में नहीं रही, लगभग ४०० वर्षों तक भारत के नर-नारियों को जीवन प्रकाश देती रही और आज भी, क्या हम उस प्रकाश को अपने अन्तरात्मा में अनुभव नहीं करते ?)

ग्रन्थ-रचना

कविकुल-शिरोमणि महात्मा सूरदास के नाम से अब तक केवल तीन ग्रन्थ प्रकाशित हो सके हैं:—(१) सूरसारावली (२) सूरसागर और (३) साहित्य लहरी। प्रथम दो ग्रन्थ एक साथ श्री सूरसागर के नाम से काशी-निवासी श्री राधाकृष्णदास द्वारा सम्पादित होकर श्रीवेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से चैत्र संवत् १६८० में प्रकाशित हुए थे। विद्वान सम्पादक ने इन दोनों ग्रन्थों का अनेक प्रतियों से मिलान करके संशोधन किया था। सूरसागर के कई हस्तलिखित संस्करण दतिया, बिजावर, काशी वृन्दावन, पुवायाँ, बरौली, बिसवाँ आदि स्थानों पर प्राप्त हुये थे। काशी-निवासी श्री केशवप्रसाद साह जी के यहाँ प्राप्त हुई सूरसागर की प्रति में सबसे अधिक पद हैं। स्वर्गीय रत्नाकर जी ने इन प्रतियों का परस्पर मिलान करके सूरसागर का एक शुद्ध संस्करण निकालने की चेष्टा की थी, परन्तु असमय में ही उनके काल-कवलित हो जाने के कारण यह कार्य अधूरा रह गया। फिर भी रत्नाकर जी द्वारा संशोधित सूरसागर के कई अंक नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं। शेष कार्य को सम्पूर्ण करने में कई विद्वान लगे हुये हैं। आशा है, निकट भविष्य में ही, सूरसागर का एक प्रामाणिक संस्करण पूर्ण रूप में अध्येताओं के समक्ष आ जायगा।* सूरसागर के बम्बई वाले संस्करण से पूर्व इसका एक संस्करण नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से प्रकाशित हुआ था जिसमें सूर के अतिरिक्त अष्टछाप के अन्य कवियों की भी रचनायें सम्मिलित थीं। इन दोनों संस्करणों में शब्द, पद तथा संख्या सम्बन्धी अनेक अशुद्धियाँ हैं। नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित सूरसागर का संस्करण अनेक अंशों में प्रामाणिक है। बम्बई तथा लखनऊ से प्रकाशित प्रतियों के आधार पर सूरसागर के दो संक्षिप्त संस्करण भी निकल चुके हैं। पूज्य वियोगी हरिजू द्वारा सम्पादित संक्षिप्त सूरसागर हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित हुआ है और डा० बेणीप्रसाद द्वारा सम्पादित संक्षिप्त संस्करण को इण्डियन प्रेस प्रयाग ने प्रकाशित किया है।

---

*काशी नागरी प्रचारिणी सभा से संपूर्ण सूरसागर दो भागों में प्रकाशित हो चुका है। इन दोनों भागों के आधार पर डा० धीरेन्द्र जी वर्मा, प्रयाग ने लगभग आठ सौ पदों का एक संक्षिप्त संस्करण प्रकाशित किया है।

साहित्यलहरी सटीक, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा संग्रहीत होकर खड्ग विलास प्रेस बाँकीपुर से १८६२ ई० में प्रकाशित हुई थी। इसके पर्व सरदार कवि साहित्यलहरी पर टीका लिख चुके थे। भारतेन्दु ने इस टीका से स्वसम्पादित साहित्यलहरी में अनेक उद्धरण दिये हैं तथा सरदार कवि वाली प्रति में प्राप्त हुये पदों में पाठान्तरों का भी उल्लेख किया है। इसके पश्चात् साहित्यलहरी के दो संस्करण और निकल चुके हैं।

सारावली, साहित्यलहरी तथा सूरसागर के अतिरिक्त सूरदास जी के लिखे हुये निम्नलिखित ग्रन्थ भी खोज में प्राप्त हुये हैं:—

(१) *गोवर्धन लीला*—इसमें श्रीकृष्ण के सात दिन तक एक अंगुली पर पर्वत को उठाये रखने वाली कथा से सम्बन्ध रखने वाले ३०० पद हैं।

(२) *दशमस्कन्ध टीका*—इसमें भागवत की कथा के आधार पर १६१३ पद हैं। सूरसागर का नवम स्कन्ध सूर रामायण के नाम से प्राप्त हुआ है।

(३) *नागलीला*—इसमें कालियनाग की कथा के ४० पद्य हैं। इसी प्रकार की दानलीला और मानलीला भी पृथक रूप से प्रकाशित हुई हैं।

(४) *पद संग्रह*—इसमें नीति, धर्म और उपदेश के ४१७ पद हैं।

(५) *प्राण प्यारी*—श्याम सगाई से सम्बन्धित ३२ पदों की रचना है।

(६) *ब्याहलो*—इसमें विवाह से सम्बन्धित २३ पद्य हैं।

(७) *भागवत*—इसमें कृष्ण कथा से सम्बन्धित ११२६ पद हैं। यह प्रति संपूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं हुई है।

(८) *सूर पचीसी*—इसमें ज्ञानोपदेश के २८ पद्य हैं।

(९) *सूरसागर सार*—इसमें ज्ञान, भक्ति तथा वैराग्य से सम्बन्धित ३७० पद्य हैं। प्रारम्भ और अन्त के पदों में श्री रामचन्द्र जी की स्तुति है।

(१०) *एकादशी माहात्म्य*—इसमें प्रथम वन्दना के पद हैं, फिर हरिश्चन्द्र, रोहिताश्व आदि की प्रशंसा तथा एकादशी माहात्म्य से सम्बन्धित कथायें दोहा-चौपाई, छन्दों में दी गई है।

(११) *रामजन्म*—इसमें रामगाथा से सम्बन्धित ६४० दोहे चौपाइयाँ हैं।

(१२) सेवाफल—चौपाई छन्द में लिखा गया है। इसमें भगवान की सेवा का माहात्म्य तथा फल वर्णित है।

१० और ११ संख्या वाले ग्रन्थों पर कवि का नाम सूरजदास दिया हुआ है। यदि ये सभी ग्रन्थ महाकवि सूरदास के लिखे हुए हैं तो सूरलिखित ग्रन्थों की संख्या १५ हो जाती है, जो असम्भव नहीं है। हम प्रथम भाग में लिख चुके हैं कि आचार्य वल्लभ से भेंट करने के समय सूरदास ६७ वर्ष के थे। चौरासी वार्ता से यह भी ज्ञात होता है कि वे इसके पूर्व भी पद रचना किया करते थे। संभव है, सूरसागर लिखने से पहले उन्होंने इन ग्रंथों का निर्माण किया हो। कम से कम रामजन्म, एकादशी माहात्म्य, सूरपचीसी और ब्याहलो तो पहले के ही लिखे मालूम पड़ते हैं। गोवर्धनलीला, मानलीला, दानलीला, नागलीला, दशम स्कंध टीका, सूर रामायण, सूर साठी, और भागवत भाषा सूरसागर के ही अंश प्रतीत होते हैं, जिनका किसी ने पृथक संग्रह कर दिया है। सूरजदास भी सूरदास का पहले का नाम है जैसा कि साहित्यलहरी के वंश परिचायक पद से सिद्ध होता है। जिन ग्रथों में राम की स्तुति और जीवन गाथा है, उन्हें भी जब तक कोई अकाट्य प्रमाण उपलब्ध न हो, किसी दूसरे सूर की रचना नहीं माना जा सकता। सूर की वैष्णवता राम और कृष्ण में भेद नहीं करती थी। उनके अनेक पद राम भक्ति विषयक हैं।

रचना-परिमाण

पदों की संख्या के संबंध में श्रीराधाकृष्णदास जी ने लिखा है:—

"सूरदास जी के सवा लक्ष पद बनाने की किम्बदन्ती जो प्रसिद्ध है, वह ठीक विदित होती है, क्योंकि एक लाख पद तो श्री वल्लभाचार्य के शिष्य होने के उपरांत और सारावली के समाप्त होने तक बनाये। इसके आगे पीछे के अलग ही रहे।"

चौरासी वार्ता में 'वार्ता प्रसंग ३' के प्रारम्भ में लिखा है:—"और सूरदास जी ने सहस्रावधि पद किये हैं। ताको सागर कहिये। सो सब जगत में प्रसिद्ध भये।" यहाँ सहस्रावधि पद कई सहस्र पदों का द्योतक है। गोस्वामी हरि राय जी ने चौरासी वार्ता की भावाख्य विवृति में सूर के पदों की संख्या लक्षावधि लिखी है। संभव है सूर की रचना सवा लक्ष पदों की ही रही हो। एक लक्ष पदों की बात स्वयं सूरदास ने सारावली में लिखी है:—"ता दिन तें हरिलीला गाई एक लक्ष पदबन्द।" यदि पदबन्द का अर्थ पदों के बन्द (कड़ियों) किया जाय और एक पद में दश कड़ियों का अनुपात लगाया जाय, तो दश हजार पदों में

एक लाख बन्द हो जाते हैं। यह बात मुझे अधिक संभव प्रतीत होती है, क्योंकि वार्ता में कई सहस्र पदों के निर्माण करने का उल्लेख है। सूरसागर के कुछ पद तीन कड़ियों के हैं और कुछ पद्धरी तथा चौपाई छन्दों में ५० से भी ऊपर बन्द हैं—जैसे चतुर्थ और पंचम स्कंधों के अन्त में। अष्टम स्कंध के आठवें पद में ३२ कड़ियाँ हैं। दशम स्कंध के आरम्भ में भी पद संख्या ३ के सारंग राग में ५० बन्द हैं। दशम स्कंध के पृष्ठ १४५ से १४७ तक फैले हुये राग विलावल में चौपाई छन्दों में १०० कड़ियाँ हैं। दशम स्कंध के पृष्ठ ४०६ से ४१२ तक फैले हुये पद संख्या ७५ में पूरे १०१ बन्द हैं। एक-एक बन्द अथवा कड़ी दो-दो पंक्तियों अथवा चरणों की होती है। सूरसारावली में ११०७ पद हैं और प्रत्येक पद दो-दो पंक्तियों का है। इस रूप में सवालक्ष पद बन्दों का होना असंभव नहीं है। वैसे सवालक्ष पद मानने में भी मुझे कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि सूरदास ने लम्बी आयु पाई थी। लगभग १५१५ से लेकर १६२८ विक्रमी संवत् तक ११४ वर्ष के दीर्घ जीवन में सवालक्ष पदों का निर्माण करना कठिन कार्य नहीं है। पर अभी तक प्राप्त हुये सूर के पदों की संख्या सात हजार से ऊपर नहीं पहुँचती। संभव है, भविष्य की खोज के गर्भ में सूर के कुछ सहस्र पद और सुरक्षित रखे हों।

सूरसागर

कथा का स्रोत—सूर को आचार्य वल्लभ भक्ति का समुद्र और गोस्वामी विट्ठलनाथ पुष्टि मार्ग का जहाज कहा करते थे। सम्भवतः इसी हेतु उनकी रचना "सूरसागर" के नाम से विख्यात हुई। यह सूर सागर वास्तव में सागर है रत्नाकर है। मरजीवा बनकर जो इसमें जितना ही अधिक गहरा गोता लगाता है, उसे उतना ही अधिक, रत्नों की प्राप्ति से, आनन्द उपलब्ध होता है।

सूरसागर में वर्णित विषय के सबंध में सूरदास जी लिखते हैः—

श्रीमुख चारि श्लोक दिये ब्रह्मा को समुझाइ।
ब्रह्मा नारद सों कहे, नारद व्यास सुनाइ॥
व्यास कहे शुकदेव सों, द्वादशकन्ध बनाइ।
सूरदास सोई कहै पद भाषा करि गाइ॥११३॥ प्रथम स्कन्ध

अर्थात् भगवान ने ब्रह्मा को चार श्लोक दिये, ब्रह्मा ने वही श्लोक नारद को और नारद ने व्यास को सुनाये। व्यास ने उन्हीं श्लोकों के आधार पर द्वादश स्कंधों वाली श्रीमद्भागवत का निर्माण किया और उसे अपने पुत्र शुकदेव को सुनाया। इसी भागवत की कथा को मैं भाषा के पद बनाकर गाता हूं। इसी बात को सूर ने नीचे लिखे पद में पल्लवित किया हैः—

व्यास देव जब शुकहिं पढ़ायो । सुनि कै शुक सों हृदय बसायो ॥
शुक सों नृपति परीक्षित सुन्यों । तिन पुनि भली भाँति कै गुन्यों ॥
सूत शौनकन सों फिर कह्यो । विदुर मैत्रेय सों पुनि लह्यो ॥
सुनि भागवत सबनि सुख पायो । सूरदास सो बरनि सुनायो ॥
—प्रथमस्कन्ध, पद ११५ ॥

फिर प्रथम स्कंध के ११८वें पद से नारद-व्यास वाली कथा की पुनरावृत्ति की गई है । सूरसारावली मे यह क्रम इस प्रकार दिया है—

व्यास पुराण प्रकट यह भाख्यो तंत्र ज्योतिषन जान्यों ।
नारद सों हरि कहेउ कृपा करि अमृत बचन परमान्यों ॥१०६१॥
सनकादिक सों कहेउ आपु हरि निज बैकुण्ठ मँझार ।
व्यासदेव शुकदेव महा मुनि नृप सों कियो उचार ॥१०६२॥
नारायण चतुरानन सों कहि नारद भेद बतायो ।
ताते सुनि के व्यास भागवत नृप शुकदेव जतायो ॥१०६३॥
शेष कहेउ सो सांख्यायन सों सुनि के सनत्कुमार ।
कहेउ बृहस्पति पुनि मैत्रेय सों उद्धव कियो विचार ॥१०६४॥

चार श्लोक क्या हैं—ऊपर के उद्धृत सूरसागर, प्रथम स्कंध, पद संख्या ११३ में उल्लिखित चार श्लोकों से क्या तात्पर्य है? क्या ये ४ श्लोक चार वेदों के प्रतीक हैं? ब्रह्मा शब्द से इस अर्थ की कुछ संगति बैठ जाती है । मनुस्मृति* में लिखा है कि ब्रह्मा ने अग्नि, वायु और आदित्य से वेदत्रयी प्राप्त की। इस ऋग-यजु-साम लक्षण वाली वेदत्रयी की ऋचाओं से ब्रह्म विद्या परक अथर्व वेद बना । इस प्रकार ब्रह्मा ने ही सृष्टि रूप यज्ञ की सफलता के लिए चार वेदो का प्रचार किया।

मुण्डक† उपनिषद के प्रथम दो श्लोकों में ब्रह्मा को देवताओं मे प्रथम और ब्रह्म विद्या का उपदेष्टा कहा गया है । यह ब्रह्म विद्या ब्रह्मा से उसके ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को, अथर्वा से अंगिर् को, अंगिर् से भरद्वाज के पुत्र अथवा गोत्रवाले सत्यवाह को और सत्यवाह से अंगिरस् को प्राप्त हुई । अंगिरस् ने यह विद्या कुलपति शौनक को दी।

---

* अग्नि वायु रविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञ सिद्ध्यर्थमृगयजुः साम लक्षणम् ॥ मनु० १-२३

† ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्म विद्यां सर्व विद्या प्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठ पुत्राय प्राह ॥ १ ॥
अथर्वणे यां प्रवदेत् ब्रह्मा अथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्म विद्याम् ।
स भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥ २ ॥

मनुस्मृति और मुण्डक उपनिषद दोनों में ब्रह्मा को ब्रह्म विद्या का प्रथम उपदेष्टा कहा गया है, परन्तु परम्परा द्वारा जिन ऋषियों को यह विद्या ब्रह्मा से प्राप्त हुई, उन ऋषियों का क्रम भागवत के आधार पर वर्णित सूरसागर के क्रम से नहीं मिलता। गीता में इस ब्रह्म विद्या का प्रचार राजर्षियों के अन्तर्गत माना गया है और ऋषि-क्रम भी भिन्न है। तीनों स्थानों पर उल्लिखित ऋषियों का क्रम देखिये:—

मुण्डक (ब्रह्मविद्या)	गीता (कर्मयोग)	भागवत और सूरसागर (भगवान की लीला)
ब्रह्मा	भगवान्	भगवान्
अथर्वा	विवस्वान	ब्रह्मा
अंगिर्	मनु	नारद
सत्यवाह	इक्ष्वाकु	व्यास
		सूत — शुक
		शौनक — परीक्षित
		मैत्रेय
अंगिरस	कृष्ण	विदुर
शौनक	अर्जुन	

मनुस्मृति और मुण्डक की उक्तियों का शतपथ ब्राह्मण आदि प्राचीन ग्रन्थों के वाक्यों के साथ सामञ्जस्य नीचे लिखे अनुसार हो जाता है:—

शतपथ—	अग्नि	वायु	रवि
	ऋग्वेद	यजुर्वेद	सामवेद
मनुस्मृति—		ब्रह्मा	
मुण्डक—		अथर्वा	

परन्तु ऊपर उद्धृत मुण्डक, गीता और भागवत की परम्पराओं का सामञ्जस्य किसी प्रकार नहीं होता। भागवत और मुण्डक के प्रारम्भिक तथा अन्तिम,

ब्रह्मा और शौनक, नामों में समता है; परन्तु गीता के सभी नाम भिन्न पथ का अनुसरण कर रहे हैं। हाँ, कृष्ण विकास में पीछे उद्धृत छान्दोग्य उपनिषद् के एक वाक्य से कृष्ण घोर आंगिरस ऋषि के शिष्य अवश्य जान पड़ते हैं। परन्तु गीता में कहीं भी इस ऋषि का उल्लेख नहीं मिलता। व्यास अर्जुन को दिये गये उपदेश का समस्त श्रेय कृष्ण को ही दे रहे हैं और कहते हैं कि यह योग योग में लुप्त हो गया था। कृष्ण ने ही इसे पुनर्जीवन दान दिया। ऊपर उद्धृत परम्पराओं के अन्त में आये हुये नाम व्यास, शौनक, अर्जुन, कृष्ण, सूत, विदुर— एक ही समय के हैं। भागवत में सूत-शौनक तथा मैत्रेय-विदुर सम्वाद अतीव प्रसिद्ध हैं।

ब्रह्म विद्या, योग और भगवान की लीला तीनों गुह्य विद्यायें हैं और सम्भवतः एक ही विद्या के तीन भिन्न भिन्न नाम हैं×। मन्वन्तरों के पृथक-पृथक होने से भी ऋषि-परम्परा में कुछ ही अन्तर पड़ सकता है, परन्तु इतना अधिक नहीं।

इस क्रम की असमता का एक कारण और बताया जाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि वैदिक धर्म के अतिरिक्त कुछ शास्त्र बाह्य लौकिक धर्म भी चल पड़े थे, जिनका मुख्य लक्ष्य ऐकान्तिक तथा आन्तरिक भावना थी। भागवत धर्म का तो एक नाम ऐकान्तिक है भी। इन आन्तरिक भावना-प्रधान धर्मों का मूल बीज उपनिषदों में पाया जाता है। मुण्डक उपनिषद के प्रथम खण्ड के चतुर्थ पाद में परा और अपरा दो विद्याओं का वर्णन है। परा विद्या आन्तरिक साधना है तथा अपरा विद्या में वेद की गणना है। इस प्रकार परा विद्या को वेद से ऊपर स्थान दिया गया है। इसी उपनिषद में आगे चलकर यज्ञों को भी हीन कोटि में रक्खा गया है। गीता उपनिषदों का सार कहलाता है। उसमें भी यज्ञ के सम्बन्ध में इसी प्रकार की उक्तियाँ पाई जाती हैं। इस प्रकार एक आन्तरिक भावना अत्यन्त प्राचीन काल से ही चल पड़ी थी, जिसका विकास एक ओर गीता और भागवत में दिखाई देता है तथा दूसरी ओर जैन बौद्धादि संप्रदायों के रूप में प्रकट हुआ है। बाद की निर्गुणी, निरंजनी, सहजिया आदि साधनायें भी इसी की शाखायें और टहनियाँ हैं। इसलिये इन सब में वेद-निन्दा, वर्णाश्रम धर्म की ओर से उपेक्षा तथा ऐकान्तिकता पाई जाती है। भागवत धर्म बाद में आचार्यों के संसर्ग से शास्त्रीय बन गया, परन्तु आंशिक रूप में, सर्वांश में नहीं। इस मत के विद्वानों के अनुसार पूर्वोल्लिखित परम्परायें भिन्न-भिन्न विचारधाराओं पर स्थित हैं और इसीलिये परस्पर सामञ्जस्य नहीं रखतीं।

× योग ब्रह्म विद्या का क्रियात्मक पक्ष है और भगवान की लीला उसका अनुरञ्जनकारी रूप।

हमारी सम्मति में उपनिषदों के अन्दर वेद-बाह्य लौकिक साधना के अल्पांकुर भले ही मिल जायें, परन्तु आरम्भ में सब साधनायें वेद से ही आविर्भूत हुईं और वे बराबर वेद को ही प्रमाण मानकर अग्रसर होती रहीं। योग-दर्शन जो सर्वांश में ब्रह्मविद्या के क्रियात्मक रूप को लेकर खड़ा हुआ, कभी वेद-बाह्य नहीं समझा गया। बाद में याज्ञिकों की धर्मान्धता के कारण यज्ञों के साथ वह भी संशय की चपेट में आ गया हो, तो असम्भव और आश्चर्यजनक नहीं है।

सूरसागर में उल्लिखित चार श्लोक श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध, नवम अध्याय के ३२ से लेकर ३५वें श्लोक तक माने जाते हैं। इन्हें हम नीचे उद्धृत करते हैं:—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत्परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥ ३२ ॥
ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद् विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो तथा तमः॥ ३३ ॥
यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्॥ ३४ ॥
एतावदेव जिज्ञास्यं तत्व जिज्ञासुनाऽऽत्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥ ३५ ॥

भगवान् ब्रह्मा से कहते हैं:—'सृष्टि के पूर्व मैं ही था। अन्य सत अथवा असत, भाव तथा अभाव कुछ नहीं था। सृष्टि के पश्चात् भी मैं ही रहूँगा। यह जो सृष्टि दिखाई दे रही है, वह भी मैं हूं; और जो कुछ इसके अतिरिक्त बच रहा, वह भी मैं ही हूँ।"

'अपने अन्दर अर्थ (बाह्येन्द्रियविषय—मूर्तरूप) के बिना ही जिसकी प्रतीति होती है अथवा प्रतीति नहीं होती—जैसे प्रकाश और अन्धकार—उसे अपनी माया समझो।"

"जैसे प्राणियों के छोटे बड़े शरीरों में आकाशादि पंच-महाभूत प्रविष्ट हैं भी और नहीं भी हैं अर्थात् उनसे पृथक् भी है, वैसे ही मैं उनमें हूं भी और नहीं भी।"

"अन्वय और व्यतिरेक, संश्लेषण और विश्लेषण, विधि और निषेध द्वारा जो तत्व सर्व स्थानों और सर्व कालों में विद्यमान ज्ञात होता है, बस वही, इतना ही, आत्मजिज्ञासु के लिए जानने की इच्छा करने योग्य है।"

इन श्लोकों में ऐसी कोई बात नहीं है जो वेद-बाह्य हो। भागवत अनेक स्थानों पर वेद को प्रामाणिक और वंदनीय कहती है। भागवत धर्म इसी ग्रंथ में

आकर वेद-परक और शास्त्र की सुदृढ़ भित्ति पर आधारित हुआ। गीता में "त्रैगुण्य विषया वेदाः" से कुछ वेद-निन्दा भले ही झलकती हो, परन्तु आचार्यों ने इस स्थल के 'वेद' शब्द का अर्थ ही वेद नहीं किया। वेद से उन्होंने वैदिक सकाम याज्ञिक कर्मों का अर्थ लिया है। (भागवत में कहीं भी वेद-निन्दा नहीं मिलेगी। हाँ वेद के नाम पर प्रचलित हिंसामय यज्ञों का खण्डन उसमें अवश्य है। भागवतकार ने इस प्रकार के कृत्यों से वेद को पृथक रखने का भरसक प्रयत्न किया है। इस सम्बन्ध में भागवत के द्वितीय स्कंध का द्वितीय अध्याय देखने योग्य है।)

सूरदास प्रथम स्कन्ध के ११३वें पद में भागवत के ऊपर उद्धृत इन्हीं चार श्लोकों की ओर संकेत करते मालूम पड़ते हैं। परन्तु ये श्लोक ईसा की तीसरी शताब्दी के लगभग उत्पन्न व्यास नाम के किसी कवि के बनाये हुए हैं, जो वेदान्त, गीता तथा उपनिषदों का पूर्ण पण्डित था और आर्य इतिहास से भलीभाँति परिचित था। ये श्लोक वे नहीं हैं जो भगवान से ब्रह्मा को और ब्रह्मा से नारद को प्राप्त हुए। ब्रह्मा चारों वेदों का ज्ञाता और प्रचारक था, जैसा हम पीछे प्रकट कर चुके हैं। अतः नारद को ब्रह्मा से जो चार श्लोक मिले, वे चार वेदों के ही प्रतीक हो सकते हैं।

भागवत तथा अन्य पुराण—सूरदास जी लिखते हैं कि नारद ने यही चार श्लोक व्यास को सुनाये और व्यास ने इन्हीं चार श्लोकों के आधार पर श्रीमद्भागवत का निर्माण किया और उसे अपने पुत्र शुकदेव को पढ़ाया। शुकदेव ने यह भागवत परीक्षित को सुनाई। सूत जी ने इसे शौनकादि ऋषियों को सुनाया और मैत्रेय ने विदुर को। मैं भी इसी के आधार पर कृष्ण-कथा लिखता हूँ। भागवत के आधार को सूर ने और भी कई स्थानों पर स्वीकार किया है। कुछ उदाहरण लीजियेः—

जैसे शुक को व्यास पढ़ायो।
सूरदास तैसे कहि गायो ॥११४॥
सूर कह्यो भागवत अनुसार ॥११७॥
सूर कहै भागवत अनुसार ॥१४०॥ प्रथम स्कन्ध
सूत शौनकनि कहि समुझायो।
सूरदास त्योंही करि गायो ॥५॥ द्वादश स्कन्ध

भागवत के अतिरिक्त सूर ने ब्रह्माण्ड पुराण और वामन पुराण से भी कथायें ली हैं। ब्रह्माण्ड पुराण का उल्लेख सूरसारावली के छन्द सं० १५२ में है और वामन पुराण का उल्लेख दशम स्कन्ध पद सं० ६१ पृष्ठ २६३ में है।

स्वतन्त्र रचना—इन कथनों के होते हुए भी सूरसागर को भागवत का अविकल अनुवाद नहीं कहा जा सकता। वह एक स्वतन्त्र रचना है। बालिका राधा, बालक कृष्ण के राधा के साथ खेलने के प्रसंग और भ्रमर गीत की व्यंग्यमयी उक्तियाँ भागवत में ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलेगी। भागवत में उद्धव की कथा आती है, परन्तु उनके गोकुल पहुँचने पर गोपियाँ उन्हें चिढ़ाती नहीं। वे जो कुछ कहते हैं, उसे चुपचाप सुन लेती हैं। उद्धव द्वारा कृष्ण का सन्देश पाकर उनकी विरह-व्यथा शांत हो जाती है। कृष्ण के प्रति दिये गये उनके उलाहने भी उतने तीव्र नहीं हैं। निर्गुण और सगुण का झमेला भी भागवत मे दिखाई नही देता, जो सूरसागर के भ्रमर गीत का प्रधान अंश है। कृष्ण-लीलाओं का स्मरण करती हुई एक गोपी अपने सामने गुनगुनाते हुए भ्रमर को आया देखकर कुछ चटपटी बातें अवश्य कह जाती हैं, नही तो भागवत के भ्रमरगीत में सूरसागर जैसा भावनाओं का उफान कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। इसके अतिरिक्त भागवत सर्ग, विसर्ग आदि दश विषयों का वर्णन करती हुई भक्ति को मूर्धन्य स्थान देती है, पर सूरसागर में मुख्य रूप से राधा-कृष्ण लीला को ही प्रधानता दी गई है। भागवत जहाँ निवृत्ति मूलक साधना का उपदेश करती है, वहाँ सूरसागर की राधाकृष्ण-लीला मनुष्यों को प्रवृत्ति मार्ग में लगाने वाली है। अतः सूरसागर भागवत का अक्षरशः अनुवाद नहीं है।

सूरसागर मे आचार्य वल्लभ के दर्शन की भी छाया ही है, उसका पूर्ण प्रतिबिम्ब नही। वल्लभ की दार्शनिक व्याख्याओं में राधा नहीं आती। गोस्वामी विट्ठलनाथ ने उसकी दार्शनिक व्याख्या की है। साथ ही यह भी स्मरण रखने योग्य है कि सूरदास जी विरक्त होकर सर्व प्रथम जिस वैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे, वह पुष्टि सम्प्रदाय नहीं था। सूरसागर में राधा के इतने अधिक महत्व की स्थापना, वृन्दावन का स्वर्ग-समान वर्णन (वल्लभीय सम्प्रदाय में यह पद गोकुल को दिया जाता है), सृष्टि रचना आदि विषयों से सिद्ध होता है कि सूर पर आचार्य वल्लभ के अतिरिक्त किसी अन्य आचार्य के सिद्धांतों की भी छाप लगी हुई है। फिर सूर कवि है, अन्धा होता हुआ भी क्रान्तदर्शी है, सूरसागर उसके हार्दिक उद्गारों का भण्डार है, राधाकृष्ण की भावमयी लीलाओं का निकेतन है और है सूर की दिव्य आँखों का अंजन, जो भगवद्भक्ति के आनन्दाश्रुओं के साथ बह-बह कर सूरसागर में लबालब भर गया है। कवि किसी का अनुगमन नहीं करता। वह संचालक है, पथ-प्रदर्शक है, सबको अपने पीछे चलाने वाला है और सूर के पीछे एक नहीं, दो नहीं, पूरी चार शताब्दियों तक भावुक मानव चलते रहे, आज भी चल रहे हैं।

सूरसागर का विषय

पद-संख्या—सूरसागर श्री मद्भागवत की भाँति द्वादश स्कन्धों में विभाजित है, परन्तु पदों की संख्या के अनुसार यह विभाजन अत्यन्त विषम है। नीचे की तालिका में प्रत्येक स्कन्ध की पद संख्या का मिलान कीजिये:—

स्कन्ध	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	योग
पद	२१९	३८	१८	१२	४	४	८	१४	१७२	पू० ३४९४ + उ० १३८	९	५	४०३२

इस तालिका के देखने से प्रतीत होता है कि सूरसागर में विभिन्न स्कन्धों में फैले हुए पदों की संख्या ४०३२ है। यह संख्या वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से सं १९८० में प्रकाशित सूरसागर के प्रत्येक स्कन्ध के अन्त में दी हुई पदों की संख्या के आधार पर है।

सूरसागर की इस प्रति का अनुशीलन करते हुए हमें यह संख्या अशुद्ध प्रतीत हुई। दशम स्कन्ध में ६०० पद-संख्या के पश्चात १७७ पृष्ठ के आठ पद संख्या में जोड़े ही नहीं गये हैं। फिर धनाश्री राग के ७३ छन्दों को जोड़ कर संख्या ६७३ मान ली गई है। यह बात पृष्ठ १५२ के धनाश्री राग के छन्दों की गणना में दिखाई नहीं देती। इसी प्रकार दशम स्कन्ध की पद-संख्या १००० के पश्चात पृष्ठ २२२ के ४ पद तथा गोवर्धन की दूसरी लीला के अन्तर्गत राग बिलावल के ७१ पद और देवगंधार का एक पद संख्या में जुड़े हुए नहीं हैं। पृष्ठ २३२ के राग बिलावल से प्रारम्भ करके नन्दवरुण लीला और दानलीला के १०० पदों को लेकर पृष्ठ २४२ पर ११०० संख्या दी हुई है। ११०० के पश्चात ६६ पद तथा ४२ छन्द देकर ११६० संख्या लिख दी गई है। पृष्ठ २७० पर ९९ के पश्चात दो पद तथा १०० संख्या के पश्चात एक पद—इस प्रकार ३ पद गणना में छोड़ दिये गए हैं। पृष्ठ २९९ पर पद-संख्या ९८ के पश्चात एक पद तथा पृष्ठ ३१० की पद-संख्या १७०० के पश्चात पृष्ठ ३४१ की पद संख्या १ तक के लगभग ३०० पद संख्या में नहीं जोड़े गये। कहीं एक ही राग के अन्तर्गत आये हुये छन्दों को कई पद मान कर संख्या में सम्मिलित कर दिया है और कहीं सम्पूर्ण राग को एक ही पद माना गया है। पृष्ठ ३६० पर ५७ संख्या है। उसके पश्चात राग धनाश्री के ३० छन्दों को एक पद माना जाय, तो उस पर पद संख्या ५८ होना चाहिये। यहाँ भी दो पद कम करके संख्या १८५६ रक्खी गई है। कहीं-कहीं एक पद दो बार भी छप गया है। पृष्ठ २७० का 'चितै राधा रति-नागर ओर' टेक वाला पद पृष्ठ ३७० पर भी है, केवल कुछ शब्दों का हेर फेर है। प्रथम स्कन्ध का १०८वाँ पद 'मेरो मन

अनत कहाँ सचु पावै' पृष्ठ ५२८ पर भ्रमरगीत के अन्दर भी पाया जाता है। अतः निश्चित है कि बम्बई वाले सूरसागर के संस्करण के आधार पर पद-संख्या की जो तालिका ऊपर दी गई है, वह भ्रमात्मक है।*

काशी वाली शाह जी की प्रति में लगभग ६००० पद बतलाये गये हैं। शिवसिंह सरोज में उनके लेखक ने साठ हजार पदों के देखने की बात लिखी है। पर अभी तक मिले हुए पदों की संख्या, सूर की समस्त रचना को देखते हुये, सात हजार से ऊपर नहीं पहुँचती। ऊपर हमने पद संख्या पर जो कुछ लिखा है, वह केवल सूरसागर के पदों की संख्या से सम्बन्धित है, उसमें सूरसारावली और साहित्य-लहरी के पदों की संख्या सम्मिलित नहीं है।

कथासार—ऊपर की तालिका में दिये हुए स्कन्ध और उनके पदों का संक्षिप्त विषय-विवरण देना प्रासंगिक प्रतीत होता है। इससे पाठकों को सूरसागर के कथा-वृत्त का कुछ ज्ञान अवश्य हो जायगा।

प्रथम स्कन्ध—इसमें २१६ (ना० प्र० स० ३४३) पद हैं, जिनमें भक्ति की सरस व्याख्या उपलब्ध होती है। प्रथम पद 'मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिम्, यत्कृपानमहं वन्दे परमानन्द माधवम्' श्लोक की छाया है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी रामचरितमानस के प्रारम्भ में इस श्लोक का अनुवाद नीचे लिखे सोरठा मे किया है।

"मूक होइ वाचालु, पंगु चढ़ै गिरिवर गहन।
जासु कृपा सो दयालु, द्रवहु सकल कलिमल-दहन॥"

सूर ने इसका अनुवाद इस प्रकार किया है:—

चरण कमल बन्दौं हरिराई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे को सब कछु दरसाई॥
बहिरो सुनै, गूंग पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई।
सूरदास स्वामी करुनामय, बार-बार बन्दौं तिहिं पाई॥

सूरसारावली के प्रारम्भ में भी यह पद थोड़ा-सा परिवर्तित होकर विद्यमान है, परन्तु इस पर एक की संख्या नहीं दी हुई है। अतः सूरसारावली का मुख्य अंश इसके पश्चात् प्रारम्भ होता है, और यह पद मंगलाचरण के रूप में

---

* काशी नागरी प्रचारिणी सभा से सम्वत २००७ और २००६ में प्रकाशित सूरसागर में समस्त पदों की संख्या ४६३६ है। इन पदों के अतिरिक्त दो परिशिष्टों मे सन्दिग्ध (२०३) तथा प्रक्षिप्त (६७) प्रकार-भेद से २७० पद और दिये गये हैं। काकरौली वाली प्रति में पदों की संख्या इससे भी अधिक है।

है। भक्ति-सम्प्रदाय में यह श्लोक और इससे मिलते-जुलते पद या छन्द अधिक प्रसिद्ध हैं। ऋग्वेद के निम्नलिखित मन्त्र में यही भाव इस प्रकार प्रकट हुआ है:-

अभ्यूर्णोति यन्नग्नं, भिषक्ति विश्वं यत्तुरम्।
प्रेमन्धः ख्यत्, निः श्रोणो भूत्॥ ८-७९-२

[मेरे देव दयालु तुम्हारी महिमा कैसे गाऊँ मैं?
अपनी स्वल्प शक्ति वाणी में कैसे शक्ति सजाऊँ मैं?
जो उपकार किये जीवों पर कैसे उन्हें गिनाऊँ मैं?
उस अपार करुणाधारा को कैसे उर में लाऊँ मैं?]
"मेरे सोम! नग्न जन को तुम आच्छादित कर देते हो।
आतुर, व्यथित, रुग्ण प्राणी के कष्ट सकल हर लेते हो॥
अन्धा भी तव कृपा-दृष्टि से सृष्टि देखने लगता है।
लँगड़ा लूला भी तव बल पा यहाँ दौड़ता भगता है॥"
[यहाँ असम्भव भी सम्भव है देव तुम्हारी करुणा से।
यहाँ प्रेम की वर्षा प्रतिपल पूषा ऊषा अरुणा से॥]*

प्रथम स्कन्ध में विनय एवं भक्ति के पदों की ही प्रधानता है। ये पद आचार्य वल्लभ के पुष्टिमार्ग में प्रवेश पाने से पूर्व ही सूर द्वारा निर्मित हो चुके थे। इन्हीं पदों ने सूर की प्रख्याति दूर-दूर तक फैलाई, जिससे आकर्षित होकर आचार्य वल्लभ सूर के पास पहुँचे। बड़ी गहरी हृदयानुभूति है सूर के इन पदों में! सूर के ही शब्दों में—"परम स्वाद सब ही जु निरन्तर अमित तोष उपजावै!" ये पद व्याकुल हृदय को परम सन्तोष देने वाले हैं। इन पदों में कहीं दैन्य है, कहीं पश्चात्ताप है, कहीं विचारणा है और कहीं आत्म-निवेदन है; कहीं संसार की असारता का वर्णन है, कहीं ज्ञान और वैराग्य का उल्लेख है, कहीं तृष्णा-माया-मोह आदि के पाश भक्ति द्वारा दूर किए जा रहे हैं; और कहीं अज्ञानान्धकार का विनाश किया जा रहा है। इन पदों में आत्मा को उज्ज्वल करने वाली दास्यभक्ति का निरूपण है, जो अपनी मर्मस्पर्शिता और संवेदन की तीव्रता में समता नहीं रखती।

विनय और भक्ति-सम्बन्धी पदों के अतिरिक्त इस स्कन्ध में श्रीमद्भागवत के निर्माण का प्रयोजन, शुकदेव की उत्पत्ति, व्यास-अवतार, महाभारत की कथा का संक्षिप्त परिचय, सूत-शौनक-सम्वाद, भीष्म की प्रतिज्ञा, भीष्म का देहत्याग, श्रीकृष्ण का द्वारका-गमन, युधिष्ठिर का वैराग्य, पांडवों का हिमालय-गमन,

* लेखक की लिखी हुई 'भक्ति-तरंगिणी' से उद्धृत।

परीक्षित का जन्म, ऋषि का शाप, कलियुग को दण्ड देना आदि प्रसंगों का भी भागवत के प्रथम स्कन्ध के अनुसार वर्णन है।

द्वितीय स्कन्द—इसमें ३८ (ना० प्र० स० ३८) पद हैं। श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध की कथा के अनुसार इसमें भी सृष्टि की उत्पत्ति, विराट पुरुष, चौबीस अवतार, ब्रह्मा की उत्पत्ति, चार श्लोक आदि का वर्णन है। इसके अतिरिक्त इस स्कन्ध के प्रारम्भ में भक्ति-महिमा, सत्संग महिमा, भक्ति-साधन, आत्मज्ञान तथा भगवान की विराट रूप में आरती का वर्णन है जिसकी सरसता और भावप्रवणता अनुभव करते ही बनती है। सूर की जैसी व्यापक और तीव्र दृष्टि विरले ही सन्त कवियों को प्राप्त हुई है।

तृतीय स्कन्ध—इसमें १८ (ना० प्र० स० १३) पद हैं, जिनमें भागवत के तृतीय स्कन्ध के अनुसार उद्धव-विदुर संवाद, विदुर को मैत्रेय से भगवान के बताये हुए ज्ञान की प्राप्ति, सप्तर्षि और चार मनुओं की उत्पत्ति, देवासुर-जन्म, वाराह अवतार, कर्दम देवहूति का विवाह, कपिल मुनि का अवतार, देवहूति का कपिल से भक्ति-सम्बन्धी प्रश्न, भक्तिमहिमा और देवहूति की हरि-पद प्राप्ति आदि कथाओं का वर्णन है। विदुर-जन्म, सनकादि का अवतार, रुद्र-उत्पत्ति तथा हरिमाया प्रश्न आदि कुछ प्रसंगों का वर्णन भागवत से अधिक है और भागवत के कुछ प्रसंग जैसे सांख्य, योग, पुरुष, प्रकृति आदि के वर्णन छोड़ भी दिये गये हैं।

चतुर्थ स्कन्ध—इसमें १२ (ना० प्र० स० १३) पद हैं, जिनमें यज्ञ पुरुष-अवतार, पार्वती-विवाह, ध्रुव-कथा, पृथु-अवतार तथा पुरञ्जन-आख्यान का वर्णन पाया जाता है। यह वर्णन भी भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के अनुसार है, परन्तु अतीव संक्षिप्त है।

पंचम स्कन्ध—इसमें केवल ४ (ना० प्र० स० ४) पद हैं, जिनमें ऋषभदेव अवतार, जड़ भरत की कथा तथा उनका रहूगणों के साथ संवाद वर्णित हुआ है। इस स्कन्ध की कथा भी भागवत के पंचम स्कन्ध की कथा का संक्षिप्त रूप है।

षष्ठ स्कन्ध—इसमें भी केवल चार (ना० प्र० स० ८) पद हैं, जिनमें भागवत के आधार पर अजामिल-उद्धार की कथा, इन्द्र द्वारा बृहस्पति का अनादर वृत्रासुर का वध, इन्द्र का सिंहासन से च्युत होना, गुरु की महिमा तथा गुरु-कृपा से इन्द्र को पुनः सिंहासन की प्राप्ति आदि का वर्णन है।

सप्तम स्कन्ध—इसमें आठ (ना० प्र० स० ८) पद है, जिनमें भागवत के आधार पर नृसिंह अवतार का वर्णन तो किया गया है, परन्तु श्री भगवान द्वारा शिव की सहायता और नारद की उत्पत्ति की कथायें भागवत के इस स्कन्ध में नहीं

मिलतीं। शिवसहाय वर्णन में सूर ने देवासुर संग्राम का वर्णन किया है, जिसमें प्रथम असुर पराजित हुए। असुरों ने ब्रह्मा के पास जाकर विजय के लिए प्रार्थना की। ब्रह्मा ने कहा, 'मय से एक सुदृढ़ गढ़ बनवाओ।' मय ने दुर्ग बनाया, जिसकी सहायता से असुरों ने देवताओं से अमृत छीन लिया। देवताओं ने शिव का पक्ष लेकर असुरों से बड़ा युद्ध किया, पर अमृत छिन जाने से वे विजय प्राप्त न कर सके। विष्णु ने आकर शिव तथा देवताओं की सहायता की। उन्होंने स्वयं गाय का रूप धारण किया और ब्रह्मा को बछड़ा बनाया। विष्णु अमृतकुण्ड से अमृत पीकर आकाश में उड़ गये। फिर शिव जी को अस्त्र दिया, जिससे राक्षस पराजित हुए।

नारद की उत्पत्ति वाले प्रसंग में ब्रह्मा की सभा में एक गंधर्व का अप्सरा को देखकर हँसना, ब्रह्मा का उसे दासी-पुत्र बनाने का शाप देना, गंधर्व की दासी से उत्पत्ति, ब्राह्मण के घर सेवा करना फिर वन में जाकर तप करना और आगामी जन्म में ब्रह्मा के पुत्र रूप में उत्पन्न होना आदि वर्णित हुआ है। नारद का यह चरित्र भागवत के प्रथम स्कन्ध के पाँचवें और छठे अध्यायों में दिया हुआ है।

अष्टम स्कन्ध—इसमें १४ (ना० प्र० स० १७) पद हैं। जिनमें गजेन्द्र मोक्ष, कूर्मावतार, समुद्र-मंथन, विष्णु का मोहिनी रूप धारण, वामनावतार तथा मत्स्यावतार का वर्णन है। यह वर्णन भागवत के अष्टम स्कंध की कथा के आधार पर संक्षिप्त रूप में है।

नवम स्कन्ध—इसमें १७२ (ना० प्र० स० १७४) पद हैं, जिसमें श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध की कथाओं के आधार पर राजा पुरुरवा और उर्वशी का उपाख्यान, च्यवन ऋषि की कथा, हलधर-विवाह, राजा अम्बरीष और सौभरि ऋषि के उपाख्यान, भागीरथ द्वारा गंगा का भूलोक में आगमन, परशुराम अवतार तथा श्री रामावतार का वर्णन किया गया है। भागवत में राम-गाथा संक्षेप से कह दी गई है, परन्तु सूर ने उसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। इसी प्रकार नहुष तथा कच और देवयानी की कथाओं का भी सूरसागर में अपेक्षाकृत अधिक विस्तार पाया जाता है; सूरसागर के इस स्कंध में गौतम-अहल्या की कथा तथा इन्द्र को शाप देने का भी वर्णन है, जो भागवत के नवम स्कंध में नहीं है।* इस स्कंध मे रामावतार का वर्णन होने से कवि को अवतारी लीलायें अपने दृष्टिकोण से देखने का अवसर मिल गया है। वैसे भागवत और सूरसागर दोनों में ही विष्णु के चौबीस अवतारों तथा उनकी लीलाओं का विशद वर्णन पाया जाता है, परन्तु राम और कृष्ण दो अवतारों की गाथाओं मे कवियों ने जिस भाव-लालित्य हृदयावेग, सरसता तथा साहित्यिक छटा का समावेश किया है, वैसा अन्य

* ना० प्र० सभा वाले संस्करण मे नहुष तथा इन्द्र-अहल्या की कथा से संबंधित पद षष्ठ स्कंध मे समाविष्ट है।

अवतारों की गाथाओं में नहीं। सूर को भगवान का कृष्णरूप अधिक प्रिय है, वैसे ही जैसे तुलसी को राम का। पर सूर ने रामचरित्र का भी हृदयहारी चित्रण किया है। राम के बालरूप-वर्णन में तो, अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल, वे तल्लीन हो गये हैं। सीता का विरह-वर्णन भी अद्वितीय है। तुलसीदास जी ने भी कृष्ण-गाथा पर कृष्ण गीतावली लिखी है।

दशम स्कन्ध पूर्वार्ध—इसमें लगभग ४००० (ना० प्र० स० ४१६०) पद हैं। सूर की समस्त कीर्ति का आधार यही स्कन्ध है। सूर के कवित्व की कोमलता, कमनीयता और कला; भागवत्भक्ति, भावुकता और भव्यता; वैलक्षण्य, विलास, व्यंजन और विदग्धता—सबका स्रोत यहीं तो है, जहाँ से ये भिन्न-भिन्न भावधारायें फूट-फूटकर सूरसागर में समाविष्ट होती हैं और उनके नाम को चरितार्थ करती हैं। इस स्कन्ध के पदों की संख्या अन्य सब स्कन्धों के पदों की सम्मिलित संख्या के पौनगुने से भी अधिक है। भागवत में भी यह स्कन्ध सबसे बड़ा है। इसमें भगवान कृष्ण की जन्मलीला, मथुरा से गोकुल आना, छठी, पूतना-वध, शकटासुर और तृणावर्त का वध, नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगाँठ, कर्णछेद, घुटनों के बल चलना, बालवेष, चंद्र-प्रस्ताव कलेवा, माटी खाना, माखन-चोरी, गोदोहन, वृन्दावन-प्रस्थान, वत्स-बक-अघासुर-वध, ब्रह्मा द्वारा गोवत्सहरण, राधा-कृष्ण का प्रथम साक्षात्, क्रीडा, राधा का श्याम के घर जाना, श्याम का राधा के घर आना, गोचारण, धेनुकवध, कालियदमन, दावानल-पान, प्रलम्ब-वध, मुरली, चीर-हरण, पनघट, गोवर्धन-पूजा, दानलीला, नेत्र-वर्णन, रासलीला, राधाकृष्ण का विवाह, मानलीला, हिंडोला लीला, वृषभ-केशी-भौमासुर-वध, होरी लीला, श्रीकृष्ण का अक्रूर के साथ मथुरा जाना, मुष्टिक-चाणूर-वध, कंस-वध उग्रसेन को सिंहासनासीन करना, वसुदेव देवकी के दर्शन करना, यज्ञोपवीत, कृष्ण का कुब्जा के घर जाना आदि अतीव मनोहर और हृदयाकर्षक प्रसंगों का वर्णन है। सूर की मनोवृत्ति जितनी तन्मयता से भगवान के बालरूप-वर्णन में रमी है, उतनी अन्यत्र नहीं। प्रेम ही सूर का प्रधान क्षेत्र था और उसके सभी रूपों का जितना विस्तृत और वरिष्ठ वर्णन सूरसागर में है, उतना और कहीं नहीं।

इसी स्कन्ध में नंद का मथुरा से लौट कर गोकुल आना, यशोदा और नंद की कृष्णप्रेम से परिप्लावित परस्पर नोंक-झोंक की बातें, गोपियों का विरह और सुप्रसिद्ध भ्रमरगीत का वर्णन है, जो रसात्मकता और रचना-चमत्कार में हिन्दी साहित्य में बेजोड़ है। इसी स्कन्ध में उद्धव गोकुल से मथुरा लौट जाते हैं और कृष्ण से गोपियों की विरहावस्था का उल्लेख करते हैं। भ्रमरगीत के अन्तर्गत सूर ने निर्गुण भक्ति के स्थान पर सगुण भक्ति की सार्थकता सिद्ध की है और ज्ञान के स्थान पर प्रेम की विजय दिखाई है।

दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध—इसमें १३८ (ना० प्र० सा० १४६) पद हैं। भागवत में भी दशम स्कंध पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध नाम के दो भागों में विभाजित है। पूर्वार्द्ध में ४६ अध्याय और २०११ श्लोक तथा उत्तरार्द्ध में ४१ अध्याय और १९३३ श्लोक हैं, परन्तु सूरसागर के इस अंश में केवल १३८ पदों में सब विषयों को संक्षेप में कह दिया गया है। जैसा हम लिख चुके हैं, सूरसागर के दशम स्कंध का पूर्वार्द्ध सबकी कमी को पूरा कर देता है। वही सूरसागर का प्रमुख अंश है। दशम स्कंध के उत्तरार्द्ध में जरासंध से युद्ध, द्वारका-निर्माण, कालयवन-दहन, मुचुकुन्द का उद्धार, द्वारका प्रवेश, रुक्मिणी-हरण, प्रद्युम्न का जन्म, सत्यभामा और जाम्बवती से विवाह, भौमासुर—वध, प्रद्युम्न—विवाह, ऊषा—अनिरुद्ध—विवाह, नृगराज का उद्धार, बलराम का व्रज—गमन, सांब—विवाह, कृष्ण का हस्तिनापुर जाना, जरासंध—वध, शिशुपाल—वध, शाल्व का द्वारका पर आक्रमण, शाल्व—वध, दन्तवक्र और बल्वलका वध, सुदामा—दारिद्र्य-भंजन, कुरुक्षेत्र में आगमन और नन्द, यशोदा तथा गोपियों से मिलना, वेद—स्तुति, नारद—स्तुति, सुभद्रा-अर्जुन का विवाह, भस्मासुर-वध, भृगु—परीक्षा आदि विषयों का वर्णन है, जो भागवत के ही अनुसार है।

एकादश स्कन्ध—इसमें केवल ६ (ना० प्र० स० ४) पद हैं, जिनमें श्रीकृष्ण का उद्धव को बदरिकाश्रम भेजने, नारायणावतार तथा हंसावतार का वर्णन है। भागवत के एकादश स्कंध के अन्य विषयों को छोड़ दिया गया है और यदि सूर ने उन विषयों का भी वर्णन किया है, तो अभी तक तद्विषयक पद उपलब्ध नहीं हुए।

द्वादश स्कन्ध—इसमें ५ (ना० प्र० स० ५) पद हैं, जिनमें बुद्धावतार, कल्कि अवतार तथा राजा परीक्षित और जनमेजय की कथायें हैं। अवतारों का वर्णन भागवत के एकादश स्कंध के अनुसार है।

सूरसागर के छन्द—सूरसागर गीति काव्य है। उसमें गौरी, बिहाग, नट, सारंग, केदार, मलार, सोरठ, जैतश्री, धनाश्री आदि अनेक राग-रागिनियाँ पाई जाती हैं। गीतियों के अतिरिक्त उसमें १५ मात्राओं की चौपई तथा चौबोला और १६ मात्राओं की चौपाई नाम के छन्द भी पाये जाते हैं, परंतु वे सूरसागर में पदों के ही अन्तर्गत सम्मिलित कर लिये गये हैं। इस प्रकार के पद कहीं तो चौपाई की पचास अर्द्धालियों से मिल कर बने हैं और कहीं कुछ न्यूनाधिक भी हैं। पन्द्रह और सोलह मात्राओं वाले उपर्युक्त छन्द एक ही पद के अन्तर्गत पाये जाते हैं। सूरसागर के तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ, सप्तम और द्वादश स्कन्ध अधिकतर इन्हीं छन्दों में लिखे गये हैं। अन्य स्कन्धों में भी ये छन्द इधर-उधर बिखरे पड़े हैं। उदाहरण के लिए प्रथम स्कन्ध के १४०, १४१, १६७, १६८

और १६६ संख्या के पद; द्वितीय स्कन्ध के ११ और ३७ संख्या वाले पद; नवम स्कन्ध के प्रथम सात पद तथा अन्तिम १६६, १७०, १७१ और १७२ संख्या वाले चार पद इन्हीं छन्दों के सम्मिश्रित रूप से बने हैं। दशम और एकादश स्कन्धों में भी ये छन्द बाहुल्य से पाये जाते हैं। कहीं-कहीं पर सोलह मात्रा का पद्धरी छन्द भी प्रयुक्त हुआ है। नवम स्कन्ध का १६४ संख्या वाला पद इसी छन्द में है। पृष्ठ ४३१ पर ८६ संख्या वाले पद में चौदह मात्राओं का मानव छन्द है। दोहे भी कई पदों के अन्तर्गत आये हैं; जैसे २५७ पृष्ठ पर ८२वाँ पद तथा पृष्ठ ३१-३२ पर २०५ संख्या वाला पद। पृष्ठ २५७ पर राग गौंड मलार के अन्तर्गत दोहा छन्द के जो बन्द दिए गए हैं, वे भाव-गरिमा एवं शैली-सौष्ठव में अद्वितीय हैं।

सूर ने और भी कई छन्दों के सम्मिश्रित रूप का प्रयोग किया है। सूरसागर के दशम स्कन्ध के उत्तरार्द्ध में पृष्ठ ५७५ पर विवाह वर्णन के अन्तर्गत पद-संख्या २४ में पहले तो सोलह मात्राओं की चौपाई, चौदह मात्राओं के सखी छन्द अथवा अठारह मात्राओं के पीयूष वर्ष और नरहरी छन्दों की दो दो पंक्तियाँ रक्खी गई हैं और उनके पश्चात् २६ मात्राओं के गीतिका अथवा २८ मात्राओं के हरि गीतिका छन्द के चार-चार चरण। इस प्रकार के छन्द के सम्मिश्रित रूप को राग विलावल के अन्तर्गत त्रिभंगी छन्द का नाम दिया गया है। पृष्ठ ३४६ पर राग सूही में दो चौपाइयों के पश्चात् गीतिका अथवा हरिगीतिका के चार चार चरण रख कर एक पद पूरा किया गया है। ऐसे पाँच पद इस राग में हैं। गीतिका अथवा हरिगीतिका को छन्द राग लिखा गया है। रामचरित मानस में भी हरिगीतिका को छन्द कहा गया है।

इसी प्रकार सूरसागर दशम स्कन्ध के पृष्ठ ५६० पर पद संख्या ४१ में राग आसावरी के अन्तर्गत सार आदि छन्दों का सम्मिश्रित रूप पाया जाता है। दशम स्कन्ध पृष्ठ ५६२ पर पद-संख्या ४३ में जो भँवरगीत है, उसमें रोला छन्द की दो पंक्तियाँ लिख कर एक दोहा छन्द रख दिया गया है। यही छन्द पृष्ठ १५१ पर अघासुर-वध, १७७ पर काली-लीला दूसरी तथा १५२ पर ब्रह्मा द्वारा वत्स बालक हरन लीलाओं के धनाश्री राग के अन्तर्गत हैं। और भी कई स्थानों पर इस छन्द का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार के सम्मिश्रित छन्द में नन्द दास का भ्रमर-गीत भी लिखा गया है।*

ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ कथा को शीघ्र समाप्त करना है, या कथा-विस्तार मूल में अधिक मिला है, वहाँ कथा को चौपाई आदि छन्दों द्वारा पूर्ण करने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु कथा का जो अंश भावना का उत्थान करने

* ऊपर उद्धृत संख्यायें वेंकटेश्वर प्रेस से सं० .....में प्रकाशित सूरसागर के अनुसार हैं।

वाले है, रागात्मिका वृति को प्रभावित करने वाले हैं, जिनमें सूर को अपने हृदय के अनुकूल सामग्री मिली है, वे गीतियों में लिखे गये है। सूर की मौलिकता एवं प्रतिभा इन्ही गीतियों मे पूर्णतया प्रस्फुटित हुई है। सूरसागर से बढ़ कर न तो गीतियों का भण्डार कही है और न भावुकता का।

सूरसागर मे कई लीलाओं की पुनरावृत्ति हुई है। उसके दशम स्कन्ध में 'भँवर गीत की लीला' तीन बार आई है। एक लीला तो भागवत का अनुवाद जान पड़ती है, क्योंकि उसमे ज्ञान, वैराग्य और अद्वैतवाद का विशेष रूप से वर्णन हुआ है; परन्तु अन्य दो लीलायें मौलिक और सूर की स्वतन्त्र रचना कही जा सकती है। तीनों लीलाओं मे सूर ने ज्ञान पर भक्ति की विजय दिखलाई है। यमलार्जुन-उद्धार की लीला भी दो बार वर्णित हुई है—प्रथम वार उसका सरस पदों मे वर्णन किया गया है और द्वितीय वार चौपाई छन्दों मे। द्वितीय वार की लीला के समस्त चौपाई छन्दों को एक पद मान लिया गया है। और भी कई लीलाओं की पुनरावृति की गई है, जैसे काली-लीला, ब्रह्म-बालक-वत्स-हरन लीला, वस्त्र-हरन लीला, गोवर्धन-लीला, रास लीला (छोटी और बड़ी) इत्यादि।

लीलाओं की इस पुनरावृत्ति से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि समस्त सूरसागर क्रमवद्ध रूप मे कभी नहीं लिखा गया। सूर समय-समय पर पद-रचना करते रहे। श्रीनाथ जी के शृंगार के अवसर पर उन्हे प्रतिदिन कीर्तन के लिये नवीन पद बनाने पड़ते थे। नैमित्तिक आचार जैसे फाग, हिंडोला, वसंत आदि के अवसरों पर भी वे पद बनाकर गाते थे। इस प्रकार जो सहस्रों पदों का भण्डार एकत्रित हो गया, उसे बाद में उन्होंने या उनके किसी शिष्य ने भागवत से मिला-कर स्कन्धों मे विभाजित एवं क्रमवद्ध कर डाला। जिन कथाओं पर पहले नहीं लिखा होगा, उन्हे नये सिरे से लिख कर सूरसागर मे सम्मिलित कर दिया होगा। चौपाइयों में वर्णित कथा हमे बाद की लिखी जान पड़ती है। लीलाओं की पुन-रावृत्ति का यही कारण है।

सूरसागर एक विशाल काव्य—आचार्यो द्वारा निर्दिष्ट महाकाव्य की परिभाषा चाहे सूरसागर पर लागू न हो, पर वह अपने वर्तमान रूप मे एक विशाल काव्य-ग्रन्थ है, जो कई छोटे-छोटे ग्रन्थों मे विभाजित किया जा सकता है। गीति-काव्य होने के कारण उसके पदों पर जो मुक्तक काव्य की छाप लगी हुई है, वह भी उसमें वर्णित भिन्न-भिन्न लीलाओं को स्वतंत्र काव्य-रचना का महत्व प्रदान करने वाली है। सूरसागर के एक-एक विषय के पदों को संगृहीत करके कई सुन्दर खण्ड काव्यों का निर्माण हो सकता है। कतिपय विद्वानों ने इस दिशा मे प्रयास किया भी है। सूर के विनय-संबंधी कुछ पद हिंदी साहित्य-सम्मेलन प्रयाग द्वारा सूर-पदावली नाम की एक पृथक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। श्री सत्यजीवन वर्मा ने सूर के नयन-संबंधी पदों को संकलित करके एक स्वतंत्र ग्रन्थ

का रूप दे दिया है। इसी प्रकार स्वर्गीय आचार्य शुक्ल जी ने भ्रमर गीत वाले पदों को भ्रमरगीतसार के नाम से एक पुस्तक मे प्रकाशित किया है। दानलीला, मानलीला, रासलीला आदि के पदों को एकत्रित करके उसमें से इन्हीं नामों के और भी कई ग्रन्थ निकाले जा सकते हैं। सूरसागर वास्तव मे सागर है—अथाह, अगाध, अपार। स्वर्गीय आचार्य शुक्ल जी के शब्दों मे 'न जाने कितनी मानसिक दशाओं का संचार उसके भीतर है।'

सूरसारावली

इसके प्रारम्भ का पद वही है जो सूरसागर के प्रथम स्कन्ध के प्रारम्भ मे पाया जाता है। शब्दों मे थोड़ा-सा परिवर्तन है। सूरसागर में पद की टेक है, "चरण कमल वंदौं हरि राई" और सारावली के पद की टेक है, "वंदौं श्री हरि-पद सुखदाई।" अन्तिम पंक्ति मे भी शब्दों का थोड़ा-सा परिवर्तन है। परंतु यह पद सारावली का प्रथम पद नहीं है। सारावली के छंदों की संख्या "अविगत आदि अनन्त अनूपम अलख पुरुष अविनाशी, पूरण ब्रह्म प्रकट पुरुपोत्तम नित निज लोक विलासी।" इस छन्द से प्रारम्भ होती है। मालूम होता है, सूर ने या अन्य किसी प्रतिलिपिकार ने यह पद मंगलाचरण के रूप मे सूरसागर से निकाल कर यहाँ रख दिया है।

मंगलाचरण के पश्चात् "रागिनी काफी ताल जाति" लिखकर यह पंक्ति लिखी है:—

"खेलत यह विधि हरि होरी हो हरि होरी हो, वेद विदित यह बात।"

परंतु इस पंक्ति के साथ इसके जोड़ की दूसरी पंक्ति सारावली में कहीं पर भी नहीं है। इसी पंक्ति को छन्द-संख्या ११०४ के पश्चात् फिर दुहरा दिया गया है, परंतु इसके साथ की दूसरी पंक्ति वहाँ पर भी नहीं है।

सारावली के छन्द नं० १९ मे लिखा है:—

आज्ञा करी नाथ चतुरानन करो सृष्टि विस्तार।
होरी खेलन की विधि नीकी रचना रचे अपार॥

इसके पश्चात् छन्द-संख्या ३५९ मे लिखा है:—

यह विधि होरी खेलत खेलत बहुत भाँति सुख पायो।
धरि अवतार जगत मे नाना भक्तन चरित दिखायो॥

इन दोनों छन्दों से प्रतीत होता है कि सृष्टि की रचना होली खेलने या लीला करने का ही अपर रूप है। प्रभु की जो शाश्वत लीला प्रकृति के कण-कण में सूक्ष्म रूप से अभिव्यक्त होकर इस विशाल ब्रह्माण्ड मे व्यापक रूप में प्रकट हो रही है, वह अवतारों में मनुष्यों के सम्मुख उनके अपने रूप में भी कभी-कभी

दृष्टिगोचर हो जाती है। प्रकृति के लघु से लघु अवयव से लेकर महान से महान अवयव से यह चरितार्थ हो रही है। हमारा होलिका पर्व भी कुछ-कुछ उसी भावना को लेकर प्रचलित हुआ है। इस पर्व में भी छोटे-बड़े का विचार नहीं रहता। सब मिलकर होली खेलते हैं और फाग-गाते हुए एक ही रंग में रंगे मस्त दिखलाई देते हैं। अतः सारावली में मंगलाचरण के पश्चात और सारावली के प्रथम छन्द से पूर्व जो होली खेलने का उल्लेख करने वाली पंक्ति पाई जाती है, वह सारावली के ११०७ छन्दों को पदबन्दों से परिवर्तित करके होली के एक गान के रूप में उपस्थित करती है, जिसकी टेक वह स्वयं एक पंक्ति है। सूर सारावली के बीच-बीच में अन्य कई स्थानों पर, जैसे छन्द सं० १७, ३५, ३०६, ३५६, ७२६, ११०० में होली का निर्देश किया गया है।

(ब्रज की होली प्रख्यात है। ऐसी होली और किसी प्रान्त में नहीं मनाई जाती। यह बसन्त से लेकर चैत्र पूर्णिमा तक चलती है। सूर-सारावली के छन्द संख्या १०४७, से लेकर १०८७ तक वसन्त से ही प्रारम्भ करके, निरिवार, राधा-कृष्ण और ब्रज के गोप-गोपियों के होली खेलने का वर्णन किया गया है।) होली नाम के गान भी होते हैं। इन गानों की टेक बिल्कुल ऐसी ही होती है जैसी इस पंक्ति में है। टेक के कुछ शब्द 'होरी हो होरी' इसी प्रकार दुहराये जाते हैं। टेक के पश्चात् दो-दो पंक्तियों का एक बन्द गाया जाता है और प्रत्येक बन्द के पश्चात् टेक की पुनरावृत्ति की जाती है। सारावली में भी दो-दो पंक्तियों के ११०७ बन्द पाये जाते हैं। अतः हमारी समझ में सारावली एक बृहत होली नाम का गीत है, जिसकी टेक है:—

"खेलत यह विधि हरि होरी हो, हरि होरी हो वेद विदित यह बात।"

इसी एक गीत की ११०७ कड़ियाँ हैं, जो सारावली के छन्दों की संख्या के रूप से प्रकट की गई हैं। सारावली में जो "एक लक्ष पद बन्द" वाली बात कही गई है उसका भी इस होली वाले गीत से समर्थन हो जाता है। इसका उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं।

सारावली के ११०७ छन्दबन्दों का सारांश:— ब्रह्म निर्गुण, अनुपम, अनन्त, अलख और अविनाशी है। वही पुरुषोत्तम रूप में प्रकट होकर नित्य अपने लोक में विलास किया करता है। यहीं अनादि-अजर वृन्दावन है, जहाँ कुन्जलताओं का विस्तार है। यहीं कालिन्दी का रत्नजटित तट है। उसके पवित्र जल में सारस, हंस आदि किलोलें कर रहे हैं। यहीं मणि-निर्मित, सघन कन्दराओं से युक्त गोवर्धन पर्वत है, यहीं पर गोपियों के बीच में कृष्ण राधा के साथ विहार करते हैं और वेदरूपी भौंरे गुंजार भर रहे हैं। विहार करते हुए, खेल

खेलते हुए, भगवान के अन्दर सृष्टि-रचना का विचार उत्पन्न हुआ। हरि ने अपने आप में से ही काल-पुरुष की अवतारणा की। माया ने इस काल-पुरुष में क्षोभ उत्पन्न किया, जिससे प्रकृति के सत-रज-तम तीन गुण प्रादुर्भूत हुये। इन्हीं तीन गुणों से २८ तत्व उस समय प्रकट हो गये। इन २८ तत्वों में ५ महाभूत, ५ सूक्ष्म-भूत (पंचतन्मात्रा), चार अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार,) प्राणापान इत्यादि १० प्राण (सूर ने नाग के स्थान पर तक्षक तथा कूर्म और कृकल के स्थान पर पौंड्रक और शंख रखा है), राजस, तामस, सात्विक तीन प्रकार के जीव और एक ब्रह्म की गणना है।* इसके पश्चात् नारायण की नाभि से कमल और कमल से वेद-गर्भ ब्रह्मा प्रकट हुए। यह ब्रह्मा नाभि-कमल की नाल का अन्त जानने के लिए बहुत भटकते फिरे, परन्तु उसका अन्त न जान सके। हरि ने ब्रह्मा को तप करने की आज्ञा दी। ब्रह्मा ने सौ वर्ष तक तप किया, जिससे उनके समस्त पाप दूर हो गये। भगवान ने उन्हें अपने धाम मे दर्शन दिया, जिससे वे (ब्रह्मा) सब प्रकार से शोक-रहित हो गये। ब्रह्मा को भगवान ने सृष्टि रचना करने की आज्ञा दी, जो होली खेलने का एक सुन्दर प्रकार है। ब्रह्मा ने चौदह लोक, वैकुण्ठ और पाताल की सरस होली के खेल के रूप में अनेक प्रकार से रचना की।

ब्रह्मा के १० पुत्र उत्पन्न हुए। उनके बाद शतरूपा और स्वायंभुव का जन्म हुआ। इसके पश्चात् भगवान ने पृथ्वी की रक्षा करने के लिए वाराह अवतार धारण किया। फिर वे कपिल रूप में सांख्यशास्त्र के प्रवचनकर्ता हुए और माता देवहूति को ज्ञान देकर भवसागर से पार किया। भगवान ने आठ लोक-पालों को अपने-अपने अधिकार पर नियुक्त कर दिया। सात लोक, नवखण्ड, सात द्वीप, वन, उपवन, पर्वत सब उसी द्वारा निर्मित हुये (नवखण्डों के नाम हैं— इलावर्त, किंपुरुष, कुरु, हरिवर्ष, केतुमाल, हिरण्यमय, रमणक, भद्रासन और भरत खंड। सात द्वीप हैं:—जम्बू, प्लक्ष, क्रौंच, शाक, शाल्मलि, कुश और पुष्कर।)

छन्द सं० ३६ से चौबीस अवतारों का वर्णन प्रारम्भ होता है। छंद संख्या ७० तक शूकरावतार, यज्ञावतार, कपिलावतार और दत्तात्रेय का वर्णन

---

*श्रीमद्भागवत, तृतीय स्कन्ध, अध्याय २६ के दसवें श्लोक से १८वें श्लोक तक २५ तत्वों का वर्णन है, जिसमें ५ महाभूत, ५ तन्मात्रा, चार अन्तःकरण, १० इन्द्रियाँ और एक काल रूप पुरुष की गणना की गई है। परन्तु ११वें स्कन्ध के २२वें अध्याय में प्रकृति के तीन गुणों—सत, रज, तम—को प्रकृति से पृथक मान कर तत्वों की संख्या २८ भी मान ली गई है। इस स्थल पर भागवत-कार ने ४, ६, ७, ६, ११, १३, १६, १७, २५, २६, और २८ तत्व मानने वाले सभी विद्वानों के मतों को अविरोध प्रतिपादित किया है। आचार्य वल्लभ ने अन्तःकरण चतुष्टय मे चित्त के स्थान पर प्रकृति को रखा है।

है। छन्द संख्या ७१ से ८२ तक ध्रुव की कथा है। इनके पश्चात्‌ हंस, पृथु ऋषभदेव और (शंखासुर को मार कर वेदों का उद्धार करने वाले) हयग्रीव का संक्षेप में उल्लेख है। छन्द संख्या ६२ से ६६ तक मत्स्यावतार का वर्णन है। फिर कूर्मावतार का उल्लेख करके छन्द सं० १०१ से १३५ तक हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद की कथा तथा नृसिंह अवतार का वर्णन किया गया है। छन्द संख्या १३६ में परशुराम अवतार का उल्लेख है। छन्द-संख्या १४० से ३१६ तक राम कथा का कुछ विस्तार-पूर्वक वर्णन उपलब्ध होता है। इस कथा में सूरसागर के नवम स्कन्ध की रामगाथा के समान ही सूरदास ने वाल्मीकि रामायण के आधार पर राम का जीवन चरित प्रस्तुत किया है। सूर ने वाल्मीकि रामायण के साथ व्यासमुनि-प्रणीत ब्रह्माण्ड पुराण की रामगाथा का भी नाप लिया है और महादेव को रामचरित का प्रथम विस्तार करने वाला कहा है। वाल्मीकि का नाम व्यास के पश्चात्‌ लिया गया है। कतिपय पाश्चात्य आलोचकों की सम्मति में वाल्मीकीय रामायण का वर्तमान रूप महाभारत के वर्तमान रूप के भी पीछे का है।

सूर ने अपने सागर की भाँति सारावली में भी राम के बालरूप के प्रति अधिक मोह प्रदर्शित किया है और उसका हृदयहारी वर्णन किया है। असुरों से यज्ञ की रक्षा करने के लिए जब विश्वामित्र ने दशरथ से राम-लक्ष्मण की याचना की, तो दशरथ अपने पुत्रों के स्थान पर स्वयं जाने को उद्यत हो गए। तुलसीकृत रामचरित मानस में दशरथ की इस उक्ति का वर्णन नहीं है। सूर ने फुलवारी के प्रसंग का भी समावेश नहीं किया है, केवल देवी-पूजन के समय राम के दर्शन का उल्लेख कर दिया है, जिससे फुलवारी के प्रसंग की ध्वनि निकल आती है। इसी प्रकार सूर ने चित्रकूट पर भरत को राम द्वारा विश्व रूप का दर्शन कराया है, जो वाल्मीकि और तुलसी दोनों में ही नहीं है। पंपासर के जल को स्वच्छ करने की बात भी तुलसी में नहीं है। रामगाथा में भी सूर ने राम और सीता के होली खेलने का वर्णन छन्द-संख्या ३०६ से ३१३ तक किया है।

छन्द सं० ३१७ में परशुराम अवतार का पुनः उल्लेख पाया जाता है। छन्द सं० ३१८ में व्यासावतार और ३१६ में बुद्धावतार वर्णित है। सूर ने बुद्ध को पाखण्डवाद का खण्डन करने वाला और हरिभक्तों के लिये अनुकूल कहा है। इसके पश्चात्‌ म्लेच्छों का नाश करने वाले कल्कि, कर्मवाद की स्थापना करने वाले पृश्निगर्भ, देवताओं को अमृतपान कराने वाले प्रभु के मोहिनीरूप, बलराम, श्रीकृष्ण, विभु, अजित कच्छप और वामनावतार का वर्णन है। वामनावतार के अन्तर्गत छन्द सं० ३३० से लेकर ३४६ तक बलि की कथा दी हुई है। अवतारों के इस वर्णन में भी सूर ने होली खेलने की ही महत्ता प्रदर्शित की है; जैसे—

यह विधि होरी खेलत-खेलत वहुत भाँति सुख पायो ।
धरि अवतार जगत मे नाना भक्तन चरित दिखायो ॥३५६॥

छन्द सं० ३६० से कृष्णावतार की गाथा प्रारम्भ हुई है । कृष्ण के साथ बलराम अवतार भी हुआ था । यहाँ भी कृष्ण को अलख-अगोचर ब्रह्म कहा गया है:—

नित्य अखण्ड अनूप अनागत अविगत अनघ अनन्त ।
जाको आदि कोउ नहि जानत कोउ न पावत अन्त ॥ ३६१ ॥†

इस गाथा मे भी कृष्ण के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली प्रायः सभी बातें आ गई हैं । सूरसागर मे कथा का जैसा क्रम है, वैसा ही यहाँ पर भी है । कही कही तो शब्द, पद तथा अलंकार ज्यों के त्यों रख दिये गये हैं । सारावली एक प्रकार से भागवत और सूरसागर मे वर्णित कथा की सारसूची भी है । सूर ने स्वयं छन्द संख्या ११०३ मे इसे हरिलीला का सार कहा है ।

भक्ति के विकास मे हमने अवतार वाद के मूल मे जैन-प्रभाव को सूचित किया है । सूरसारावली मे कृष्ण मुचकुन्द से अपने अवतारों के सम्बन्ध मे कहते है:—

तब हरि कह्यो जन्म मेरे बहु वेद न पावे पार ।
भुव की रज नभ के सब तारे जितने है अवतार ॥६०६॥

इस छन्द मे अगणित अवतारों का उल्लेख है । अवतारों की यह अपरिमित संख्या चर-अचर, जड़-जंगम अथवा प्रकृति एवं जीवमय जगत के विविध रूपों की ही संख्या है । अतीव स्थूल रूपों को छोड़ भी दिया जाय, तो वनस्पति से लेकर उन्नत मानव तक जितना प्राणमय जगत है, सब प्रभु के अवतारों के अन्तर्गत है । गीता के अनुसार भी जहाँ-जहाँ विभूति, श्री और ऊर्जस्विता दिखाई दे रही है, वहाँ-वहाँ ईश्वर का तेज ही प्रकट हो रहा है । इस प्रकार के वचन जैनधर्म के जीव-ईश्वर सिद्धांत से अधिक समता रखते है । आज के हिन्दू

---

†इसी विषय से सम्बन्ध रखने वाले सारावली के नीचे लिखे पद भी दर्शनीय हैं:—

जित-जित देखौं तुम परिपूरण आदि अनन्त अखण्ड ।
लीला प्रकट देव पुरुषोत्तम व्यापक कोटि ब्रह्मण्ड ॥ ६८३ ॥
सदा बसत हरिपुरी द्वारिका बहु विधि भोग-विलासी ।
आदि अनन्त अघट्ट अनूपम हैं अविगत अविनासी ॥ ८४६ ॥
शोभा अमित अपार अखंडित आप आतमाराम ।
पूरण ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम सब विधि पूरण काम ॥ ६६२ ॥

धर्म में देशी-विदेशी, वैदिक-अवैदिक, आर्य-अनार्य आदि कई धर्मों का सम्मिश्रित रूप दिखाई देता है।

(वर्तमान हिन्दू धर्म मे मृत देहधारियों का ही श्राद्ध और तर्पण होता है, जीवितों के श्राद्ध-तर्पण की बात उपहासास्पद समझी जाती है; परन्तु सूरसारावली से कृष्ण को श्राद्ध और तर्पण करते हुए दिखलाया है। महाभारत और भागवत* से सिद्ध होता है कि कृष्ण के पिता वसुदेव युद्ध के बाद तक जीवित रहे। अतः यह श्राद्धक्रिया जीवित व्यक्तियों की ही है।)

छन्द-संख्या ६७८ और ६७६ मे सूर्य, शिव और दुर्गा की पूजा का वर्णन है, जो सूरसागर के दशम स्कन्ध मे वर्णित शिव, सूर्यादि की पूजा के समान है।

छन्द सं० ७५० मे कुब्जा को परदारा कहा है, जो वंगीय वैष्णव शाखा के परकीया प्रेम को सूचित करता है। कृष्ण गाथा के ही अन्तर्गत छन्द सं० ७३४ से ८०६ तक पांडवों और कौरवों के युद्ध की कथा संक्षेप मे वर्णन की गई है। छन्द सं० ८७२ से ६३६ तक कृष्ण की बाललीला हैं, जिसमे माखन-चोरी, दधि-लीला, दान-लीला-मानलीला आदि का वर्णन है। छन्द सं० ६३७ से ६६६ तक दृष्ट कूट पदों की सूची है। ६६६ पद के पश्चात् लिखा है:—"इति दृष्ट कूट सूचनिका सम्पूर्ण।" इसके बाद श्याम-श्यामा की रास लीला का वर्णन है, जिसका दर्शन सूर को गुरु वल्लभाचार्य की कृपा से सिद्धि रूप मे प्राप्त हुआ था। इसका उल्लेख छन्द सं० १००२ में है। छन्द सं० १०१३ से १०१७ तक विविध राग-रागिनियों के नाम गिनाये गये हैं, जिससे स्पष्ट है कि सूरदास गाने की कला मे निपुण थे। इसके बाद वसन्त और होली का वर्णन चल पड़ता है, जो छन्द सं० १०८७ पर समाप्त होता है।

छन्द सं० १०८८ और १०८६ मे ब्रज के मधुवन, कुमुदवन, कामवन, लोहवन, बेलवन आदि वनग्रामों का वर्णन है और छन्द सं०१०६० मे ब्रज को ८४ कोस का कहा गया है। तांत्रिक विद्वानों के अनुसार ८४ कोस का ब्रज-मण्डल स्त्री का ८४ अंगुल का शरीर ही है। ब्रज की जो पंच-कोशी प्रख्यात है, वह भी अंग विशेष का ही अपर नाम है।

छन्द सं० १०६० से लेकर १०६२ तक कृष्ण-कथा के गायकों, वक्ताओं और श्रोताओं के नाम दिये हैं। सूर कहते है कि ब्रजमोहन के चरित्रों का गायन वेदवाणी में है। व्यास ने इसे भागवत पुराण में लिखा है। इसी ग्रन्थ से

---

*देखो भागवत प्रथम स्कन्ध, चौदहवाँ अध्याय, श्लोक २५, २६।

तांत्रिक और ज्योतिषियों को इसका ज्ञान हुआ। नारायण भगवान ने यही चरित्र नारद को और वैकुण्ठ में सनकादिक को सुनाया था। व्यास ने अपने पुत्र शुकदेव को सुनाया। शुकदेव ने परीक्षित को सुनाया। नारायण ने ब्रह्मा को और ब्रह्मा ने नारद को उसका रहस्य समझाया। नारद ने व्यास को सुनाया और व्यास से पढ़ कर शुकदेव ने परीक्षित को इसका उपदेश किया। सनत्कुमार से सुनकर शेष ने सांख्यायन को भगवान की कथा सुनाई। बृहस्पति से यह कथा मैत्रेय और उद्धव को प्राप्त हुई।

(अन्त मे सूर लिखते है कि यह हरि कथा भगवान की शाश्वत लीला है। इसके समक्ष, ज्ञान, कर्म, उपासना और योग सब भ्रम रूप है) समस्त तत्व, ब्रह्मांड, देव, माया, काल, प्रकृति, पुरुष, श्रीपति और नारायण उसी एक गोपाल भगवान के अंश रूप हैं। आचार्य वल्लभ ने तत्वों के इस परम तत्व को मुझे बताया और भगवान की लीला के रहस्य को हृदयंगम कराया। उसी दिन से मैंने हरि-लीलाका गायन किया, जिसमें एक लक्ष पद-बन्द है। उसी का सार यह सूरसारावली है। इस लीला को जो सीखता है, सुनता है और मन लगा कर पढता है, उसके साथ भगवान रहते हैं और उसका जीवन आनन्द पूर्वक व्यतीत हो जाता है। वर्ष भर भगवान के चरणों में ध्यान लगा कर जो इस लीला का गान करते हैं वे गर्भ रूपी कारागार में फिर बन्द नहीं होते, सर्वदा के लिये मुक्त हो जाते हैं।

साहित्यलहरी

काल-निर्णय—सूरदास ने साहित्यलहरी का निर्माण सुवल संवत् १६२७ विक्रमी में किया था, जैसा कि इस ग्रन्थ के "मुनि पुनि रसन के रस लेखि" वाले पद सं० १०६ से प्रकट होता है। ग्रन्थ-निर्माण का उद्देश्य भी इस पद की अन्तिम पंक्ति में दिया हुआ है। सूर ने साहित्यलहरी नन्दनन्दन अर्थात भगवान श्रीकृष्ण के भक्तों के लिये निर्मित की। साम्प्रदायिक वार्ताओं के अनुसार नन्ददास को पुष्टिमार्ग मे प्रवृत करने तथा शिक्षा देने के लिये सूरदास ने इस ग्रन्थ का निर्माण किया था। अष्टछापी नन्ददास सम्प्रदाय मे नन्दनन्दन दास भी कहे जाते थे।

सुवल संवत् पर हमने अधिक विचार किया। कई ज्योतिषियों से पूछा और ज्योतिष के ग्रन्थों को स्वयं भी देखा। इन ग्रन्थों के अनुसार संवत्सर साठ होते हैं। ज्योतिष चन्द्रिका तथा शीघ्रबोध के आधार पर इनके नाम नीचे लिखे जाते हैं :—

प्रभव, विभव, शुक्ल, प्रमोद, प्रजापति, अंगिरा, श्रीमुख, भाव, युवा, धाता, ईश्वर, बहु धान्य, प्रमाथी, विक्रम, वृष, चित्रभानु, सुभानु, तारण, पार्थिव,

व्यय, सर्वजित्, सर्वधारी, विरोधी, विकृत, खर, नन्दन विजय, जय, मन्मथ, दुर्मुख, हेमलम्ब, विलम्बी, विकारी शार्वरी, प्लव, शुभकृत, शोभन, क्रोधी, विश्वावसु, पराभव, प्लवंग, कीलक, सौम्य, साधारण विरोधक, परिधावी, प्रमादी, आनन्द, राक्षस, नल, पिंगल, कालयुक्त, सिद्धार्थी, रौद्र, दुर्मति, दुन्दुभि, रुधिरोद्-गारी, रक्ताक्षी, क्रोधन और क्षय। इनमें प्रथम बीस संवत् ब्रह्मविंशति, द्वितीय बीस संवत् विष्णुविंशति और अन्तिम बीस संवत् रुद्रविंशति कहलाते हैं।

इन साठ संवतों का एक चक्र के रूप में पुनरावर्तन होता रहता है, अर्थात् प्रत्येक संवत् साठवें वर्ष में अपने स्थान पर आ जाता है। परन्तु इन संवतों में सुबल संवत् का नाम नहीं आता। सारावली के अन्त में सूर ने एक सरस संवत्सर का भी नाम लिया है। वह भी इस सूची में नहीं मिलता। हमने कई प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्यों से पूछा, तो उन्होंने इन संवतों की सत्यता स्वीकार की और कहा कि पीछे सूची में जो साठ संवतों के नाम दिये हैं, उनमें से कई संवतों के अन्य नाम भी हैं। साथ ही उन्होंने फलित ज्योतिष के पूर्व की नारद संहिता और वशिष्ठ संहिता नाम की प्राचीन गणित ज्योतिष की कृतियों की ओर निर्देश किया। इनके अतिरिक्त रसखान की प्रेमवाटिका के ५१वें दोहे पर भी हमारी दृष्टि पड़ी, जिसमें सरस संवत् का उल्लेख हुआ है। यह दोहा इस प्रकार है.—

विधु सागर रस इन्दु सुभ, वरस सरस रस खानि।
प्रेमवाटिका रचि रुचिर, चिर हिय हरष बखानि॥

इस दोहे के अनुसार प्रेमवाटिका समाप्त करने का समय संवत् १६४१ सिद्ध होता है। विधु = १, सागर = ४, रस = ६, इन्दु = १, इसको 'अंकानां वामतो गतिः' के अनुसार उलटा पढ़ने से संवत् १६४१ निकलता है।* यह संवत् सरस नाम का संवत् था। मुसलमानों के समय में वैष्णव भक्ति के साथ संवतों के अन्य नामों का अवश्य प्रचार रहा होगा। अतः सरस और सुबल संवत् कल्पित नहीं, सत्य प्रतीत होते हैं। सरस संवत् १६४१ में था। अतः इसमें से ६० कम कर देने से इसके पूर्व का सरस संवत् १५८१ में पड़ा। हमारा अनुमान

---

*कालिदास ने चार ही समुद्र माने हैं, यथा:—

पयोधरी भूत चतु: समुद्रां, जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम्। रघुवंश सर्ग २

यदि समुद्र से ७ की संख्या ली जाय, तो प्रेमवाटिका का निर्माण संवत् १६७१ में ठहरेगा, जिसमें मन्मथ (सरस) संवत् नहीं पड़ता। अकबर का राज्य-काल भी इससे दस वर्ष पूर्व समाप्त हो जाता है और रसखान को अकबर के काल का कवि कहा जाता है। अतः प्रेमवाटिका का निर्माण १६७१ नहीं, १६४१ ही शुद्ध है।

है कि सूरसारावली की हरिदर्शन वाली मूल पंक्तियाँ इसी सरस संवत् अर्थात् १५८१ वि० मे निर्मित हुई। यही सरस संवत् १६४१ मे भी था, और यही संवत् (२०००) वि० का भी है। मन्मथ संवत् 'विष्णुविंशति' के संवतों में पड़ता है। अतः इस सूची का मन्मथ संवत् ही सरस संवत् का स्थानीय समझ पड़ता है। पिछली सूची मे मन्मथ संवत् उन्तीसवें नम्बर पर है। पर्यायवाची नामों के अनुसार भी मन्मथ संवत् ही सरस संवत् का उपयुक्त स्थानीय हो सकता है। इसी प्रकार सुवल के पर्यायवाची शब्दों मे विक्रम अथवा वृष संवत् का नाम आना अधिक सुसंगत प्रतीत होता है। वृष और मन्मथ संवतों मे चौदह वर्षों का अन्तर है। वृष पहले और मन्मथ वाद मे आता है। रसखान की प्रेमवाटिका का संवत् १६४१ है। इसमे से १४ घटा देने से संवत् १६२७ निकल आता है, जिसमे वृष नाम का संवत् पड़ता है। साहित्यलहरी से रसना के दो कार्य मानकर दो संख्या ग्रहण करके उसका निर्माण काल भी संवत् १६२७ ही होता है। यदि इसे मान लिया जाय, तो शृंखला ठीक बैठ जाती है।

साहित्यलहरी के 'मुनि पुनि रसन के रस लेख' शीर्षक पद से संवत् १६१७ और १६२७ दोनों ही निकाले जा सकते है। हमने सूर की जीवन संबंधी साक्षियों में इस पद को उद्धृत करके १६२७ संवत् का मानना ही उचित समझा है, क्योंकि सुवल का पर्यायवाची वृष संवत् १६२७ मे ही पड़ता है।† साहित्य में पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग की प्रणाली प्राचीन काल से प्रचलित है। सुवल और सरस शब्द तो वैष्णव धर्म की राधाकृष्ण-भक्ति वाले सम्प्रदाय के अपने विशेष परिचित शब्द है। सुवल श्रीकृष्ण के एक सखा का नाम है, और हरि-लीला को स्वयं सूरदास ने अनेक स्थानों पर सरस लीला कहा है। सूरसारावली और प्रेमवाटिका मे सरस शब्द संवत्सर और वर्ष के साथ प्रयुक्त हुआ है। अतः वहाँ यह संवत् विशेष का नाम ही प्रतीत होता है। यह सरस संवत् जैसा लिखा जा चुका है, मन्मथ नाम का सम्वत्सर ही हो सकता है। भक्ति क्षेत्र में मन्मथ को सरस कहना ही अधिक उपयुक्त है।

साहित्य-लहरी का विषय:—साहित्य लहरी के विषयों मे कोई भी तारतम्य दृष्टिगोचर नही होता। उसमे कृष्ण को वाललीला से सम्बन्ध रखने वाले

---

†साम्प्रदायिक वार्ताओं के आधार पर विरक्त सन्त श्री द्वारकादास जी परीख का मत है कि नन्ददास सर्वप्रथम संवत् १६०७ मे पुष्टि मार्ग में दीक्षित हुए, परन्तु थोड़े दिन रहकर ही अपने ग्राम को चले गये। द्वितीय वार संवत् १६२४ के लगभग वे पुन गोवर्धन आये। हमारी सम्मति मे तभी सूरदास ने उन्हे पुष्टिमार्ग में पुष्ट करने के लिए साहित्य लहरी लिखी होगी और सं० १६२७ मे उसका संकलन हुआ होगा।

भी पद है और नायिका भेद के रूप में राधिका के मान आदि का भी वर्णन है। उसमें वियोगिनी प्रोषितपतिका नायिका का भी चित्र है और संयोगिनी विलासवती स्त्री का भी। इसी प्रकार स्वकीया तथा परकीया का भी वर्णन पाया जाता है। इसी के साथ-साथ दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, प्रस्तुत आदि अलंकारों का भी श्लिष्ट शब्दों में जानबूझ कर उल्लेख किया गया है। पद संख्या ७४, ७५ में महाभारत की कथा के भी कुछ प्रसंग आ गये हैं। यह ग्रन्थ प्रमुख रूप से अलंकार तथा नायिका-भेद के निरूपण में लिखा गया है। इसकी शैली दुरूह दृष्टकूट की शैली है।

दृष्टकूट;—साहित्यलहरी के पद दृष्टकूट कहलाते हैं। दृष्टकूटों में यमक; श्लेष, रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकारों के प्रयोग से अर्थ समझने में कठिनाई पड़ती है। इसके अतिरिक्त इनमें कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है, जो साहित्य में विशेष अर्थों में रूढ़ हो गये हैं, जैसे दधिसुत का अर्थ चन्द्र और शैलतनया का अर्थ पार्वती होता है। कुछ स्थानों पर शब्दसाम्य के आधार पर अर्थ की कल्पना करनी पड़ती है, जैसे हरि का आहार मांस होता है, पर शब्द-साम्य से मांस का अर्थ मास अर्थात् महीना लिया जाता है। साहित्य में कुछ ऐसे शब्दों का भी प्रयोग प्राचीन काल से चला आता है जो एक विशेष संख्या के द्योतक हैं, जैसे विधु से १ संख्या का अर्थ लिया जाता है, नयन से २ का, रुद्र से ११ का और संस्कार से १६ का। कभी-कभी दो-तीन शब्दों के प्रथम, मध्य या अन्तिम अक्षरों से नवीन शब्द बना लिया जाता है। साहित्यलहरी के पदों में दृष्टकूट सम्बन्धी ऊपर उल्लिखित सभी बातें पाई जाती हैं। कुछ उदाहरण लीजिये:—

(१) यमक अलंकार:—जहाँ एक ही शब्द का कई बार प्रयोग हो, पर अर्थ भिन्न-भिन्न हो:—

सारंग समकर नीक-नीक सम सारंग सरस बखाने।
सारंग बस भय, भय बस सारंग, सारंग विसमै मानै॥
सारंग हेरत उर सारंग ते सारंग सुत ढिग आवै।
कुन्तीसुत सुभाव चित समुझत सारंग जाइ मिलावै।
यह अद्भुत कहिवे न जोग जुग देखत ही बनि आवै॥
सूरदास चित बसै समुझ करि विपई विधै मिलावै॥ ४॥

इस पद में सारंग शब्द में यमक है और इसके मृग, राग, कमल आदि कई अर्थ हैं। पद में मध्या नायिका है और उपमानोपमेय अलंकार है। विषयी = उपमान, विषय = उपमेय।

(२) रूपकातिशयोक्ति—जहाँ उपमानों के द्वारा उपमेय का वर्णन हो:—

गृह ते चली गोपि कुमारि ।
खरक ठाढ़ो देख अद्भुत एक अनुपम मार ॥
कमल ऊपर सरल कदली, कदलि पर मृगराज ।
सिंघ ऊपर सर्प दोई, सर्प पर ससिराज ॥
मध ससी के मीन खेलत रूपकांत सुजुक्ति ।
सूर लखि भई मुदित सुन्दर करत आछी उक्ति ॥ १४ ॥

इस पद में कमल, कदली, मृगराज, सर्प, शशि और मीन उपमान है, जिनसे क्रमशः कृष्ण के चरण, जंघा, कटि, भुजा, मुख, और नेत्रों का वर्णन अभिप्रेत है, जो उपमेय रूप हैं ।

(३) श्लेष के आधार पर मुद्रा, परिसंख्या आदि कई अलंकार होते है। नीचे लिखे पद में मुद्रा अलंकार द्वारा कई फूलों के नाम निकलते है, साथ ही एक पृथक अर्थ भी है:—

कत मो सुमन सों लपटात ।
समुझि मधुकर परत नाहीं मोहिं तोरी बात ।
हेम जूही है न जा संग रहे दिन पश्चात ।
कुमुदनी सँग जाहु करके केसरी को गात ॥
सेवती संतापदाता तुमै सब दिन होत ।
केतकी के अङ्ग अङ्गी रङ्ग बदलत जोत ॥
हों भई कृस हाइ समझत बिरह पीर पहार ।
सूर के प्रभु करत मुद्रा कौन विविध विचार ॥ ७१ ॥

नायिका का नायक से कथन है । हेमजूही=सोनजुही फूल का नाम । श्लेष से सो = वह, न = नहीं, जु = जो, हीं = हृदय मे, अर्थात् मै वह नहीं हूँ जिसको तुम अपने हृदय मे रखते हो । कुमोदनी = फूल का नाम । श्लेष से जिसको कुमुद (काम-नशा) चढ़ा हो । सेवती = पुष्प विशेष । श्लेष से सेवा करने वाली । केतकी = पुष्प विशेष । श्लेष से कितनी ही अर्थात् अनेक नायिकायें ।

(४) रूढ़ार्थ शब्दों का प्रयोग:—

बैठी आजु कुंजनु ओर ।
तकत है वृषभानु नंदिनि वलित नंदकिशोर ॥
भानु सुत हित शत्रु पितु लागत उठत दुख घेर ।
ह्वै गये सुर सूल सूरज विरह अस्तुति फेर ॥ ३२ ॥

गया कुंज में बैठी नन्दकिशोर की ओर देख रही है। भानु-सुत = कर्ण। कर्ण का हित = दुर्योधन। दुर्योधन का शत्रु = भीम। भीम का पिता = पवन। पवन के चलने से राधा को दुःख घेर लेता है। सुर = सुमन, फूल भी उसे काँटे के समान चुभने वाले बन गये हैं।

(५) शब्द-साम्य से अर्थ की उद्भावना:—

काहे को मम सदन सिधारो।
व्रजभूषन बलि जाहुँ निहारी तुम व्रज जीवन जग उजियारो।
ग्रह नक्षत्र है वेद जासु घर ताहि कहा सारंग सम्हारो।
गिरिजापति भूषन जिन देखे ते का देखत है नभ तारो ॥ १११ ॥

नायिका नायक कृष्ण से कह रही है कि आप व्रज के जीवन और विश्व से उजाला करने वाले हैं। मैं बलि जाती हूँ। आप मेरे घर कैसे आयेंगे? ग्रह = ९, नक्षत्र = २७ और वेद = ४, सब मिलाकर हुए चालीस। चालीस सेर का मन होता है। मन के साम्य पर पद में मणि की कल्पना की गई है; अर्थात् जिसके घर में मणि हो वह सारङ्ग अर्थात् दीपक लेकर क्या करेगा। गिरिजा-पति = शिव। शिव का भूषण = चन्द्र। अर्थात् चन्द्र देखकर आकाश के तारों को कौन देखता है।

(६) कभी-कभी शब्दों के आदि, मध्य या अन्त को लेकर एक नवीन शब्द की कल्पना की जाती है—

भूसुत मेघकाल निसि इनके आदि बरन चित आवैं ॥१०५॥

भूसुत = कुज या कुब्ज। मेघकाल = वर्षा। निसि = जामिनी। तीनों शब्दों के आदि अक्षरों को मिलाकर कुब्जा शब्द बना। यह कुब्जा कृष्ण के चित्त में समाई हुई है।

वायस शब्द अजा की मिलवन कीनों काम अनूप ॥६९॥

वायस शब्द = का। अजा का शब्द = मैं-मैं। दोनों को मिलाने से बना कामें अर्थात् काम ने अच्छा काम किया है।

(७) संख्या वाचक शब्द:—

मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरीनन्द को लिखि सुवल संवत पेख ॥ १०९ ॥

इस पद में मुनि = ७, रसना = २, रस = ६ गणेश दशन = १; इसको उल्टा करके पढ़ने से १६२७ अर्थात् साहित्यलहरी का निर्माण संवत् निकलता है।

साहित्यलहरी के प्रत्येक पद में किसी न किसी अलंकार का निर्देश अवश्य है। अलंकारों की परिपाटी हिन्दी में चन्दबरदायी के समय से ही चल

पड़ी थी। महापात्र विश्वनाथ के साहित्यदर्पण से रस-भेद के साथ नायिका-भेद भी प्रारम्भ हो गया था। साहित्यलहरी मे ये दोनों बातें विद्यमान हैं। गुह्य बातों को दृष्टकूट के रूप मे प्रकट करने की प्रणाली भी प्राचीन है। विद्यापति की पदावली मे दृष्टकूट हैं। कबीर की उलटबासियाँ, अमीरखुसरो की पहेलियाँ, गोरख के कुछ पद, रासो के श्लेष (जिसमें चन्द ने शिव और विष्णु दोनों की एक ही छन्द द्वारा स्तुति की है) यही सिद्ध करते हैं कि दृष्टकूट जैसे काव्यों की परम्परा प्राचीन काल से चली आती है, यहाँ तक कि वेद के कई मन्त्रों मे भी यह विद्यमान है। साहित्यलहरी में इन पदों का प्रौढ रूप परिलक्षित होता है। गोस्वामी तुलसीदास की सतसई मे भी दृष्टकूट के कई दोहे हैं।

सूर की सभी रचना माधुर्य्य-रस-प्रधान है। यह गोपनीय रस है। साधारण जनता मे पहुँचकर यह भी तन्त्रसम्प्रदाय की भाँति अनाचार का प्रसार कर सकता है। अतः माधुर्य रसमयी रचना सर्व साधारण के लिए अहितकर सिद्ध न हो, इसके लिए आचार्यों ने उसे कहीं-कहीं दृष्टकूट का जामा पहिना दिया है। सामान्य पाठक ऐसी रचनाओं का अर्थ ही नहीं समझेंगे, फिर अनाचार की सृष्टि कैसी! केवल अधिकारी व्यक्ति इसे हृदयङ्गम कर सकते है और वे ही अलौकिक रस का आस्वादन भी कर सकते हैं।

मलिक मुहम्मद जायसी ने इसी पद्धति का कुछ-कुछ अनुसरण किया है। शृङ्गार का वर्णन करते हुए जहाँ उसे अश्लीलता की गन्ध आने लगी है या मानव-मनोविकारों को उत्तेजित करने वाली सामग्री प्रकट होती दिखाई दी है, वहीं उसने लौकिक वार्ता को अलौकिक गाथा मे परिवर्तित कर दिया है। पद्मावत के पाठक इससे भलीभाँति परिचित होंगे। वैसे जायसी के शब्दों में समस्त पद्मावत एक वृहत् अन्योक्ति है, परन्तु बीच-बीच में समासोक्ति अलंकार द्वारा पारलौकिक जगत की जो झाँकी दिखाई गई है, रहस्यवाद की जो रसमयी छटा प्रदर्शित हुई है, वह पढ़ते ही बनती है। ऐसे स्थलों पर पाठकों का मन साधारण व्यावहारिक तथा शृङ्गारमयी बातों से हट कर उच्च आध्यात्मिक भूमिका में विचरण करने लगता है।* जायसी ने इस प्रकार लौकिकता मे अलौकिकता, प्राकृत में अप्राकृत का प्रदर्शन किया है। हमारे सूर ने अप्राकृत, अलौकिक परब्रह्म की लीला को ही प्राकृत रूप दे दिया है। अध्यात्म के इस अवतार से, हरिलीला के इस मानवरूप से आशा, उल्लास और कर्तृत्व की जो कमनीय काव्य-छटा

* आधुनिक युग में प्रसाद ने मानव जगत की शृंगार-क्रीड़ा को प्राकृतिक जगत पर आरोपित करके उसकी अश्लीलता या मादकता को मानव मन से हटाने का प्रयत्न किया है।

प्रकाशित हुई, उसने निराश हिन्दू-हृदय को अकर्मण्यता के गह्वर गर्त में गिरने से बचा लिया।

साहित्य लहरी की टीका—साहित्यलहरी की टीका के सम्बन्ध में एक भ्रान्त धारणा यह फैली हुई है कि उसकी टीका स्वयं सूरदास ने लिखी थी। इस धारणा का मूल हमारी समझ मे साहित्यलहरी के अन्त मे लिखे हुए ये शब्द हैः—"इति श्री पद कूट सूरदास टीका सम्पूर्णम्।" यदि इन शब्दों मे से सूरदास और टीका शब्दों के बीच एक छोटी पड़ी लकीर खींच दी जाय, तो इनका अर्थ होगा "सूरदास की लिखी हुई टीका।" जिस विद्वान् ने यह भ्रांत धारणा फैलाई, उसने संभवतः ऐसा ही समझकर किया है। परन्तु वास्तविक अर्थ यह नहीं है। ये शब्द इस प्रकार अन्वित हैः—

'इति श्री पदकूट सूरदास। टीका संयुक्त संपूर्णम्।' इस अन्वय के अनुसार दृष्टकूट के पद सूरदास के लिखे हुये है, उनकी टीका नहीं। टीका किसी दूसरे विद्वान् की लिखी हुई है। उसीने ग्रन्थ के अन्त में इन शब्दों को लिख दिया है। मूल टीकाकार* के नाम का पता नहीं चलता, पर इस टीका के आधार पर सरदार कवि ने जो टीका लिखी है, वह अधिक प्रसिद्ध है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्वसंपादित साहित्यलहरी में सरदार कवि की टीका से अनेक पाठान्तर तथा उद्धरण दिये हैं। सरदार कवि ने मूल साहित्यलहरी के साथ लगभग पचास पद और भी जोड़ दिये थे और उनकी टीका भी लिखी थी। इन पदों को भारतेन्दु ने अपनी साहित्यलहरी मे ज्यों का त्यों रख दिया है, पर उन पदों को न तो सरदार कवि ने ही साहित्यलहरी के अन्तर्गत माना है और न भारतेन्दु ने। हमने आगे एक तालिका मे (परिशिष्ट ३) दिखाया है कि वे पद सूरसागर के ही अन्तर्गत है। सूरसागर मे अनेक दृष्टकूट पद इधर उधर बिखरे पड़े है। इनका भी स्थल तथा नाम-निर्देश हमने आगे एक तालिका (परिशिष्ट २) में किया है। ये पद समझने मे कठिन हैं। कदाचित् इसीलिए सरदार कवि ने इनकी टीका भी लिखी थी जिससे इनका अर्थ सामान्य पाठकों को भी सुलभ हो सके। अपने ढाँचे मे भी ये पद साहित्य लहरी की टक्कर के हैं। यदि ऐसे सभी पद एक स्थान पर एकत्रित कर दिये जायँ, तो सूर के पाठकों को अध्ययन मे सुविधा प्राप्त हो

---

* डा० धीरेन्द्र वर्मा ने हमे एक पत्र मे लिखा है कि साहित्यलहरी की एक टीका सेनापति की भी लिखी हुई है और कुछ कूटों का संकलन भी उनका बढ़ाया हुआ है। सेनापति का कविताकाल १७वीं शताब्दी का अन्तिम और १८वीं शताब्दी का प्रारम्भिक भाग है।

सकती है। मूल साहित्यलहरी में उपसंहार वाले पदों को छोड़कर ११८ पद हैं। सरदार कवि ने इनका तिलक लिख कर अतीव पवित्र तथा लोककल्याणकारक कार्य किया था। निम्नलिखित दोहों से उनकी साहित्यिक सुरुचि का ज्ञान होता है:—

मतन-मतन तें सूर कवि, सागर कियो उदार।
बहुत जतन तें मथन करि, रतन लहे सरदार ॥ १ ॥
तिन पर सुचि टीका रची, सुजन जानिबे हेतु।
मनु सागर के तरन कों, सुन्दर सोभा सेतु ॥ २ ॥

सूर के ग्रन्थों की एकता

पीछे सूरसागर, सूरसारावली और साहित्यलहरी नाम के जिन तीन ग्रन्थों के विषय का हमने विवेचन किया है, वे एक ही कवि सूरदास के लिखे हुए हैं। इस युग के प्रायः सभी लेखकों ने इस तथ्य को स्वीकार कर लिया है। फिर भी विश्लेषण-प्रधान विद्वन्मंडली के कतिपय सदस्य अब भी इसे स्वीकार करने में कुछ संकोच करते हैं। कुछ विद्वानों का ऐसा विचार है कि सूरसारावली और साहित्यलहरी सूरसागर में से निकालकर पृथक संगृहीत कर दी गई हैं, परन्तु वास्तविक बात ऐसी नहीं है। सूरसारावली, जैसा हम पीछे लिख चुके हैं, एक बृहत् होलीगान के रूप में है, जिसमे ११०७ पदबन्द हैं। एक-एक बन्द दो-दो पंक्तियों का है। उसे स्वयं सूर ने हरिलीला का सार कहा है। सूरसागर में जो हरिलीला गाई गई है, वही संक्षेप में सूरसारावली में एक पृथक् शैली में लिखी गई है। अतः सूरसारावली, सूरसागर से भिन्न एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। सूरसागर में भी होलियाँ हैं। उसके दशम स्कन्ध के पृष्ठ ४३५ से ४४२ (ना० प्र० स० १२२६ से १२५१ पृष्ठ) तक के कई पदों में होली के गाने हैं। जैसे—

"श्री राधामोहन रंग भरे हो खेल मच्यो ब्रजखोरी।
हरि लिये हाथ कनक पिचकारी सुरंग कुमकुमा घोरी ॥"२७॥' ३५१६
"हो हो हो हो होरी, करत फिरत ब्रज खोरी।
ग्वाल सखा संग ढोरी लिए अरु अबीर की झोरी ॥" २६ ॥" ३५०६

होली का यह विषय इस स्थल पर पृष्ठ ४५१ तक चला गया है। हमने सूरसागर के पदों की केवल दो-दो पंक्तियाँ उद्धृत की हैं, जिनसे सारावली और सागर के लेखक की शैली-समता भी प्रकट होती है और साथ ही सारावली के स्वतन्त्र अस्तित्व का समर्थन भी होता है। लेखक एक है, अतः दोनों ग्रन्थों में पद, वाक्य, शैली, भाव आदि का साम्य है, परन्तु ग्रन्थ दो है।

इसी प्रकार 'साहित्यलहरी' भी एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। उसकी यह अन्तः साक्षी भी इस बात की पुष्टि करती है:—

"नन्द नन्दन दास हित साहित्यलहरी कीन ॥ १०६ ॥

अतः साहित्यलहरी सूरसागर का अंग नहीं है। इनके लिखने का ढंग भी दूसरे प्रकार का है। यह दृष्टकूटों का ग्रंथ है। महात्मा सूरदास ने अलंकार और नायिका भेद को दृष्टि में रखकर दृष्टकूट शैली में नन्ददास जी को इस ग्रन्थ द्वारा पुष्टिमार्गीय सिद्धांतों की शिक्षा दी थी, अतः यह सूरसागर से स्वतन्त्र एक पृथक ग्रन्थ है। सूरसागर में भी दृष्टकूट* पद आए हैं। इन पदों में भी साहित्यलहरी जैसी पदावली प्रयुक्त हुई है। उदाहरण के लिये नीचे लिखी पंक्तियों का मिलान कीजिए:—

देखो माई दधिसुत में दधिजात।
एक अचम्भो देखि सखीरी रिपु में रिपु जु समात॥
दधि पर कीर, कीर पर पंकज पंकज के द्वै पात॥ १५१॥
(ना० प्र० स० ७६०)—सूरसागर, पृष्ठ १२१

आज चरित नन्द नन्दन सजनी देख।
कीन्हों दधिसुत सुत ते सजनी सुन्दर स्याम सुभेष ॥८॥—सा० लहरी

अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गज वर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कज पराग ॥८०॥
(ना० प्र० स० २७२८)—सूरसागर, पृष्ठ ३०७

गृह ते चली गोप कुमारि।
खरिक ठाढ़ो देख अद्भुत एक अनुपम मार॥
कमल ऊपर सरल कदली, कदलि पर मृगराज।
सिंघ ऊपर सर्प दोई, सर्प पर ससि साज॥
मध्य ससि के मीन खेलत रूपकान्त सुजुक्ति।
सूर लखि भई मुदित सुन्दर करत आछी उक्ति ॥१४॥ —साहित्यलहरी

परन्तु इस प्रकार का पदसाम्य दोनों रचनाओं का एक ही कवि द्वारा निर्मित होना सिद्ध करता है, उनके पृथक् अस्तित्व का खण्डन नहीं करता। साहित्यलहरी के उपसंहार में दिये हुये प्रायः समस्त पद सूरसागर के ही हैं।

* सूरसारावली में भी दृष्टकूट छन्द संख्या ६३७ से ६६६ तक पाये जाते हैं।

मूल साहित्यलहरी का पद संख्या २३ भी—'सखी सुन परदेसी की बात'—कुछ अन्तर के साथ सूरसागर मे पाया जाता है; परन्तु यह तथा इस ग्रंथ के अन्य लगभग सभी पद अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते है। अनेक पद ऐसे भी हैं, जिनकी टेक अथवा अन्तर्गत भावना तो सूरसागर के पदो मे है, परन्तु उनका ढाँचा दृष्टकूट की अलंकार-नायिका प्रधान शैली में निर्मित होने के कारण सूरसागर के पदों से कुछ भिन्न हो गया है। फिर भी शब्दावली, पद, अलंकार तथा भावसाम्य दोनों को एक ही कवि की रचना सिद्ध करते हैं। यहाँ समता-सूचक कुछ अन्य पदों के उदाहरण देना अप्रासगिक न होगा :—

(१) ग्रह नक्षत्र अरु वेद अरध करि, खात हरष मन बाढ़ौ ॥६५॥
--साहित्यलहरी

ग्रह नक्षत्र अरु वेद अरध करि, को बरजै हमें खात ॥४५२॥
(ना० प्र० स० ४५६४)—सं० सू० सा०—वियोगीहरि

(२) कत मो सुमन सों लपटात।
समुझि मधुकर परत नाहीं मोहि तोरी बात ॥७१॥
—साहित्यलहरी

मधुकर हम न होंहि वे बेली।
जिन भजि तजि तुम फिरत और रंग करत कुसुम रस केली ॥६४॥
(ना० प्र० स० ४१२६)—सूरसागर, पृष्ठ ५१२

(३) जब तें हों हरिरूप निहारो।
तब तें कहा कहों री सजनी लागत जग अँधियारो ॥४०॥
— साहित्यलहरी

जब तें सुन्दर बदन निहारो।
ता दिन तें मधुकर मन अटक्यो बहुत करी निकरै न निकारो ॥३५॥
(ना० प्र० स० ४१८२)—सूरसागर, पृष्ठ ५१६

मेरो मन गोपाल हर्यौ री।
चितवत ही उर पैठि नैन-मग ना जानों धों कहा कर्यौ री ॥२२७॥
(ना० प्र० स० २४६०)— सं० सू० सा०— वियोगीहरि

(४) पिय बिनु बहत बैरिन बाय।
मदन बान कमान लायौ करषि कोप चढ़ाय ॥३२॥ -- साहित्यलहरी

पिया बिनु नागिनि कारी रात।
कबहुँक जामिनि उअति जुन्हैया डसि उलटी उलटी ह्वै जात ॥
(ना० प्र० स० सूरसागर ३८६०)

बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजै ।
तब ये लता लगति अति सीतल अब भईं विषम ज्वाल की पुञ्जै ॥
(ना० प्र० स० ४६८६)—सू० सा०, दशम स्कन्ध, २७२१

(५) नन्द नन्दन बिनु व्रज में ऊधौं सब विपरीत भई। सा० ल० ॥ ३१ ॥
बिनु माधौ राधा तन सजनी सब विपरीत भई ॥४०२२
सूरसागर, दशम स्कन्ध

ऊपर हम सूरसागर और साहित्यलहरी का पद-साम्य दिखा चुके हैं। यहाँ सारावली और लहरी का पद-साम्य प्रदर्शित करेंगेः—

(१) सोवत कुञ्ज भवन में दोइ ।
श्रीवृषभानु कुमारि लाडिली नन्द नन्दन व्रजभूषन सोइ ॥९४॥ सा० ल०
वृन्दावन हरि यहि विधि क्रीड़त सदा राधिका संग ।
भोर निसा कबहूँ नहिं जानत सदा रहत इक रंग ॥१०९६॥ सारावली

(२) वायस शब्द अजा की मिलवन कीनों काम अनूप ।
सब दिन राखत नीकन आगे सुन्दर स्याम स्वरुप ॥९९॥ साहित्य ल०
वायस अजा शब्द मनमोहन रटत रहत दिन रैन ।
तारापति के रिपु पर ठाढ़े देखत हैं हरि नैन ॥९५५॥ सारावली

(३) सारंग रिपु की बदन ओट दै कह बैठी हैं मौन ॥ ९४५ ॥ —सारावली
निरखि सारङ्ग, वदन सारङ्ग, सुमुख सुन्दर फेर ।
कहै सारङ्ग सुत वदन सुनि रही नीचे हेर ॥ ५९ ॥ सा० लहरी
सारङ्ग सम कर नीक नीक सम सारङ्ग सरस बखानै ॥ ८ ।—सा० लहरी
सारङ्ग ऊपर सारङ्ग राजत सारङ्ग शब्द सुनावै ॥ ९४४ ॥ सारावली

(४) कुंज भवन ते आज राधिका अलस अकेली आवत ।
अङ्ग अङ्ग प्रति रङ्ग रङ्ग की सोभा मुख दरसावत ॥ १३ ॥ सा० लहरी
जागे प्रात निपट अलसाने भूषण सब उलटाने ।
करत सिंगार परस्पर दोऊ अति आलस सिथिलाने ॥ १०१६ ॥
—सारावली

(५ धौरी धूमर काजर कारी कहि कहि नाम बुलावै ॥ ७९ ॥—सा० लहरी
वेणु बजाइ विलास कियो बन धौरी धेनु बुलावत ॥४७५॥ —सारावली

साहित्यलहरी और सूरसारावली के पद-साम्य एवं भाव-साम्य को प्रदर्शित करने के लिये इतने उदाहरण पर्याप्त हैं। ये सिद्ध करते हैं कि दोनों रचनायें एक ही कवि की लिखी हुई हैं। अब सूरसागर और सारावली के साम्य के कुछ उदाहरण लीजिएः—

(१) निमिपारन आये बलजू जब सकल विप्र सिर नायो ।
करी अवज्ञा कथा कहत द्विज अपने लोक पठायो ॥ ८२६ ॥
विनती करी बहुत विप्रन नें राम विप्र तुम मारेउ ।
तीरथ न्हाइ शुद्ध तनको करि हरि द्विज बचन विचारेउ ॥ ८३५ ॥

—सूरसारावली

सूत तहाँ कथा भागवत की कहत हे ऋषी अठासी सहस हुते श्रोता ।
राम को देखि सनमान सबही कियो सूत नहि उठ्यो निज जानि वक्ता ।
राम तेहि हत्यो तब सब ऋषिनु मिलि कह्यो विप्र हत्या तुम्हे लगी भाई ।
वाहि निमित सकल तीर्थ स्नान करो पाप जो भयो सो सब नसाई ॥५८॥

सूरसागर पृष्ठ ५८५ (४८४१—ना० प्र० स०)

सारावली के पदों में सागर के इस पद जैसा शैथिल्य नहीं है। मालूम होता है, सागर मे यह स्थल कथा की पूर्ति के लिये शीघ्रता में लिखा गया है। फिर भी भाव-साम्य दर्शनीय है।

(२) करी प्रतिज्ञा कहेउ भीष्म मुख पुनि पुनि देव मनाऊँ ।
जो तुम्हरे कर शर न गहाऊँ गङ्गा-सुत न कहाऊँ ॥ ७८० ॥

—सारावली

आजु जौ हरिहि न शस्त्र गहाऊ ।
तौ लाजौं गङ्गा जननी कों सान्तनु सुत न कहाऊँ ॥ १५० ॥

(ना० प्र० स०२७०)—सूरसागर स्कन्ध १

(३) रुक्मिणि कहत कमल लोचन सों राधा हमे दिखाओ ।
जाकी नित्य प्रशंसा तुम करि हम सबहिन कूं सुनायो ॥ ७१६ ॥

—सारावली

बूझति है रुक्मिनि प्रिय इनमें को वृषभानु किशोरी ।
नैंक हमे दिखरावहु अपनी बालापन की जोरी ।
जाके गुन गनि गुथत माल कबहूँ उरते नहि छोरी ॥ १६ ॥

(ना० प्र० स० ४६०४)—सूरसागर पृष्ठ ५६१

(४) खञ्जन नैन बीच नासापुट राजत यह अनुहार ।
खंजन जुग मनो करत लराई कीर बुझावत रार ॥ १७५ ॥
नासा के बेसर में मोती बरन विराजत चार ।
मनो जीव शनि शुक्र एक ह्वै बाढ़े रवि के द्वार ॥ १७६ ॥ —सारावली
चञ्चल नैन चहूं दिसि चितवत जुग खञ्जन अनुहारि ।
मनहु परस्पर करत लराई कीर बचाई रारि ॥

बेसर के मुक्ता में झाईं बरन विराजत चारि।
मानों सुर गुरु शुक्र भौम शनि चमकत चन्द्र मँझारि ॥ ८६ ॥
(ना० प्र० स० २७३६) सूरसागर, पृष्ठ ३०८

(५) तब एक सखी कहै सुन री तू सुफलकसुत फिरि आयो।
प्राण गये लै पिंड दैन को देह लैन मन भायो ॥ ५६२ ॥ सारावली
सूर मूर अक्रूर गयो लै ब्याज निबेरत ऊधौ ॥७८॥ पृष्ठ ५४३ सूरसागर
(ना० प्र० स० ४५०८)

बहुरि सखी सुफलकसुत आयौ पर्‌यौ सन्देह जिय गाढ़ौ ॥
प्राण हमारे तबहिं गयौ लै अब केहि कारन आयौ ॥ २६७१ ॥ सू०सा०
(ना० प्र० स०४०६६)

हमने ऊपर साहित्यलहरी, सूरसारावली और सूरसागर के जो पद या पङ्क्तियाँ उद्धृत की हैं, उनमें शब्द, पद, अलङ्कार, भावाभिव्यञ्जन तथा विषय-सम्बन्धी अद्भुत समता पाई जाती है, जो तीनों रचनाओं को एक ही कवि की कृतियाँ सिद्ध करती है। साहित्यलहरी के दृष्टकूट भी जिस शैली मे लिखे गये हैं, उस शैली के अनेक पद सूरसागर और सारावली मे पाये जाते हैं—यह हम उक्त दोनों ग्रन्थों के विषय-विवेचन मे दिखला चुके हैं। यह भी हम सिद्ध कर चुके हैं कि तीनों ग्रन्थों का स्वतन्त्र अस्तित्व है। जिन विद्वानों का ऐसा मत है कि सारावली और साहित्यलहरी सूरसागर से ही पद निकाल कर संकलित कर दी गई हैं, उनका मत हमे ग्राह्य नहीं जान पड़ता।

श्री व्रजेश्वर वर्मा ने अपने प्रबंध 'सूरदास' मे सूर-सागर और सारावली की कथावस्तु में सत्ताईस अंतर दिखलाये है और इन अंतरों के आधार पर उन्होंने सारावली के कवि को सूरसागर के कवि से भिन्न माना है। इस सम्बन्ध मे एक अन्य युक्ति यह भी दी गई है कि सारावली का कवि जितना मुखर और आत्म-विज्ञापक है, उतना सूर-सागर का कवि नहीं है। दोनों ग्रंथों मे शैलीगत विभिन्नता भी आप को दिखाई देती है। सत्ताईस अंतरों के सम्बन्ध मे, जो कथा-वस्तु विषयक है, हम केवल यही कहेंगे कि ऐसे अन्तर प्रत्येक कवि की विभिन्न रचनाओं मे दिखाये जा सकते हैं। कवि का दृष्टिकोण प्रत्येक रचना के समय एक ही हो, यह आवश्यक नहीं है। गोस्वामी तुलसीदास के राम-चरित मानस की गाथा गीतावली की गाथा से कई अंशों मे भिन्न है। डा० मानाप्रसाद गुप्त ने अपने प्रबंध तुलसीदास मे दोनों मे कथा-सम्बन्धी आठ अंतर बतलाये हैं। हमने अपने ग्रंथ 'भारतीय साधना और सूर-साहित्य के

पृष्ठ ४५५—४५६ पर गीतावली के किष्किन्धाकाण्ड तक ही 'मानस' से कथा-वस्तु सम्बन्धी लगभग चालीस अंतर दिखाये हैं। गीतावली, कवितावली और जानकीमंगल में शैलीगत अंतर तो अत्यन्त स्पष्ट है। इन कृतियों के रचयिता एक ही तुलसीदास हैं, कई भिन्न-भिन्न तुलसीदास नहीं। इसी प्रकार सारावली और सूर-सागर का रचयिता भी एक ही है। मुखरता अथवा आत्म-विज्ञापन की दृष्टि से भी सारावली और सूर-सागर भिन्न-भिन्न कवियों की रचनायें नहीं हैं। सारावली में कवि अपने सम्बन्ध में मुखर है, तो सूर-सागर में उसका इष्टदेव।

सूरदास प्रबन्ध में साहित्यलहरी को भी सूर-सागर के रचयिता की कृति नहीं माना गया है। लेखक की दृष्टि में साहित्यलहरी की शैली शिथिल, असंस्कृत और असाहित्यिक है, जो सूर-सागर की प्रौढ़ शैली की समता नहीं कर सकती। हमें यह युक्ति भी अधिक बलवती नहीं जान पड़ती। 'हरिऔध' जी के चुभते-चौपदे जो उनके जीवन के उत्तर अंश में प्रणीत हुये, उनकी प्रारम्भिक कृति 'प्रिय प्रवास' की परिमार्जित शैली के समक्ष अत्यंत शिथिल शैली में लिखे प्रतीत होते हैं। यह भी कहा जाता है कि साहित्य-लहरी की शैली बाल-विनोदकारी एवं चमत्कृत है। हमें तो सूर-सागर में भी चमत्कारमयी विनोद-शील शैली के अनेक उदाहरण उपलब्ध हुये हैं। दृष्टकूट की शैली स्वतः शब्दों की क्रीड़ा और विनोदकारी प्रवृत्ति का परिणाम है। तुलसी की बरवै रामायण विशेष रूप से आलंकारिक चमत्कार-प्रदर्शन के लिए लिखी गई है और इस दिशा में वह रामचरितमानस से एक दम भिन्न है। कवि जहाँ मननशील एवं गम्भीर प्रकृति के होते हैं, वहाँ वे क्रीड़ा-प्रिय एवं विनोदशील भी होते हैं। यह प्रवृत्ति मर्यादावादी तुलसी में भी दिखलाई देती है और हरि-लीला-गायक सूरदास में भी। अतः शैली सम्बन्धी विभिन्नता साहित्यलहरी के कवि को सूर-सागर के कवि से भिन्न नहीं कर सकती। यदि साहित्यलहरी के अन्त में कवि उसका निर्माण-संवत और अपने वंश का परिचय देता है, तो सूरसारावली के अन्त में भी वह अपने गुरु के नाम तथा उनके प्रसाद से उपलब्ध हरि-लीला-दर्शन का उल्लेख करता है। साहित्यलहरी का नायिका भेद और अलंकार-प्रदर्शन भी सूरसागर में विद्यमान है।

सूरदास के उपनाम

सूरसागर के अलंकार, रस तथा नायिका-भेद के सम्बन्ध में हम सूर काव्य-समीक्षा के अन्तर्गत स्वमत निर्देश करेंगे। यहाँ एक बात पर और विचार कर लें। सूर ने अपने तीनों प्रसिद्ध ग्रंथों में कम से कम पांच उपनामों को स्थान दिया है:—सूर, सूरज, सूरदास, सूरजदास, सूरश्याम। कहीं-कहीं सूरसुजान,

सूरसरस, सूरजश्याम और सूरश्याम सुजान नाम भी मिलते हैं। साहित्यलहरी के पद-संख्या २, १०, ११, १४, १८ आदि में सूर; पद-संख्या ६, ७, ८, ६, १५ आदि में सूरज, पद-संख्या ३, ४, १२, २० आदि मे सूरदास, पद-संख्या ४३ में सूरजदास; पद-संख्या १, ५, १२, १६, २१, २६ आदि मे सूरश्याम; पद-संख्या ४४, ११३ में सूरसुजान; पद-संख्या ८५, १०४ मे सूरश्याम, पद-संख्या ७४, ६१ मे सूरसरस और पद-संख्या २१ में सूरश्याम सुजान उपनाम आया है।

सारावली छन्द संख्या ७, १०, २००, ३३६, ६६६ आदि मे सूरज; ३४, १५७, २३२ आदि में सूर और छन्द सं० ३५३ मे सूरदास नाम आया है।

सूरसागर मे सूर सूरज, सूरजदास, सूरश्याम उपनाम अनेक पदों के अन्तर्गत पाये जाते हैं। क्या ये सब नाम एक ही कवि के हैं? सूर की विशाल रचना को देखते हुए तो यही प्रतीत होता है। यदि सब नामों पर समीक्षात्मक दृष्टि डाली जाय तो ज्ञात होता है कि सूर और सूरदास एक ही हैं, इसी प्रकार सूरज और सूरजदास भी एक हैं। सूर सूरज का लघु नाम है। सूरदास का प्रारम्भ का नाम सूरजचन्द था, ऐसा साहित्यलहरी के वंश-परिचायक पद से प्रकट होता है। इसी सूरजचन्द का सूरजदास हुआ। सूरज का सूर होकर सूरदास बन गया। अतः ये चारों नाम एक ही कवि के हैं, इसमे सन्देह नहीं। अब सूरश्याम, सूरजश्याम, सूरसुजान, सूरश्याम, सूरसरस शब्दों पर विचार कीजिये। यदि इन शब्दों मे से श्याम, सुजान, सरस शब्दों को पृथक् कर दिया जाय तो सूरदास के मूल उपनाम रह जाते हैं। उपनामों के अतिरिक्त जो शब्द हैं, उनमें से सभी का सम्बन्ध हरिलीला के साथ है। अतएव उनको उपनामों का अंग न भी माना जाय, तो कोई हानि नहीं है। वैसे एक कवि के कई उपनाम या उपाधियाँ हो सकती हैं। महाकवि विद्यापति ठाकुर की पदावली में उनके कई उपनामों का प्रयोग हुआ है—जैसे कवि कण्ठहार, अभिनव जयदेव, कविशेखर, कविरञ्जन, कविपञ्चानन, दशावधान इत्यादि। इसी प्रकार सूर के साथ भी कई उपनाम हो सकते है। सूर श्याम और सूरज श्याम हमे एक ही जान पड़ते है और सूर तथा सूरज के साम्य से वे महाकवि सूरदास के ही अपर नाम प्रतीत होते हैं। सूर श्याम नाम से सूरसागर मे कई पद पाये जाते है। पीछे हम तीनों ग्रंथों की एकता द्वारा तीनों को एक ही कवि का लिखा हुआ सिद्ध कर चुके हैं। कम से कम सूरसारावली और साहित्यलहरी तो दो-दो कवियों की लिखी हुई नहीं हैं। सूर सारावली मे प्रारम्भ से लेकर अन्त तक एक ही छन्द चला गया है और निःसन्देह वह एक ही कवि की लिखी हुई है। परन्तु उसमें भी सूरदास के कई उपनाम पाये जाते है। इसी प्रकार साहित्यलहरी भी एक ही कवि की रचना है।

उसका अलंकार और नायिका-भेद का ढाँचा एक ही कवि की कृति होना सिद्ध करता है। उसमें भी वे सब उपनाम हैं, जो सारावली और सूरसागर के पदों मे दृष्टिगोचर होते हैं। अतः हमारी सम्मत्ति में ये समस्त उपनाम एक ही कवि के हैं। यदि ये उपनाम कई कवियों के होते, तो इनके नाम वाली रचनाओं में शैली तथा विषय-सम्बन्धी भेद अवश्य होना चाहिये था। पर जैसा हम पीछे लिख चुके हैं, सूरसागर, सारावली और साहित्यलहरी में शब्द, पद, भावाभिव्यंजन, अलंकार तथा विषय का अद्भुत साम्य है। इसके साथ यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि एक ही प्रसङ्ग में जहाँ क्रम-बद्ध वर्णन है, वहाँ एक पद में सूर या सूरदास और उसके बाद के पद में सूरज उपनाम मिलता है। उदाहरण के लिए सूरसागर के २०९ पृष्ठ के ९६ और ९७ ना० प्र० स० १४२३-२४ संख्या वाले पद देखिये। एक क्रमबद्ध प्रसङ्ग दो कवियों द्वारा नहीं लिखा जा सकता।

एक विद्वान ने सूरश्याम शब्द को किसी अन्य कवि का उपनाम कहा है। इनकी सम्मति में जहाँ श्याम शब्द उपनाम का अङ्ग नहीं है और पद में आई हुई कथा से सम्बन्ध रखता है, वहाँ तो पद-रचना प्रसिद्ध कवि सूरदास की ही है; परन्तु जहाँ श्याम शब्द उपनाम का अङ्ग है, वहाँ की रचना किसी अन्य सूरदास की समझनी चाहिए। इसी प्रकार जिन पदों में सूरश्याम के नाम से हठयोग की क्रियाओं का उल्लेख हुआ है, वे भी किसी अन्य सूरदास की ही रचना होंगे। हमारी सम्मति इसके विपरीत है। प्रथम तो सूरश्याम वाले पदों में कदाचित् ही कोई ऐसा पद मिलेगा जिसका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से कृष्ण-कथा अथवा भगवान की लीला के साथ सम्बन्ध न हो। यदि कहीं ऐसा पद 'दुर्जन तोष न्याय' से मान भी लिया जाय, तो उसका इतने बड़े समुद्र में बूँद के बराबर भी तो स्थान नहीं होगा। हठयोग के विषय से सम्बन्ध रखने वाली बात भी निराधार है। सूर वैष्णव होने के पूर्व अपनी प्रारम्भिक आयु में शैव थे। शैवों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध हठयोग की क्रियाओं के साथ होता है। सम्भव है, सूर ने इस प्रकार के पदों की रचना अपनी प्रारम्भिक अवस्था में आचार्य वल्लभ से मिलने के पूर्व की हो। चौरासी वार्ता से यह तथ्य और भी सुस्पष्ट हो जाता है। उसमे लिखा है कि सूरदास भजन बनाकर गाया करते थे। उनके भक्ति-भरित भावपूर्ण गीतों को सुनकर श्रोता मुग्ध हो जाते थे। सन्तों मे शब्द अथवा गीत लिखने की प्रथा बहुत दिनों से प्रचलित थी। बाबा गोरखनाथ से लेकर कबीर, दादू, तुलसी, रैदास, नामदास आदि में होती हुई यह प्रथा आज तक चली आती है। इन पदों में हठयोग की क्रियाओं का वर्णन करना सन्तसम्प्रदाय की एक विशेषता समझी जाती थी। अतः गोरख, कबीर,

नामदास आदि सन्तों की रचनाओं मे जैसे हठयोग का वर्णन आता है, उसी प्रकार सूरदास के पदों मे भी पाया जाता है। आचार्य वल्लभ से दीक्षित होने के बाद वे हरिलीला-गायन मे निमग्न हो गये और जैसे कवीर अपने उत्तरकालीन जीवन मे हठयोग को आवश्यक ही नहीं, निरर्थक भी समझने लगे थे, उसी प्रकार सूरदास ने भी भ्रमरगीत मे हठयोग की—आसन लगाना ध्यान जमाना, आँख मूँदना, सिंगी बजाना, भस्म रमाना आदि—क्रियाओं की निःसारता सिद्ध की है। उसी के साथ यह बात भी विचारणीय है कि सूर के जिन प्रारम्भिक पदों मे हठयोग का वर्णन मिलता है, वह भगवत्भक्ति को दृढ़ बनाने के लिये है। उदाहरण के लिए नीचे लिखे पद पर विचार कीजिए:—

भक्ति पंथ को जो अनुसरै। सो अष्टांग योग को करै।
यम, नियमासन, प्राणायाम। करि अभ्यास होइ निष्काम॥
प्रत्याहार धारना ध्यान। करै जु छाँड़ि वासना आन।
क्रम-क्रम करि के करै समाधि। सूरस्याम भजि मिटै उपाधि॥ २-२१

—सूरसागर

इस पद मे अष्टांग योग का वर्णन है। श्रीमद्भागवत, गीता आदि भगवद्भक्ति-परक ग्रन्थों मे भी अष्टांग योग की महत्ता प्रदर्शित की गई है। इन्हीं के आधार पर सूर ने भी प्राणायाम आदि का उल्लेख कर दिया है, परन्तु यह भी लिख दिया है कि ये क्रियायें भक्ति-पथ के अवलम्बन करने वाले सन्तों के लिए ही कल्याणकारी है। जो भगवान का भजन नही करते, उनके लिए ये क्रियायें व्यायाम के अतिरिक्त अधिक महत्व नहीं रखती। पद की नीचे लिखी दो पंक्तियाँ स्पष्टता-पूर्वक इस तथ्य की घोषणा कर रही है:—

(१) भक्ति-पंथ को जो अनुसरै।
(२) सूरश्याम भजि मिटै उपाधि॥

पद मे कवि का उपनाम सूरश्याम है, पर कही भी श्याम शब्द केवल उपनाम का अङ्ग होकर नहीं प्रयुक्त हुआ। वह पद की क्रिया के साथ भी अन्वित है। श्याम अर्थात् भगवान का भजन करके ही उपाधि मिट सकती है।

अतः हठयोग का वर्णन सूर के पदों में जहाँ कहीं आया है, वे पद एक तो पूर्व की रचना हैं और उन पर सन्त मत तथा भागवत सम्प्रदाय का प्रभाव पड़ा हुआ है, और दूसरी बात यह भी है कि इन पदों में हठयोग का वर्णन भगवद्भक्ति को पुष्ट करने के लिए हुआ है, उसका विरोध करने के लिए नहीं। सूर की प्रारम्भिक पद-रचनायें प्रथम तथा द्वितीय स्कन्धों मे सन्निविष्ट हैं और

वहीं दास्य भक्ति आदि के पद प्राप्त होते हैं, जिनकी उत्कृष्टता तथा हृदयहारिणी शक्ति ने आचार्य बल्लभ जैसे सिद्ध योगी को भी आकर्षित किया था।

अतः, सूर, सूरज, सूरदास, सूरजदास, सूरश्याम आदि सभी उपनाम महाकवि सूरदास के ही हैं। पद-रचना में जहाँ जैसा उपयुक्त जान पड़ा और पद के अनुकूल बैठ गया, वहाँ वैसा ही नाम उन्होंने प्रयुक्त कर दिया है। सुजान, सरस आदि शब्द भी भावभरित उमङ्ग की लपेट में इसी प्रकार प्रयुक्त हो गये है। जो लीला ही सरस* हो और सुजान† श्याम से सम्बन्ध रखने वाली हो, उसमें ऐसे शब्दों का आ जाना स्वाभाविक है। साहित्यलहरी के पद-संख्या ११८ की इस पंक्ति से भी सूर के कई उपनामों का समर्थन होता है—

नाम राखे मोर सूरजदास, सूर, सुश्याम।

एक बात इसी सम्बन्ध में और भी कहनी है। सूर का अध्ययन करते हुए हमें ऐसे कई पद प्राप्त हुए जिनकी टेक लगभग एक ही है, परन्तु बाद की कड़ियों में अन्तर है। एक ही टेक के दो पदों मे से एक पद में सूरदास नाम आता है और दूसरे मे सूरश्याम। उदाहरण के लिए नीचे लिखे पद देखिएः—

जद्यपि मन समझावत लोग।
सूल होत नवनीत देखि मेरे मोहन के मुख जोग।
× × × ×
विदरत नही बज्र को हिरदय हरि-वियोग क्यों सहिये।
सूरदास प्रभु कमल-नैन विनु, कौने विधि व्रज रहिए ॥६६॥

(ना० प्र० स० ३७८४) —पृष्ठ ४८१, सूरसागर

जद्यपि मन समुझावत लोग।
सूल होत नवनीत देखि मेरे मोहन के मुख जोग।
× × × ×
कहियो पथिक जाइ घर आवहु राम-कृष्ण दोउ भैया।
सूर स्याम कत होत दुखारी जिनके मोसी मैया ॥ ५ ॥

(ना० प्र० स० ३७६१) —पृष्ठ ४८१, सूरसागर

सखी री सुन परदेसी की वात।
अरध बीच दै गए धाम को हरि अहार चलि जात ॥
कहु सहुक्त कवि मिले सूर प्रभु प्रान रहत नतु जात ॥

—पद २३, साहित्यलहरी

* कान्ह कह्यौ हँसि सूर सों लीला सरस वनाइ—सूरसागर, पृष्ठ २१४ पद १६
† जानों न नैक विथा पर की वलिहारी तऊ पै सुजान कहावत ॥ घनानन्द

कहै न कोई परदेसी की बात।
जब तै बिछुरो नन्द सॉवरो ना कोई आवै न जात।
मन्दिर अरध अवधि हरि बदि गये हरि अहार चलि जात।
× × ×
सूर स्याम आवन कै आसा प्रान रहत नतु जात।

—पृष्ठ २४, साहित्यलहरी

इन पदों को पढ़ कर हमारा अनुमान होता है कि सूर के पद विभिन्न गायकों के हाथ मे पड कर अपने मूल रूप से कुछ भिन्न भी हो गये हैं। संभव है, इन गायकों ने अपनी रुचि के अनुकूल उनमें सूर के प्रसिद्ध उपनामों में से कहीं सूर, कहीं सूरदास, कहीं सूरश्याम और कहीं सूरसुजान उपनाम रख दिये हों। पद की पंक्ति को थोड़ा इधर-उधर कर देने से ये सभी उपनाम उसमें खप जाते हैं। पर, मूल रचयिता एक ही व्यक्ति है। विभिन्न उपनामो से हमें विभिन्न कवियों के मानने की आवश्यकता नही है, विशेष कर ऐसी दशा मे जब एक ही पद में दो स्थानों पर दो उपनाम प्रयुक्त हुए हों। इसके अतिरिक्त सूरसागर में कई स्थलों पर एक क्रमबद्ध प्रसंग के ही भीतर सूर, सूरज, सूरश्याम आदि उपनाम के पद आते हैं, जैसे दशमस्कन्ध के पृष्ठ २०६ पर 'यज्ञपत्नी वचन' शीर्षक कथानक में। इन पदों से भी उपनामों की एकता सिद्ध होती है। गोस्वामी हरिराय जी ने सूर के इन कई उपनामों को चौरासी वार्ता की अपनी भावाख्य विवृत्ति में स्वीकार किया है और उनकी व्याख्या भी की है।

सूर-साहित्य के स्रोत

सूर के मानसिक जीवन के निर्माण मे जिन तत्वों ने भाग लिया है, उन पर जो विचार पीछे प्रकट किये गये हैं, वे सूर साहित्य के भी प्रेरक तत्व कहे जा सकते हैं। सूरसागर के कथानक का विश्लेषण करते हुए हम श्रीमद्भागवत की ओर संकेत कर ही चुके हैं। सूरदास जी निःसंकोच होकर कथा-भाग के लिये इस महापुराण का ऋण स्वयं स्वीकार करते है। अन्य पुराणों का भी उन्होंने इस दिशा मे नाम निर्देश किया है, यथा सूरसागर दशम स्कंध, पृष्ठ ३६३, पद-संख्या ६१ मे सूर ने वामन पुराणान्तर्गत ब्रह्मा-भृगु संवाद का उल्लेख किया है।[1] यह संवाद वेंकटेश्वर प्रेस से छपे हुए वामन पुराण मे उपलब्ध नही होता। सम्भव है किसी दूसरे संस्करण मे यह विद्यमान हो।

सूर सागर का वर्तमान रूप श्रीमद्भागवत के स्कंधों के अनुसार विभाजित है। यह रूप किसी पुष्टि मार्गीय भक्त ने सूर के पदों का संपादन करते हुए उसे

---

[1] नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित सूर-सागर में यह पद संख्या १७६२ है परन्तु उसमें वामन नहीं, केवल पुराणों का उल्लेख है।

प्रदान किया होगा। सूर श्रीनाथ मंदिर मे कीर्तन किया करते थे और दैनिक, नैमित्तिक तथा वर्षोत्सव सम्बन्धी लीलाएँ पदों मे बनाकर गाया करते थे। इन्हीं पदों का संग्रह सूर सागर नाम से विख्यात हुआ। आचार्य वल्लभ ने सूर को दशम स्कंध की अनुक्रमणिका के साथ पुरुषोत्तम सहस्रनाम भी सुनाया था। पुरुषोत्तम सहस्र नाम महाप्रभु वल्लभाचार्य का ही बनाया हुआ है और उसमे भगवान के एक सहस्र नामों का कथन है। इसे भागवत का सार-समुच्चय कहा जाता है। भगवान की लीला का सूर के हृदय मे स्फुरण इन्हीं दोनों ग्रंथों के द्वारा हुआ। सुबोधिनी के स्फुरित तथा लीला के अभ्यास के होने पर जब सूरदास ने महाप्रभु के आगे नंद-महोत्सव किया और "ब्रजभयो महर के पूत जब ये बात सुनी" इस टेक वाला पद गाया, तो आचार्य जी ने प्रसन्न होकर अपने श्रीमुख से कहा था-"सूरदास तौ मानौ निकट ही हुते"। सूरदास ने भागवत के प्रथम स्कंध से लेकर द्वादश स्कंध तक की अनेक लीलाओं पर सहस्रों पदों का निर्माण किया था। चौरासी वैष्णवों की वार्ता के पृष्ठ २९३ पर उनके सहस्रावधि पदो का उल्लेख है। गोस्वामी हरिराय जी ने अपनी सूरदास की वार्ता प्रसंग १० में सूरदास के सवा लाख कीर्तन प्रकट करने के संकल्प का वर्णन किया है और लिखा है कि सूरदास जी ने एक लक्ष पद बना लिए थे। अवशिष्ट पच्चीस सहस्र पदों को 'सूर श्याम' के भोग (छाप) से श्री भगवान गोवर्धन नाथ ने स्वयं बना कर सूर के संकल्प को पूर्ण कर दिया। सारावली के एक लक्ष पद बन्द की उक्ति को यदि हरिराय जी के इस कथन के साथ मिला कर पढ़ें, तो उससे एक निष्कर्ष तो यह निकलता है कि सारावली के निर्माण के समय तक सूर एक लाख पद बना चुके थे। शेष पच्चीस सहस्र पद उनके जीवन के अन्तिम काल की रचनाएँ हैं। दूसरा परिणाम यह भी निकाला जा सकता है, कि सूर की रचना मे पच्चीस सहस्र नहीं, तो कम से कम कुछ पद तो दूसरों के लिखे अवश्य है। हरिराय जी ने सूर के 'सूर-श्याम' नाम पड़ने का कारण भी श्रीनाथ जी द्वारा पच्चीस सहस्र पदों के निर्माण तथा उन्हें सूर पदों मे सम्मिलित कर देने को ही माना है। हरिराय जी ने प्रसंग ११ के मध्य मे लिखा है "सवा-लाख कीर्तन सूरदास ने किए हैं।" पृष्ठ ६१। हरिराय जी ने संभवत' किम्वदंती के आधार पर ही ऐसा लिख दिया है, क्योंकि अभी तक प्राप्त हुए सूर पदों की संख्या सात हजार से ऊपर नहीं पहुँचती।

आचार्य वल्लभ से मिलने के पूर्व सूर ने जिन पदों का निर्माण किया था उनका प्रधान विषय विनय, प्रार्थना आदि था। इन पदों पर हठयोग, शैव-साधना, निर्गुण भक्ति और वैष्णव भक्ति के दास्य भाव का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। हठयोग और शिव-साधना से सम्बन्ध रखने वाले पदों में आसन, प्राणा-

याम, वलिदान आदि का उल्लेख हुआ है। ये पद प्रारम्भिक अवस्था में लिखे जान पड़ते हैं। निर्गुण भक्ति से प्रभावित पदों में जाति-पाँति, वेद आदि की निंदा, ज्ञान-वैराग्य की सापेक्षता, सत्य पुरुष को बाहर न देख कर अन्दर देखना, मूर्तिपूजा विरोधी संतों के नामों का श्रद्धापूर्वक उल्लेख करना आदि कई बातें पाई जाती हैं। वैष्णव भक्ति के दास्य भाव वाले विनय के पदों में सूर के अशांत किन्तु प्रपन्न हृदय की झलक दिखलाई पड़ती है। मधुर भाव की भक्ति वाले पद भी भागवत-भक्ति का प्रभाव पड़ने के उपरान्त ही लिखे गए हैं।

निम्नांकित पद में सूर ने शैव साधना का विवरण उपस्थित किया है :—

अपनी भक्ति देहु भगवान।
कोटि लालच जो दिखावहु नाहि ने रुचि आन॥
जरत ज्वाला गिरत गिरि ते स्वकर काटत सीस।
देखि साहस सकुच मानत राखि सकत न ईस॥
कामना करि कोटि कबहू करत कर पसुघात।
सिंह सावक जात गृह तजि इन्द्र अधिक डरात॥
जा दिना ते जन्म पायौ यहै मेरी रीति। (सूर सागर ना०प्र०स० १०६)

सूर कहते हैं:—भगवान अब आप की भक्ति के अतिरिक्त मुझे अन्य किसी भी वस्तु में रुचि नहीं रही है। असंख्य ऐश्वर्यों का लालच आप दिखावें तो उन्हें तो मैं खूब देख चुका हूं, यहाँ तक कि छक चुका हूं। इनकी ज्वाला ही तो आज मुझे जला रही है। शिवाराधन में बड़े-बड़े साहस के कार्य कर चुका हूँ। जब से जन्म लिया, तब से ऐसे ही तो कुछ ऊट-पटांग कार्य करता रहा। पशुओं को काटना, यज्ञ करना, बलिदान चढ़ाना, पंचाग्नि-तपना, अपने हाथ से शिर काट कर महादेव के चरणों में समर्पित करना, पर्वत से गिरना और इन कार्यों से इन्द्र को शंकित करना—पर अब नहीं, अब इनमें से कुछ भी नहीं चाहिए।

नाथ-पंथ शैव सम्प्रदाय से संबद्ध है, जिसमे हठयोग की क्रियाओं का प्रचार रहा है। सूरसागर के द्वितीय स्कंध मे अष्टांग योग का वर्णन है। उसके दशम-स्कंध में शिव और दुर्गा की भी स्तुतियाँ हैं। पर सूर अपने परवर्ती जीवन मे शैव मत के विधानों से असंतुष्ट होकर हटते गये। भ्रमरगीत मे तो वे इन विधानों के घोर विरोधी प्रतीत होते हैं।

निर्गुण भक्ति के प्रभाव का संकेत नीचे लिखे पदों मे है :—

जहाँ अभिमान तहां मैं नाहीं, यह भोजन विष लागे।
सत्य पुरुष घट मे ही बैठे अभिमानी को त्यागे॥
(सूरसागर ना० प्र० स० २४४)

जो लौं सत सरूप नहिं सूझत।
तौ लौं मृगमद नाभि विसारे फिरत सकल वन बूझत ॥
(सूरसागर ना० प्र० स० ३६८) द्वितीय स्कंध

अपुनपौ आपुन ही मे पायौ।
सब्दहि सब्द भयौ उजियारो, सतगुरु भेद बतायौ ॥
सपने माहि नारि को भ्रम भयौ बालक कहूँ हिरायौ।
जागि लख्यौ ज्यों कौ त्यों ही है ना कहूँ गयो न आयौ ॥
'सूरदास' समुझे की यह गति मन ही मन मुसकायौ।
कहि न जाय या सुख की महिमा ज्यौं गूँगे गुर खायौ ॥
—(सूरसागर ना० प्र० स० ४०७)

अपुनपौ आपुन ही बिसर्यौ।
जैसे स्वान कांच मन्दिर में भ्रमि-भ्रमि भूकि मर्यौ ॥
हरि सौरभ मृग नाभि बसत है, द्रुम तृन सूँघि मर्यौ ॥
ज्यों सपने मे रंक भूप भयौ तसकर अरि पकर्यौ ॥
ज्यों केहरि प्रतिबिम्ब देखि कै आपुन कूप पर्यौ।
जैसे गज लखि फटिक सिला मे दसनन जाइ अर्यौ ॥
मरकट मूँठि छाड़ि नहिं दीन्हीं, घर-घर द्वार फिर्यौ।
सूरदास नलिनी को सुअटा कहि कौने जकर्यौ ॥
—(सूर सागर ना० प्र० स० ३६९ द्वि० स्कन्ध)

ऊपर उद्धृत पदों मे सूरदास आत्म तत्व को नाभि मे स्थित मृग-मद की भाँति अन्दर और अप्रकट रूप मे ही स्वीकार करते हैं। जैसे कस्तूरी पाने के लिए मृग का तृण-द्रुमादि की ओर भागना व्यर्थ है, वैसे ही आत्मतत्व के साक्षात्कार के लिए बाहर प्रयास करना निरर्थक है। कबीर आदि निर्गुण सम्प्रदाय के सन्त प्रभु को बाहर ढूँढना व्यर्थ समझते थे। उनके मत मे बाहर के पट बन्द करके अन्दर के पट खोलने से ही आत्म-दर्शन होता है। इसी बात पर खीझ कर तुलसी ने कहा था—

'अन्तरजामिहु ते बड़ बाहिर जामि हैं राम जे नाम लिये तें।
पैंज परे प्रहलादहु कों प्रगटे प्रभु पाहन तें न हिए तें ॥'

पर सूर आंतरिक साधना से प्रभावित हो चुके थे। ऊपर उद्धृत पंक्तियों मे सत्य पुरुष, घट, सत्स्वरूप, सद्गुरु आदि शब्द निश्चित रूप से उसी साधना का प्रभाव प्रकट कर रहे हैं। कबीर ने इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है।

हमारी समझ में इस प्रकार के पद जिनमें निवृत्तिपरक तत्वों का प्रतिपादन है, वैराग्य-सम्पत्ति अर्थात् कामना-त्याग, समत्व बुद्धि, विवेक-सिद्धि, अष्टांग योग आदि का वर्णन है और जो प्रवृत्ति-प्रधान लीला के अन्तर्गत नहीं आते, महाप्रभु वल्लभाचार्य जी से मिलने के पूर्व लिखे गए।

आचार्य वल्लभ द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्गीय भक्ति के अतिरिक्त सूर ने वैष्णव भक्ति भावना से सम्वन्वित पद भी लिखे हैं। इनमें से कुछ पद सूर ने आचार्य को प्रथम भेंट के समय सुनाए थे। इन पदों में राम नाम के जप की प्रधानता है। कृष्ण और बलराम का भी नाम आता है, पर उतना अधिक नहीं। भगवान के पतित पावन विरुद का भी इन पदों में बार-बार उल्लेख है। सूर की आत्मा इन पदों में अत्यन्त अशान्त और व्याकुल दिखाई देती है, यथा:—

माधव जू मो तें और न पापी।
घातक कुटिल चवाई कपटी महाकूर संतापी॥

—(सूरसागर ना० प्र० सा० १४०)

कौन गति करिहौ मेरी नाथ।
हौं तो कुटिल कुचील कुदरसन रहत विषय के साथ॥ —१२५

तथा 'हौं हरि सब पतितन को नायक।' 'प्रभु मैं सब पतितन को टीको' आदि टेकों से प्रारम्भ होने वाले पद इसी प्रकार के हैं। भागवत की नवधा भक्ति का भी ऐसे पदों में पूर्ण प्रतिपादन हुआ है। आत्म निवेदन तथा प्रपत्तिमार्ग के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण इन पदों में उपलब्ध होते हैं।

स्वामी रामानन्द ने भक्ति के क्षेत्र में जाति-पांति की अभेदता का प्रचार किया था। लोकमानस पर इस अभेदता का प्रवल प्रभाव पड़ा। कबीर ने अपने व्यक्तित्व और वाणी द्वारा इसे और आगे बढ़ाया। सूर के प्रारम्भिक पदों से इसकी भी पुष्टि होती है, यथा:

राम भक्तवत्सल निज बानौं।
जाति पाँति कुल नाम गनत नहि रंक होइ कै रानौं॥ १-११ सू० सा०
काहू के कुल तन न विचारत।
अविगत की गति कहि न परति है, व्याध अजामिल तारत। —१-१२सू०सा०
जन की और कौन पति राखै।
जाति पाँति कुल कानि न मानत, वेद पुराननि साखै। —१-१५ सू० सा०

ऐसे पदों पर सामान्य वैष्णव भक्ति भावना का प्रभाव पड़ा है। कबीर और सूर दोनों की रचनाओं में यह वर्ण-साम्य, बाह्याडम्बर की व्यर्थता, भक्ति

की तुलना में तीर्थ-याग-व्रत आदि की हीनता, कथनी-करनी की एकता, कामनाओं का परित्याग* आदि तत्व पाये जाते हैं।

सूर की आत्मा इन पन्थों और सम्प्रदायों की साधना-पद्धति को अपना कर भी व्याकुल बनी रही। उसे शान्ति प्राप्त नहीं हो सकी। सूर दीर्घायु तक अशान्त रहे। वे स्वयं लिखते हैं;—

मेरी तौ पति गति तुम अंतहि दुख पाऊं।
हौं कहाइ तिहारौ अब कौन कौ कहाऊं। —१-१६६
वृद्ध भये सुधि प्रगटी मोकौं दुखित पुकारत तातैं॥ —१-११८ सू० सा०

इसी दीर्घायु में दैव योग से उनकी भेंट आचार्य वल्लभ जैसे सिद्ध योगी से हुई, जिन्होंने उनके समस्त कलमश को विनष्ट कर दिया।

पुष्टि मार्ग में दीक्षित होने के पहले सूर की आत्मा जैसी अशांत थी, वैसी उसके उपरान्त नहीं रही। आचार्य वल्लभ के सम्पर्क से सूरदास का काया-कल्प हो गया और जैसा वार्ता-साहित्य से प्रकट होता है, उनका घिघियाना बन्द हो गया। अपने को पतित, कुटिल, अविद्याग्रस्त आदि कहने में पहले जिस हीनता का अनुभव होता था, वह जाता रहा। हरिलीला दर्शन से उत्पन्न सामर्थ्य ने सूर को महती कर्तृत्व शक्ति प्रदान कर दी। सूरसागर का दसवां स्कन्ध जो आकार में सूरसागर के अन्य सभी स्कन्धों से विशालतर है और जिसमें हरि लीला का गायन ओत-प्रोत है, आचार्य वल्लभ के सम्पर्क के उपरान्त ही लिखा गया। सूरसागर का वात्सल्य रस भी आचार्य वल्लभ की ही देन है, क्योंकि वे भगवान के बाल रूप के उपासक थे। सूर ने अपने कीर्तन पदों में भगवान श्रीकृष्ण की बाल एवं किशोर अवस्थाओं के ऐसे रूप चित्रित किए हैं, जिनमें भगवद्भक्तोंके मन रमते रहे हैं। नवम स्कन्ध में जिस राम-गाथा का चित्रण है,

---

*जौलों मन कामना न छूटै।
तौ कहा योग, यज्ञ, व्रत कीन्हें, बिनु कन तुसको कूटै॥
कहा सनान किये तीरथ के अंग भस्म जट जूटै।
कहा पुरान जु पढ़ें अठारह, ऊर्ध्वधूम के घूटै॥
जग सोभा की सकल बड़ाई, इनते कछू न खूटै।
करनी और कहै कछु औरै मन दसहूँ दिसि टूटै॥
काम क्रोध मद लोभ सत्रु हैं, जौ इतननि सौं छूटै।
सूरदास तबही तम नासै, ज्ञान अगिनि झर फूटै॥ सू०सा०-२-१६ (३६२)

उसके बाल लीला सम्बन्धी अंश भी सूर की रुचि के अनुकूल होने के कारण अत्यन्त रोचक और रमणीय बन पड़े हैं* ।

सूर ने शृंगार रस का भी हृदयहारी वर्णन किया है। भक्ति की गुरुता प्रदर्शित करने में संयोग शृङ्गार की अपेक्षा विप्रलम्भ शृङ्गार की महत्ता अधिक आकर्षक समझी गई है। सूर ने वात्सल्य रस के अतिरिक्त दशम-स्कन्ध में भ्रमर गीत के अन्तर्गत विप्रलम्भ शृङ्गार का भी मर्मस्पर्शी चित्र उपस्थित किया है। नवम स्कन्ध में सीता का वियोग-वर्णन भी इसी प्रकार की विशेषता रखता है। ऐसे प्रसंगों में कवि का मानस स्वभावतः द्रवित हो उठा है। इन्हीं प्रसंगों में सूर ने अपनी विदग्ध एवं भावभरित कला का भी विशेष परिचय दिया है।

(आचार्य वल्लभ ने भगवान के बालरूप की उपासना को ही प्रमुख स्थान दिया था, परन्तु उनके पुत्र गोस्वामी विठ्ठल नाथ ने इस उपासना-पद्धति को शृङ्गार सज्जा से और भी अधिक मंडित कर दिया। सूर का सम्पर्क आचार्य वल्लभ के साथ कुछ वर्षों का ही है, परन्तु गोस्वामी विट्ठलनाथ के साथ यह संपर्क दीर्घकाल व्यापी है। सूरदास की अष्ट छाप में स्थापना भी गोस्वामी विट्ठलनाथ ने ही की है। अतः उनके द्वारा पुष्टि मार्ग के संवर्धित सिद्धान्तों का प्रयोग भी सूरसागर में अधिक मात्रा में हुआ है। इन सिद्धान्तों में राधा की स्वरूप-व्याख्या भी आती है।)

ऊपर हमने सूर पर पड़े हुए जिस भागवत प्रभाव की ओर संकेत किया है, उसे इद मित्थं रूप में ग्रहण नहीं करना चाहिए। सूरसागर कथा वस्तु में भागवत का पूर्णतया अनुसरण नहीं करता। भागवत में अनेक विषयों की जो विस्तृत समीक्षा की गई है, उसका सूरसागर में अभाव है। यह भी विचारणीय है कि जहाँ कहीं सूरदास को घटना-सम्बन्धी कथानकों का अनुवाद करना पड़ा है, वहाँ उनकी लेखन-शैली शिथिल और अरोचक है। सूर का मन लीला के ऐतिहासिक अंशों में रमण करता नहीं जान पड़ता। लीला के भावना-प्रधान अंश ही सूर के मानस के निकट और उनकी वृत्ति को तन्मय करने वाले हैं। भागवत से चीरहरण, रास लीला तथा भ्रमर गीत की कथायें लेकर भी सूर ने अपनी भावना का पुट चढ़ाकर उन्हें अत्यन्त मौलिक और स्वतन्त्र रूप प्रदान किया है। सूरसागर की कुछ लीलायें ऐसी भी हैं जो भागवत में नहीं मिलतीं, जैसे राधाकृष्ण की संयोग लीलाएं, पनघट

---

* आचार्य वल्लभ की बालभाव से भगवान की उपासना तथा सूरदास के बाललीला-वर्णन का प्रभाव तुलसी पर भी पड़ा। उन्होंने रामचरित मानस में शिव लोमश, काकभुशुण्डि तथा मनुशतरूपा को भगवान की बालरूप में वन्दना करते हुए प्रदर्शित किया है। गीतावली में राम की बाललीला का वर्णन सूरसागर की बाल लीला के अनुकरण पर लिखा गया है।

प्रस्ताव, दान लीला, खण्डिता के पद, मान लीला, बसंत, हिंडोल औ फाग। यद्यपि ये लीलायें परम्परागत गीतों का प्रभाव सूचित करती हैं, फिर भी सूर ने उनमें अपनी मौलिकता का पूर्ण सन्निवेश कर दिया है। इन लीलाओं को स्वतन्त्र रचनाओं का रूप दिया जा सकता है। कुछ लीलायें सूर ने दो-दो तीन-तीन बार भी लिखी हैं। स्कन्धों मे आई हुई घटनाओं का चुनाव भी कवि ने अपने ढंग पर किया है।

सूर सागर की गीति पद्धति पहले से चली आती हुई गीति पद्धति का ही अनुकरण मात्र है। सूरदास के समय मे तानसेन और उनके गुरु हरिदास गीति पद्धति के प्रमुख उन्नायक थे। सूरदास भी संगीत-कला में अत्यन्त निपुण थे। सूरसागर के पदों में उन्होंने विभिन्न राग-रागिनियों का समावेश किया है। उनसे पूर्व कबीर, विद्यापति, उमापति, चंडीदास आदि इसी प्रकार के पदों की रचना कर चुके थे। जयदेव के गीत गोविन्द का इन सब पर प्रभाव पड़ा था। परम्परागत रूप मे ऐसे गीतों का प्रचार इस देश में अतीव प्राचीन काल से चला आता है। होली के दिनों में शृङ्गारिक तथा वैराग्यपरक गीतों की छटा भारत के देहातों में देखते ही बनती है। संगीत का सम्बन्ध आचार्यों ने सामवेद के साथ जोड़ा है। संगीत-कला में क्रमशः विकास हुआ है, पर सूर सागर में जो पद-शैली उपलब्ध होती है, वह सूरदास से बहुत पहले अपना रूप स्थिर कर चुकी थी। सूरसागर मे आए हुए दोहा और चौपाई छन्द भी अपभ्रंश युग से साहित्य मे प्रयुक्त होने लगे थे। सूरदास ने साहित्यलहरी का निर्माण दृष्टकूट शैली मे किया था। सूरसागर में भी अनेक दृष्टकूट पद है। यह शैली भी सूर से पूर्व साहित्य में प्रयुक्त होती थी। साहित्यलहरी का विषय-विवेचन करते हुये इस शैली की प्राचीनता पर लिखा जा चुका है। सूरदास इस शैली के लिए अपने पूर्ववर्ती कवियों के ऋणी हैं।

(सूरसागर मे खण्डिता-नायिका-वर्णन के अन्तर्गत जिस परकीया नायिका के प्रेमभाव का वर्णन है, उसका मूल यद्यपि कुछ विद्वानों ने ऋग्वेद में ढूँढ़ निकाला है; पर हमारी समझ मे ऐतिहासिक दृष्टि से उसका स्रोत बौद्ध विहारों की आचार-भ्रष्टता मे प्राप्त होता है। महात्मा बुद्ध स्त्रियों को दीक्षा देने के विरोधी थे और अपने शिष्यों को इस ओर से सदैव सावधान रखते थे, फिर भी अपनी विमाता प्रजापति के सामने उन्हें झुकना ही पड़ा। उसके पश्चात् बौद्ध धर्म मे अनेक स्त्रियाँ दीक्षित हुईं। महात्मा बुद्ध को इसका भावी परिणाम भी दिखाई दे गया। उन्होंने कहा कि जिस संघ को एक सहस्र वर्ष जीवित रहना चाहिए था, वह स्त्रियों के प्रविष्ट हो जाने से केवल ५०० वर्ष ही जीवित रह सकेगा। भिक्षुणी स्त्रियों के लिए उन्होंने अतीव कठोर नियम बनाये; परन्तु

मानव की पतनशीला, दुर्दम प्रवृत्ति विहारों और आश्रमों में सदाचार के इन कठोर नियमों का पालन न कर सकी। वह उनका उल्लंघन करने लगी। परवर्ती साहित्य में कुलीन ललनाओं को आर्यपथ से च्युत करने वाली और पतिताओं को पतन के और भी अधिक गह्वर-गर्त में गिराने वाली जिन रमणियों का वर्णन आया है, वे यही बौद्ध भिक्षुणियाँ थीं। उन्हीं के कृत्यों को देख कर परकीया प्रेम का प्रवेश परवर्ती साहित्य में हुआ। बंगाल में जिन कृष्ण धमालियों को ग्राम के बाहर गाया जाता है, उनमें परकीया प्रेम का ही घोरतर अश्लील वर्णन रहता है। मर्यादा का यह उल्लंघन धर्म-परायण महिलाओं के कानों में न पड़े, इसीलिए ये धमालियाँ ग्राम के अन्दर नहीं गायी जातीं। वैष्णवों की गौडीय शाखा में और विशेष रूप से चैतन्य सम्प्रदाय के अनुयायियों में परकीया प्रेम को भक्ति-भावना के उत्कर्ष के लिए महत्वपूर्ण माना गया है। सूर सागर में भी यह किंचित मात्रा में आ गया है, पर सूर ने राधा को परकीया नहीं, स्वकीया पत्नी के रूप में ही चित्रित किया है। परकीया प्रेम को भी उन्होंने लौकिक वातावरण की अश्लीलता से निकाल कर आध्यात्मिक रूप प्रदान किया है और इस प्रकार उसका ऊर्जस्वीकरण करके उन्होंने मानव को पतनोन्मुख होने से बचा लिया है। पुष्टि मार्गीय भक्ति के अन्तर्गत शृंगार रस उद्दीपन के लिए ब्रज के गिरिराज, यमुना, वृन्दाबन आदि स्थानों का विशेष महत्व है। बंगीय प्रभाव के अन्तर्गत हम इस विषय पर अपने विचार प्रकट कर चुके हैं।

पुष्टि मार्ग और सूरदास

जैसा पूर्व लिखा जा चुका है, आचार्य वल्लभ दाक्षिणात्य तैलंग ब्राह्मण श्री लक्ष्मण भट्ट के द्वितीय पुत्र और श्री नारायण भट्ट के शिष्य थे। विजय नगर के राजा कृष्णदेव की सभा मे शैवों को पराजित करके वे दक्षिण से वृन्दावन आये और गोवर्धन पर श्रीनाथ मन्दिर की स्थापना करके उन्होंने बालकृष्ण की भक्ति और पुष्टि-मार्ग का प्रचार किया। आचार्य विष्णु स्वामी के रौद्र सम्प्रदाय से इनका सम्बन्ध था।

(आचार्य वल्लभ के मत मे श्रीकृष्ण ही परब्रह्म है।) वे अनंत शक्तियों द्वारा अपनी आत्मा में आन्तर रमण करने से आत्माराम और बाह्यरमण की इच्छा से अपनी शक्तियों की बाह्य अभिव्यक्ति करने पर पुरुषोत्तम कहलाते हैं। उनकी नित्य लीला व्यापी वैकुण्ठ मे होती रहती है। गोलोक इस का अंश है और जो विष्णु के वैकुण्ठ से बहुत ऊपर है।

आचार्य वल्लभ अविकृत परिणामवादी हैं। रामानुज ने जगत के परिणमन मे उपाधि लगा कर उसे विकृत कर दिया है। वे जगत की उत्पत्ति और विनाश मानते हैं। परन्तु वल्लभ के मत मे जगत का ब्रह्म से केवल आविर्भाव और तिरोभाव होता है। जगत नष्ट नही होता। जैसे कुंडल पिघल कर पुन. स्वर्ण बन जाता है, वैसे ही जगत तिरोहित होकर ब्रह्मरूप धारण कर लेता है। पुष्टि सम्प्रदाय मे भगवान के अनुग्रह से भक्त भगवान के आनन्द धाम में प्रवेश करता है।

दार्शनिक क्षेत्र मे इनका मत शुद्धाद्वैतवाद कहलाता है। आचार्य वल्लभ जीव और प्रकृति दोनों को ईश्वर का ही रूप समझते हैं। संसार और जगत में भी उन्होंने भेद किया है। मेरा-तेरा पन संसार है, पर जगत इससे भिन्न है और ब्रह्म के सदंश से उत्पन्न होने के कारण सत्य है। जगत की रचना अथवा उसका आविर्भाव प्रभु की शाश्वत लीला है। प्रभु लीला करना चाहता है, विश्व इसी लिए अस्तित्व मे आता है।

(पुष्टि मार्ग में भगवान की यही लीला प्रधान है। हरिलीला के समावेश ने पुष्टिमार्ग के स्वरूप को अन्य सम्प्रदायों से एक दम पृथक कर दिया है। इस

हरि-लीला का प्रमुख अंग रासलीला है। 'रास' शब्द रस से बना है। अतः पुष्टि मार्गीय भक्ति को सरस भक्ति भी कहा जाता है। सूरदास रास का वर्णन करते हुए कहते हैं:—

रास रस रीति नहि बरनि आवै।
कहाँ वैसी बुद्धि, कहां वह मन लहौं, इहै चित्त जिय भ्रम भुलावै॥
जो कहौं कौन माने, निगम अगम, हरि कृपा बिनु नहि या रसहिं पावै।
भाव सौं भजै, बिनु भाव मे ऐ नहीं, भाव ही मांहि भाव यह बसावै॥
यहै निज मंत्र, यह ज्ञान, यह ध्यान है दास दम्पति भजन सार गावै।
यहै मांगौं बार-बार प्रभु सूर के नयन दोऊ रहैं नर देह पावै॥

सूरसागर (ना० प्र० स० १६२४)

अर्थात् मुझे ऐसी बुद्धि कहाँ प्राप्त है, जो इस रास रस का, हरि लीला का वर्णन कर सके। यदि मैं यह कहूं कि वेदों के लिए भी यह अगम्य है, तो उसे कौन मानेगा? पर मेरा तो निश्चित सिद्धान्त है कि भगवान की कृपा के बिना कोई भी व्यक्ति इस रास की उपलब्धि नहीं कर सकता। रास का, हरिलीला का भाव प्रेम-भाव में निवास करता है। जो प्रेम-भाव से भगवान का भजन करता है, उसे ही वे प्राप्त होते है। प्रेमभाव के बिना भगवत-प्राप्ति असम्भव है। यह प्रेमभाव भी भगवान की कृपा से ही सुलभ होता है।

जब हम हरि लीला और पुष्टि-मार्गीय भक्ति के नवीनरूप की बात कहते हैं, तो हमारी निश्चित धारणा इसी तथ्य की ओर रहती है। चौरासी वैष्णवों की वार्ता, सूरदास-वार्ता प्रसंग दो के अन्त मे लिखा है:—"श्री आचार्य जी महाप्रभुन के मार्ग को कहा स्वरुप है, माहात्म्यज्ञान पूर्वक सुदृढ़ स्नेह की तो परम काष्ठा है।" यह सुदृढ़ स्नेह की पराकाष्ठा, ज्ञान कर्म तथा योग तो जहाँ तहाँ उपासना की भी अपेक्षा नहीं रखती थी। सूरदास लिखते हैं.—

कर्म योग पुनि ज्ञान उपासन सब ही भ्रम भरमायौ।
श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायौ लीला भेद बतायौ॥

—(सूर सारावली ११०२)

इन पंक्तियों मे सूर ने ज्ञान, कर्म, उपासना आदि साधनों को भ्रमस्वरुप कहा है। उपासना का अर्थ भक्ति काण्ड है। यदि यह भ्रम है, तो सत्य क्या है? सूर कहते हैं, यह सत्य, यह तत्व लीला के रहस्य को अवगत करना है। सूर को आचार्य वल्लभ ने हरि लीला का यही भेद बतलाया था। हरिलीला के इस तात्विक रहस्य को हृदयंगम कर लेने पर सूर को अन्य समस्त साधन (यहाँ तक की उपासना भी) भ्रमात्मक प्रतीत होने लगे थे। इसी कारण सूर सब

साधनों से हट कर हरि-लीला-गायन मे प्रवृत्त हो गए।* अतः पुष्टि मार्ग, पुष्टि भक्ति, हरि लीला केन्द्र के चारों ओर व्याप्त है। यही उसका नवीन रूप है।

तो क्या पुष्टि मार्ग उपासना मार्ग नहीं है? कहते हुए संकोच होता है कि यह वह उपासना मार्ग नहीं है, जिसे सूर ने भ्रम स्वरूप कह दिया है। यह सेवा मार्ग है।† उपासना का जो मार्ग पूर्व से प्रचलित चला आता था, उसका एकांत अभिनव रूप पुष्टि मार्ग में दृष्टिगोचर हुआ। पूर्व काल की नवधा भक्ति भी इसमें अभिनव रूप मे हो समाविष्ट हुई और वह भी इस पुष्टि पथ की साधन रूप वन कर। श्रवण, कीर्तन और स्मरण हरि-लीला से सम्वद्ध होकर भगवान की नाम-लीला-परक क्रियाएँ वन गये। पाद-सेवन, अर्चन और वंदन हरि (श्री कृष्ण) के रूप से सम्वद्ध हो गये।

दास्य, सख्य और आत्म निवेदन उन भावों में सम्मिलित हो गये, जिन्हें लेकर गोप-गोपिकाये प्रभु के आगे लीला-निरत होते है, आत्म-समर्पण करते है। नारद-भक्ति-सूत्र संख्या ८२ मे जिन आसक्तियों का वर्णन है, वे भी हरि-लीला से सम्वद्ध कर दी गई। उदाहरण के लिए प्रथम प्रकार की सख्य भक्ति थी:—

---

* ता दिन तें हरि लीला गाई एक लच्च पद वन्द।
ताको सार सूर सारावलि गावत अति आनन्द॥ —(११०३ सारावली)

† सेवा मार्ग दो प्रकार का है—नाम-सेवा और स्वरूप-सेवा। स्वरूप-सेवा तीन प्रकार की है--तनुजा, वित्तजा और मानसी। मानसी दो प्रकार की है —मर्यादा मार्गीय और पुष्ट मार्गीय। "सेवया विना नरो न पुष्टि मार्गाधिकारी।"—इस सिद्धांत प्रवर्तन की आज्ञा, कहते हैं, (भगवान श्री कृष्ण ने स्वयं प्रकट होकर आचार्य वल्लभ को दी थी। पुष्टि मार्ग मे उपासना और भक्ति पृथक्-पृथक् है तथा ज्ञान और कर्म की भाँति उपासना को भक्ति का अंग माना जाता है। आचार्य शंकर, मध्व और रामानुज दोनों को एक ही समझते हैं। साधन-क्रम में पुष्टि मार्गीय प्रथम कर्म फिर उपासना, उसके वाद ज्ञान और अन्त में भक्ति रखते है।)

मर्यादा मार्गीय सेवा विधि-विधानात्मक अनुष्ठानों से सम्बन्ध रखती है। इसमें सिद्धि प्राप्त होने के पश्चात् पुष्टि मार्गीय अथवा भावनात्पक मानसी सेवा का प्रारम्भ होता है। यह विशुद्ध प्रेम पर अवलम्वित है। इसी हेतु इसे प्रेम लक्षणा, परा या शुद्ध पुष्टि भक्ति भी कहा जाता है। प्रेम को अनन्यता की कोटि पर पहुँचाने के लिए विरहासक्ति आवश्यक मानी गई है। मानसीसेवा निरोध रूप होने के कारण सर्वश्रेष्ठ है।

आजु हौं एक एक करि टरि हौं।
कै हम हीं कै तुम्ह ही माधौ अपुन भरोसे लरिहौं ॥
—१-७५ सूरसागर (ना० प्र० स० १३४)

पर हरि-लीला से सम्बद्ध होकर सख्य भक्ति श्रीकृष्ण और श्रीदामा के एक साथ खेलने मे चरितार्थ होने लगी।

पहले आत्म निवेदन मे सूर गाया करते थे !—

प्रभु हौं सब पतितन कौ नायक।

अथवा—अब मै नाच्यौ बहुत गोपाल।

पर हरि लीला मे आत्म-निवेदन गोपियों की इस प्रकार की प्रवृत्तियों मे प्रकट होने लगा—

कहा करौं पग चलत न घर कौं।
नैन विमुख जिन देखें जात न उरझे अरुन अधर कौं ॥
(सूरसागर ना० प्र० स० २६२४)

परब्रह्म का विरुद्ध धर्माशयत्व पूर्द रचनाओं मे—

करुनामय तेरी गति लखि न परै।
धर्म अधर्म अधर्म धर्म करि अकरन करन करै ॥
१-४५ सूर सागर (ना० प्र० स० १०४)

इन शब्दों मे प्रकट होता था, परन्तु हरि-लीला के अन्तर्गत वह इस प्रकार कहा जाने लगा—

देहरी लौं चलि जात, बहुरि फिरि-फिरि इतही कौ आवै।
गिरि गिरि परत बनत नहि नॉघत सुर मुनि सोच करावै ॥
कोटि ब्रह्माण्ड करत छन भीतर हरत बिलम्ब न लावै।
ताको लिये नद की रानी नाना रूप खिलावै ॥

पहले पश्चात्ताप ऐसे पदों में होता था :—

बादहि जन्म गयो सिराइ।
हरि सुमिरन नहिं गुरु की सेवा मधुवन बस्यौ न जाइ ॥ १—६५

*   *   *   *

सबै दिन गये विषय के हेत।
तीनों पन ऐसे ही बीते केस भये सिर सेत ॥
१-१७५ (सूर सागर ना० प्र० स० २१६)

परन्तु बाद मे इस प्रकार उसका अभिव्यंजन होने लगा:—

मोते यह अपराध परयौ।
आये स्याम द्वार भये ठाढ़े मै अपने जिय गर्व धर्यौ ॥
(सूरसागर, पद ६८ पृ० ३०६)

इस प्रकार भक्ति का प्रत्येक अंग हरि-लीला पर वटा दिया गया । जो बात कुछ सूक्ष्म और सामान्य स्तर में चलती थी, वह स्थूल और विशिष्ट स्वर में कही जाने लगी । आचार्य वल्लभ जैसे सिद्ध योगी ने आर्य जाति की तत्कालीन मानसिक परिस्थिति का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करके पुष्टि भक्ति का जो उपचार-चूर्ण तैयार किया, वह जनसाधारण के अधिक निकट, सहज-अनुभूति-गम्य और रुचिकर था । भगवान की सेवा का मार्ग इस रूप मे सब के लिए सुगम हो गया ।

पुष्टि प्रवाह मर्यादा में जीवों के भेदों पर प्रकाश डालते हुए आचार्य वल्लभ लिखते हैं :—

तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशयः
भगवद्रूप 'सेवार्थं' तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत् ॥१२ ॥
तेहि द्विविधा शुद्धमिश्र भेदान्मिश्रा स्त्रिधा पुनः ।
प्रवाहादि विभेदेन, भगवत्कार्य सिद्धये ॥ १४ ॥
पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः प्रवाहिणः क्रियारताः ।
मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धाः प्रेम्णाति दुर्लभाः ॥ ॥ १५ ॥

पुष्टि मार्ग में जीव भिन्न-भिन्न हैं । उनकी सृष्टि भगवान की रूपसेवा के लिए हुई है । जो जीव शुद्ध हैं, वे भगवान की कृपा से उनके प्रेम पात्र बन चुके हैं और अत्यंत दुर्लभ हैं । मिश्र जीव प्रवाही-पुष्ट, मर्यादा-पुष्ट और पुष्टि-पुष्ट नाम से तीन प्रकार के हैं । इन सबकी रचना भगवान के कार्य की सिद्धि के लिए ही की गई है । भगवान का कार्य है लीला ; अतः ये सब उस लीला में भाग लेने वाले हैं । लीला में भाग लेकर प्रभु की सेवा करने वाले हैं । सेवा की यह क्रिया ही पुष्टि मार्गीय भक्ति है । अतः निस्साधन भक्तों के लिए यह उच्चतम और सरलतम भक्ति मार्ग है ।

श्रीमद्भागवत के छठे स्कंध मे पुष्टि का लक्षण 'पोषणं तदनुग्रहः' शब्दों द्वारा किया गया है । अर्थात् पुष्टि-पोषण है । यह पोषण भगवान का अनुग्रह है । पुष्टि का तात्पर्य विषय-वासनाओं की तुष्टि नहीं है, क्योकि वासनाओं का पोषण आध्यात्मिक मार्ग नहीं माना जा सकता । वासनायें आध्यात्मिक विकास का पोषण नहीं, शोषण करती हैं । पुष्टि मार्ग आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग है ।

श्री हरिराय जी ने पुष्टि मार्ग का विश्लेषण इस प्रकार किया है :—

सर्व साधन राहित्य फलाप्तौ यत्र साधनम् ।
फलं वा साधन यत्र पुष्टिः मार्गःस कथ्यते ॥१॥
अनुग्रहेणैव सिद्धिर्लौकिकी यत्र वैदिकी ।

न यत्नादन्यथा विघ्नः पुष्टि मार्गः स कथ्यते ॥९॥
सम्बन्धः साधन यत्र फलं सम्बंध एव हि।
सोऽपि कृष्णेच्छया जातः पुष्टि मार्गः स कथ्यते ॥१०॥
यत्र वा सुख सम्बंधो वियोगे संगमा दपि।
सर्व लीलानुभवतः पुष्टि मार्गः स कथ्यते ॥१५॥
—श्री हरिराय वाङ् मुक्तावली, पुष्टि मार्ग लक्षणानि।

जिस मार्ग में समस्त साधनों की शून्यता प्रभु-प्राप्ति में साधन बनती है, साधन-जन्य फल ही जहाँ साधन का कार्य करता है, जिस मार्ग मे प्रभु का अनुग्रह ही लौकिक तथा वैदिक सिद्धियों का हेतु बन जाता है, जहाँ कोई यत्न नहीं करना पड़ता, जहाँ प्रभु के साथ देहादि का सम्बन्ध ही साधन और फल दोनों बन जाता है, जहाँ भगवान की समस्त लीलाओं का अनुभव करते हुए वियोग मे भी संयोग सुख से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, वह पुष्टि मार्ग है।

इन शब्दों मे श्री हरिराय जी पुष्टि भक्ति का सीधा सम्बन्ध हरिलीला से स्थापित करते हैं।

आचार्य वल्लभ के कुल मे श्री कल्याण राय जी के पुत्र महाप्रभु हरिराय जी सम्वत् १६४७, भाद्रपद, कृष्ण पक्ष, पंचमी के दिन उत्पन्न हुये थे। इन्होंने संस्कृत, गुजराती तथा व्रजभाषा में अनेक ग्रंथों की रचना की थी। शिक्षा-पत्र इन्होंने संस्कृत पदों मे लिखा है जिसकी व्रजभाषा टीका उनके अनुज श्री गोपेश्वर जी ने की है। इसमें एक स्थान पर लिखा है:—

"जन्माष्टमी, अन्नकूट, होरी, हिंडोरा आदि बरस दिन के उच्छव, तिनकी अनेक लीला भाव करिकै पुष्टि मारग की रीति सौं मन लगाइ कै करै। तथा नित लीला, खंडिता, मंगल भोग, आरती, सिंगार, पालनों, राजभोग, उत्थान, सैन (शयन) पर्यंत, पीछे रासलीला, मानादिक जल-थल-विहार इत्यादि की भावना करिये।" —व्रज भारती, आषाढ़ १६६८, पृ० ११

इस उद्धरण में भी श्री हरिराय जी ने पुष्टि मार्ग को हरिलीला से स्पष्ट रूप में सम्बद्ध किया है. उन्होंने खंडिता, मान, विहार आदि शृंगारी तत्वों का भी उससे सम्बन्ध स्थापित किया है।

आचार्य वल्लभ ने हरि स्वरूप सेवा का प्रबंध श्रीनाथ मंदिर मे नित्य तथा नैमित्तिक आचारों के द्वारा किया था। नित्याचार में आठों प्रहर की सेवा नीचे लिखे अनुसार थी:—

सेवा	समय	भाव	कीर्तनकार
१—मंगला	प्रातः ५ से ७ बजे तक	अनुराग के पद, खंडिता भाव, जगाने के पद, दधिमंथन के पद	परमानंद
२—शृङ्गार	७ से ८ तक	बालरूप सौंदर्य के पद, वेषभूषा, बालक्रीड़ा	नंददास
३—ग्वाल	८ से १० तक	सख्यभाव के पद, कृष्ण के खेल चौगान, चकडोरी आदि, गोचारण, गोदोहन, माखनचोरी, पालना, चैया आरोगन	गोविंद स्वामी
४—राजभोग	१० से १२ तक	छाक के पद।	आठों भक्त विशेष रूप से कुंभनदास
५—उत्थापन	सायं ३॥ से ४॥ तक	गोटेरन तथा वन्य लीला के पद	सूरदास
६—भोग	५ बजे	कृष्णरूप, गोपीदशा, मुरली रूपमाधुरी, गाय-गोप आदि	आठों भक्त विशेषरूप से चतुर्भुज दास
७—संध्या आरती	६॥ बजे	गो ग्वाल सहित वन से आगमन, गोदोहन चैया के पद, वात्सल्य भाव से यशोद का बुलाना	छीत स्वामी
८—शयन	७ से ८ तक	अनुराग के पद, गोपी भाव से कृष्णदास निकुंज लीला के पद, संयोग शृङ्गार	कृष्णदास

आठों प्रहर की सेवा में नित्य क्रम, ऋतु-क्रम तथा उत्सव क्रम के अनुसार सेवा का आयोजन बदलता रहता था।

(अष्ट छाप और वल्लभ सम्प्रदाय पृ० ५६८, ५६६)

इस सेवा में श्रीकृष्ण को सुस्वादु भोग समर्पित करना, स्नेह-सौहार्द आदि द्वारा उनसे रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करना और वस्त्राभूषणादि से उन का शृङ्गार करना ही प्रमुख थे।

नैमित्तिक आचारों में षड् ऋतुओं के उत्सव-पर्व, रक्षा बंधनादि, अवतारों की जयंतियाँ, हिंडोला, फाग, वसंत, मकरसंक्रांति आदि मंदिर में मनाए

जाते थे। गोस्वामी विट्ठलनाथ ने इन्हें और भी अधिक बढ़ा दिया था। महात्मा सूरदास इन नित्य तथा नैमित्तिक आचारों को विषय बना कर पद-रचना किया करते थे। इन समस्त आचारों का सम्बन्ध हरिलीला से था। सूरसागर हरिलीला के, ऊपर लिखे विषयों पर बनाये गये ऐसे ही गीतों का विशाल संग्रह है।

इस प्रकार सूर ने अपने आराध्य देव श्री कृष्ण की लीलाओं का विविध रूपों मे वर्णन किया है। यह समस्त लीला-वर्णन, जिसमें कहीं श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं, चरितों, चेष्टाओं आदि का उल्लेख है, कहीं पनघट, माखनचोरी, गोदोहन आदि का, कहीं, रास कहीं मिलन और कहीं विरह आदि भावों का वर्णन है, ईश्वर भाव को ही लेकर किया गया है और सब भगवान की सेवा का ही अंग है।

नवधा भक्ति का प्रयोजन था भगवान के चरण-कमलों में प्रणत होकर शीतलता का अनुभव करना, पर इस पुष्टि-मार्गीय भक्ति का लक्ष्य था प्रेम पूर्ण प्रभु के प्रेम को प्राप्त कर मस्त रहना और श्री हरिराय जी के शब्दों में गोपियों के भाव का अनुसरण करते हुये भगवान के अधरामृत का सेवन करना। अतः पुष्टि मार्गीय भक्ति उष्ण भक्ति भी कहलाती है।

भक्ति के जो मर्यादा और पुष्टि दो भेद किये जाते हैं, उनमें मर्यादा भक्ति भगवान के चरणारविन्दों की भक्ति है, पुष्टि भक्ति प्रभु-के मुखारविन्द की भक्ति है। मर्यादा भक्ति द्वारा नारदादि मुनियों ने श्रवण-कीर्तन द्वारा भगवान का सुख-सम्बन्ध उपलब्ध किया। यह सुलभ है। पुष्टि भक्ति द्वारा, जो स्वयं भगवत्प्रदत्त है, गोपियों ने भगवान के प्रेम को प्राप्त किया। यह दुर्लभ है। मर्यादा भक्ति परतंत्र है। पुष्टि भक्ति स्वतंत्र है। मर्यादा भक्ति फल की अपेक्षा रखती है। पुष्टि भक्ति मे फल की अपेक्षा नहीं रहती। एक अक्षर ब्रह्म मे लय कराती है, तो दूसरी द्वारा पुरुषोत्तम लीला मे प्रवेश होता है। भगवद्विषयक निरुपाधि स्नेह को सर्वात्मभाव कहते हैं। यही पुरुषोत्तम प्राप्ति का मुख्य कारण है। भागवत के नवम स्कंध मे वर्णित अम्बरीश की भक्ति मर्यादा प्रकार की हैं। दशम स्कंध में निरूपित व्रजसुन्दरी गोपिकाओं की भक्ति पुष्टि प्रकार की है।

आचार्य वल्लभ ने भक्ति को विहिता और अविहिता दो प्रकार की माना है। ब्रह्मसूत्र ३-३-३६ के अणुभाष्य मे वे लिखते हैं:—"भक्तिस्तु विहिता अविहिताच द्विविधा। माहात्म्यज्ञानयुत ईश्वरत्वेन प्रभौ निरुपाधि स्नेहात्मिका विहिता। अन्यतोऽ प्राप्तत्वात् कामादि-उपाधिजा सा तु अविहिता। एवं उभय-विधाया अपि तस्या मुक्तिसाधकत्वम् इत्याह।" अर्थात ईश्वर मे माहात्म्य ज्ञानयुत निरुपाधि स्नेह रखना विहिता भक्ति है। कामादि उपाधियों से उत्पन्न भक्ति अविहिता है। दोनों ही मुक्ति की साधिका है।

भक्ति-वर्धिनी में आचार्य जी ने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भक्ति मार्ग की तीन स्थितियों को स्वीकार किया है:—स्नेह, आसक्ति और व्यसन। भक्त पहले प्रभु से स्नेह करता है। यह स्नेह धीरे-धीरे आसक्ति में परिणत होता है और आसक्ति अन्त में व्यसन बन जाती है। व्यसन से भक्त प्रेम की पूर्णता प्राप्त कर लेता है।

सिद्धान्त मुक्तावली में आचार्य वल्लभ ने पुष्टिमार्गीय भक्त के लिये परम आराध्यदेव श्रीकृष्ण को ही माना है। श्रीकृष्ण में अनन्य भक्ति भावना, अविचल श्रद्धा-विश्वास और पूर्ण समर्पण भाव ही भक्त का उत्थान कर सकते हैं। पुष्टि मार्गीय सम्प्रदाय में प्रवेश-संस्कार अर्थात ब्रह्म संबंध कराने के समय गुरु शिष्य को 'श्रीकृष्णः शरणं मम' मंत्र देता है। वह मंत्र भक्त को सदैव अपने ध्यान में रखना चाहिये। चतुःश्लोकी में आचार्य जी लिखते हैं:—

"सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः स्वस्यायमेव धर्मोहि नान्य. क्वापि कदाचन, एवं सदा स्वकर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति। प्रभुः सर्व समर्थो हि ततो निश्चिन्ततांव्रजेत्"

अर्थात् सर्वदा समस्त भावों से व्रजाधिप श्रीकृष्ण का ही भजन करना चाहिये। अपना यही धर्म है, अन्य कुछ नहीं। भगवान सर्वसमर्थ है। जो कुछ मेरे लिये कर्तव्य है, उसे वे स्वयं कर देंगे, ऐसा सोचकर निश्चिन्त हो जाना चाहिये। लौकिक एवं वैदिक सभी कर्मों का फल भगवान को अपने हृदय में स्थापित कर लेना है। अतः सभी भाँति श्रीकृष्ण के चरणों में प्रणत होकर उनका स्मरण, भजन और कीर्तन करना चाहिये। भगवद् भजन की ओर प्रेरणा देने वाला गुरु होता है। अतः आचार्य वल्लभ के मत में गुरु की आज्ञा का पालन प्रभु भक्ति का ही अंग समझा जाता है।

पुष्टि मार्ग में भक्ति, पूजा, कीर्तन आदि करने का अधिकार सभी वर्ण वालों को प्राप्त था। सूरदास, परमानन्ददास आदि ब्राह्मण थे, कुम्भनदास क्षत्रिय थे, कृष्णदास कुनबी पटेल थे तथा अन्य अनेक पुष्टिमार्गीय भक्त निम्न वर्ण के थे। भक्ति मार्ग को स्वामी रामानन्द ने जैसे समस्त वर्ण वालों तथा देशी-विदेशी जनों के लिए उन्मुक्त कर दिया था, उसी प्रकार आचार्य वल्लभ और उनके अनुयायियों ने भी। सूरदास के कई पदों में इस वर्ण-शैथिल्य का प्रतिपादन हुआ है।

आश्रम मर्यादा भी पुष्टि मार्ग में भिन्न प्रकार की है। स्मृतियों के अनुशासन को, इस सम्बन्ध में अवहेलनीय समझा गया है। पुष्टि मार्ग प्रमुख रूप

से प्रभु-सेवा को ही महत्ता देता है। वर्णाश्रम मर्यादा विधि-निषेध पर आधारित है। अतः उसकी मान्यता वर्जित है। भक्त किसी भी वर्ण या जाति का हो और किसी भी अवस्था मे हो, उसका परम धर्म भगवत्सेवा है, अन्य धर्म या कर्तव्य गौण हैं।

सूरसागर में इस सेवा-मूला, प्रेम-परा हरिलीला का ही वर्णन अधिक मात्रा मे हुआ है (हरिलीला मे भगवान कृष्ण और उनके सखाओं तथा सखियों को विशेष महत्व दिया गया है। अष्ट छापके आठ कवि एक-एक सखा के प्रतिरूप है। गिरिराज को नित्य निकुञ्ज मान कर उसके आठ द्वारों पर* अष्टछाप के आठों सखाओं को अधिकारी के रूप मे नियुक्त समझना चाहिए। इन्हीं स्थान से वे भगवान की सतत सेवा मे निरत रहते है। गिरिराज के आठ द्वार हैं:— आन्यौर, चन्द्रसरोवर, सुरभीकुण्ड, बिलछूकुण्ड, कदमखंडी, अप्सराकुण्ड, रुद्रकुण्ड और मानसी गंगा। इन पर क्रमशः कुम्भनदास (अर्जुन), सूरदास (कृष्ण) परमानन्ददास (तोक), कृष्णदास (ऋषभ), गोविन्द स्वामी (श्रीदामा), छीत स्वामी (सुबल), चतुर्भुजदास (विशाल) और नन्ददास (भोज) का अधिकार था) इनके साथ क्रमशः विशाखा, चम्पकलता, चन्द्रभागा, ललिता, भामा, पद्मा, विमला और चन्द्ररेखा सखियों के नाम आते हैं और लीलाओं में निकुंज, मान, बाल, रास, आँख मिचौनी, जन्म, अन्नकूट और किशोर लीलाओं का इनसे क्रमशः सम्बन्ध है।†

सूर-वर्णित हरिलीला जहाँ लोक भाषा मे संसार की व्यावहारिक बातों और कथाओं पर प्रकाश डालती है, वहाँ समाधि भाषा के द्वारा आध्यात्मिक तथ्यों का भी निरूपण करती है। पुष्टि मार्गीय सम्प्रदाय मे दोनों एक दूसरे के प्रतिबिम्ब हैं। शुद्धाद्वैतवादी की दृष्टि में खंडिता नायिका का वर्णन भक्त के उस स्वरूप का उद्घाटन करता है, जिसमे वह अन्य भक्तों की सुगति प्राप्ति से होड़ कर रहा है। 'हे हरि क्यों न हमारे आये।' इस पद को हरि लीला के अन्तर्गत किसी गोपी के मुख से कहला दिया जाय, तो उसकी वेदना, टीस एवं तड़पन से ओत-प्रोत

---

* जायसी ने आखिरी कलाम, दोहा संख्या ५६ मे स्वर्ग का वर्णन करते हुए लिखा है :—'खुलि हैं आठौ पंवरि दुआरा।' दोहा संख्या ५५ मे 'नन्द सरोद' भी है जो गाया जाता है। दो स्थानों का यह विचित्र साम्य किस आधार पर है?

† अष्टछाप परिचय, पृष्ठ ६६

इस शब्दावली में विरह-व्यथित भक्त की ही चिरंतन पुकार, उसकी क्रंदन-कातरता सुनाई पड़ने लगेगी।

पुष्टि मार्ग मे यह लीला ही वस्तुतः सर्वप्रधान थी। इस लीला मे भाग लेना ही जीवन का चरम आदर्श था, क्योंकि यही वह सेवा कार्य था जिससे भगवत्कृपा प्राप्त होती थी और जो अन्त मे साधन और साध्य को अन्योन्याश्रित कर देती थी। मुक्ति इसके आगे तुच्छ समझी जाती थी। इसी आधार पर कृष्ण भक्तों का कार्य कृष्ण की नित्य एवं नैमित्तिक जीवनचर्या मे भाग लेना था। प्रातः काल उठते ही कृष्ण को जगाना, मुँह धुलाना, कलेऊ कराना, शृङ्गार कराना आदि भक्तों और उपासकों का कार्य समझा जाता था। इसके पश्चात् मन्दिर के कपाट बन्द हो जाते थे, क्योंकि यह समय कृष्ण के गोचारण का था। मन्दिर बन्द है, पर भक्त अपने कन्हैया के साथ मानस रूप से गोचारण मे योग दे रहे हैं। दधि, माखन, गोदोहन के प्रसंग चलते है, यमुना तट पर क्रीड़ा होती है, छाक पहुँचाई जा रही है और दोपहर के समय भगवान को भोग लगाया जा रहा है। कृष्ण-भक्त एक-एक क्रिया मे अपने भगवान के साथ तन्मय होकर लगे हुए हैं। सन्ध्या हुई, गोधूलि वेला में कृष्ण घर लौटे। मन्दिर के कपाट खुले। आरती होने लगी। कृष्ण थक गए है। उनके शयन का प्रबन्ध हो रहा है। भगवान सुला दिए गए। भक्त भी सो गए। (यह थी श्री नाथ मन्दिर की प्रतिदिन की चर्या। इस नित्य क्रिया के साथ, जैसा लिखा जा चुका है, नैमित्तिक आचार भी चलते थे। मन्दिर मे वसन्तोत्सव मनाया जाता था, फाग खेला जाता था। वृन्दावन, गोकुल और मथुरा के मन्दिरों की श्रावण मास मे हिंडोले और झूलने की झाँकियाँ तो अतीव प्रख्यात हैं। आश्विन मास के दिनों में रासलीला मनाई जाती थी। इस प्रकार कृष्ण भक्तों का जीवन कृष्ण के साथ रंग-रहस्य और विनोद-प्रमोद में व्यतीत हो जाता था।

(आध्यात्मिकता के साथ लौकिकता का इतना सुन्दर सामंजस्य आज तक किसी भी उपासना मार्ग मे नहीं देखा गया। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने पराधीनता-जन्य दुखों की विकट अनुभूति से तड़पती हुई आर्य जाति को पुष्टि भक्ति के पोषण द्वारा जीवित रखने का स्तुत्य प्रयत्न किया। सम्भव है, इस पुष्टि मार्गीय चहल-पहल में मुगलों के वैभव का भी कुछ प्रभाव हो। पर इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार की पूजा-पद्धति ने हिन्दुत्व को स्थिर रखने मे बड़ी सहायता दी। इस आत्म-पोषक, लोक-विधायक वैभव के समक्ष हमने यवन-वैभव को भी तुच्छ

समझा और अपने स्वाभिमान को ठेस न लगने दी। सूर द्वारा प्रतिपादित पुष्टि मार्गीय भक्ति-भावना इसी हेतु प्रवृत्ति मूलक है। उसमें निराशा नहीं, निवृत्ति नहीं, प्रत्युत जीवन से ज्वलन्त राग है। वह आशा का स्रोत है। इस भक्ति में भक्तों ने अपना सुख-दुख भगवान के साथ एक कर दिया था। हरिलीला में भाग लेने और इस प्रकार अपने प्रभु की सेवा कर उनका प्रेम-पात्र होना—यही इस भक्ति का केन्द्र बिन्दु था। निवृत्ति-परायणता में भगवान भक्तों से दूर थे, अनन्त थे, असीम थे, निर्गुण थे; पर इस भक्ति ने उन्हें सान्त, ससीम और सगुण बनाकर घर-घर में आँगन-आँगन में, रसमाण, क्रीडमाण रूप में उपस्थित कर दिया। प्रभु के इस रूप को पाकर भक्त का हृदय आनन्दमग्न हो गया।)

काव्य समीक्षा

इस युग की विश्लेषणमयी आलोचना की पद्धति प्राचीन काल में प्रचलित नहीं थी। अतीत युग की मनस्प्रवृत्ति प्रायः सश्लेषण-प्रधान थी। उस समय मानव ध्वंस के स्थान पर निर्माण की ओर अधिक अग्रसर होता था। फिर भी मानव का हृदय रागद्वेप का केन्द्र है। उसे कुछ पदार्थ रुचिकर प्रतीत होते हैं और कुछ घृणास्पद। किसी से वह प्रेम करता है, किसी से घृणा। हृदय की इस प्रवृत्ति के साथ-साथ वह बुद्धि का भी उपयोग करता है। इसी के द्वारा उसे दो व्यक्तियों की पृथक्-पृथक् विशेपताओं का ज्ञान होता है। संस्कृत की नीचे लिखी उक्तियाँ मानव की इन्हीं दो वृत्तियों का परिणाम हैं :—

"उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थ गौरवम् ।
दंडिनः (अथवा नैषधे) पद लालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणा. ॥"
बाणोच्छिष्टं जगत् सर्वम् ॥
उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते ॥
उदिते नैपधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः ॥

हिन्दी कवियों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की उक्तियाँ प्रचलित हैं। सूरदास के सम्बन्ध में नीचे लिखे पद अधिक प्रसिद्ध हैं :—

कविता करता तीन हैं, तुलसी केशव सूर।
कविता खेती इन लुनी, सीला बिनत मजूर ॥
सूर सूर तुलसी ससी, उडुगन केशोदास।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करत प्रकास ॥
किधौं सूर को सर लग्यौ, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यौ, तन मन धुनत सरीर ॥
उत्तम पद कवि गंग के, उपमा को बलवीर।
केशव अर्थ गंभीरता, सूर तीन गुन धीर।
तत्व तत्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठी।
बची खुची कबिरा कही, और कही सो जूठी ॥

भनै रघुराज और कविन अनूठी उक्ति,
मोहि लागी जूठी जानि जूठी सूरदास की ॥
महामोह मद छाइ, अन्धकार सब जग कियो।
हरि जस सुभ फैलाइ, सूर सूर सम तम हर्यो ॥

इन पदों से सूर की नीचे लिखी विशेषतायें प्रकट होती हैं :—

१—सूर की रचना वास्तविक काव्य-फल का गूदा है। उसमें कवित्व का सार सम्पुट है। अन्य कवियों की रचनायें छिलके के समान वाह्य आच्छादन मात्र हैं। जो अन्तर मक्खन और मठे में है, वही अन्तर माखनमय सूर और अन्य कवियों की रचनाओं में है।

२—सूर की रचना सूर्य के समान प्रकाशमयी एवं सञ्जीवन-प्रदायिनी है, परन्तु तुलसी की रचना चन्द्र की पीयूष-वर्षिणी शीतल, स्निग्ध ज्योत्स्ना के समान है।

३—सूर के पदों में मर्मस्पर्शी तीव्रता और अन्तःकरण के निगूढ़तम प्रदेश को प्रभावित करने की शक्ति है।

४—सूर के काव्य में गङ्ग कवि के समान उच्चकोटि की पदावली, बीरबल के समान उत्कृष्ट उपमायें और केशव के काव्य जैसा अर्थ-गाम्भीर्य है।

५—सूर की रचना में तत्व की, पते की बात है। तुलसी की रचना भी अनुपम है और कबीर भी कुछ न कुछ कह ही गये हैं; पर इनके अतिरिक्त अन्य कवियों के काव्य तो उच्छिष्ट मात्र हैं।

६—सूर के पूर्व समस्त संसार महामोह के अन्धकार में ग्रसित था। सूरदास ने सूर (सूर्य) के समान उदय होकर भगवद्लीला रूपी प्रकाश चतुर्दिक प्रसृत कर दिया, जिससे अन्धकार नष्ट हो गया।

७—सूर की रचना हरिलीला का गायन है। सूर के काव्य गगन में भगवान के यशरूपी प्रकाश का प्रसार है। सूर-संगीत की एक-एक स्वर-लहरी, एक-एक मूर्छना, एक-एक तान और लय हरि-कीर्तन से ओतप्रोत है।

ऊपर सूर की जिन विशेषताओं का वर्णन प्रचलित उक्तियों के आधार पर किया गया है, उनमें सूर-काव्य की शैली और विषय दोनों बातों का समावेश है। सूर के काव्य का विषय हरिलीला का गायन ही है और उसकी शैली अपनी व्यक्तिगत विशेषतायें रखती है, जिनका मिलना अन्यत्र दुर्लभ है।

नाभादास ने 'भक्तमाल' में एक छप्पय सूरदास के सम्बन्ध में लिखा है, जिसे हम वाह्यसाक्षियों के अन्तर्गत सं० १ में उद्धृत कर चुके हैं। इस छप्पय से भी प्रकट होता है कि सूर के पदों में उक्ति-चमत्कार, वचन-विदग्धता, वर्ण-मैत्री

अनुप्रास-उत्प्रेक्षा आदि अलंकार और अर्थ-गाम्भीर्य ओतप्रोत है। प्रीति-निर्वाह अर्थात् शृङ्गाररस उनकी रचना की प्रमुख विशेषता है। भगवान के जन्म, कर्म गुण और रूप सभी को सूर ने अपनी वाणी में प्रकाशित किया है। उनकी कवित्वशक्ति मनुष्य को मतवाला बना देती है।

पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सूर की व्यंग्यमयी एवं चित्रभाषा की प्रशंसा की है। स्वर्गीय आचार्य शुक्ल जी सूरदास को भाव-जगत का अद्भुत द्रष्टा कहा करते थे। पर सूर द्रष्टा ही नहीं अद्भुत स्रष्टा भी है। उसकी रची हुई सृष्टि का अनुसन्धान करने में अभी न जाने कितना समय लगेगा। जो अनुसन्धान हुआ है, वही सूर को कविमूर्धन्य बनाने के लिए पर्याप्त है।

काव्य समीक्षा में कविता की आत्मा और शरीर दोनों का विवेचन होता है। कविता की आत्मा उसके भाव और विचार है तथा शैली उसका शरीर है। दण्डी ने काव्य में दोनों का महत्व स्वीकार किया है। यही दोनों कवि के भाव पक्ष तथा कलापक्ष कहलाते हैं। पीछे उद्धृत उक्तियों में आलोचकों ने सूर के इन दोनों पक्षों की प्रशंसा की है। हम आगे सूर-काव्य के इन दोनों पक्षों पर संक्षेप में अपने विचार प्रकट करेंगे।

शैली

गीतिकाव्य—सूर ने अपनी रचना गेय पदों में की है। गीति-काव्य की परम्परा प्राचीन काल से चली आती है। सामवेद के रथन्तरादि गीत यज्ञ के समय गाये जाते थे। धार्मिक कृत्यों के साथ सामाजिक पर्व और उत्सवों में भी गीतिकाव्यों का प्रचार था। जब समाज में संकुलता बढ़ी, संघर्ष प्रबल हुआ, तो गीतिकाव्य भी धार्मिक शांति और सामाजिक चहलपहल को छोड़कर उग्र रूप धारण करने लगे। विरक्ति और विनोद के स्थान पर वे विप्लव एवं विरोध भाव के उत्तेजक बन बैठे। माधुर्य और प्रसाद के साथ उनमें ओज का भी समावेश होने लगा। सूर ने जिस युग में अपनी रचना प्रारम्भ की, उसके पूर्व उपर्युक्त तीनों प्रकार के गीतिकाव्य प्रचलित थे। सूर की रचना यद्यपि प्रधान रूप से प्रसाद-गुण-सम्पन्न एवं माधुर्य-भाव-मंडित है, तथापि उसमें ओज की भी पर्याप्त मात्रा विद्यमान है। अनेक स्थानों पर सूर ने शृङ्गार के अन्तर्गत वीर रस का वर्णन किया है।

सूर को यह गीतिशैली जयदेव, गोवर्धनाचार्य, विद्यापति और कबीर से धरोहर के रूप में प्राप्त हुई थी। वीरगाथा काल में भी वीर प्रशस्तियाँ तथा वीरगीत लिखे जाते थे, परन्तु उनका कोई भी प्रभाव सूर की रचना में परिलक्षित नहीं होता। हाँ, कबीर आदि सन्तों की वाणी का सूरकाव्य पर पर्याप्त प्रभाव

पड़ा है। उनके विनय-सम्बन्धी पद आचार्य वल्लभ से ब्रह्म-सम्बन्ध प्राप्ति के पूर्व ही लिखे जा चुके थे। इन पदों मे सन्तों की पदावली का प्रतिबिम्ब प्रभूत मात्रा मे है। वैसे ही शब्द, वैसी ही भाव-धारा, वैसा ही वाक्य-विन्यास जैसा निर्गुण पन्थ की रचनाओं मे है—सूर की इन पूर्वकालीन कृतियों में उपलब्ध होता है। इन पदों में बाहर नहीं, आत्मा को अन्दर ढूँढने का विधान है। प्रभु के साथ सख्य भाव का नहीं, दास्य एवं दैन्य भाव का सम्बन्ध है। हरि की शाश्वत लीला नहीं, उसकी महिमा और विभूति का वर्णन है। परन्तु यह सूर की पूर्वकालीन कृतियों के सम्बन्ध मे ही सत्य कहा जा सकता है। महाप्रभु वल्लभ से दीक्षित होने के उपरान्त सूर के मानस से जो काव्यधारा प्रवाहित हुई, वह एक दम दूसरी दिशा की ओर मुड़ गई। यह धारा जितनी अधिक जयदेव और विद्यापति से मेल खाती है, उतनी अन्य कवियों से नहीं। पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि सूर ने जयदेव और विद्यापति का अन्धानुकरण किया है। उसकी अपनी विशेषताओं की मुद्रा सूरसागर के प्रत्येक पृष्ठ पर लगी हुई है। जयदेव और विद्यापति से उसने शृङ्गारी भावना और कोमलकांत पदावली अवश्य ली है, पर उनको भी उसने अपने रङ्ग मे रँगा है। सूर की रचना में जो व्यंग्य, सजीवता स्वाभाविकता, चित्रमयता एव भावगाम्भीर्य पद-पद पर प्राप्त होते हैं, वे विद्यापति में कहाँ, जयदेव में कहाँ? यहाँ सूर सब से पृथक खड़ा है। उसका मातृहृदय का चित्रण संयोग एवं विप्रलम्भ शृङ्गार के नाना मनोरमरूप, बाललीला के मनोमुग्धकारी दृश्य अन्यत्र कहाँ दृष्टिगोचर होते है? सूर की सी सूक्ष्म संकेत प्रणाली तो अन्य कवियों मे खोज करने से मिलेगी।

गीतिकाव्य की शैली आत्माभिव्यंजन की अतीव उत्कृष्ट शैली है। मुक्तक काव्यरचना के लिये भी यह अत्यन्त उपयुक्त है। जिसे भाव की एक-एक शृंखला को सुसज्जित गुलदस्ते के रूप मे सजाना है, भावधारा की एक-एक लहर का सजीव चित्र उपस्थित करना है, अपनी अनुभूति का अङ्ग-अङ्ग आकर्षक रूप में प्रकट करना है, उसके लिये गीतिकाव्य के अतिरिक्त अन्य कौन शैली उपादेय सिद्ध होगी? सूर ने इसी शैली मे हरिलीला का गायन किया है। इस गायन में ऐसी कौन सी रागिनी है, जो सूरसागर मे न आई हो। कहा जाता है कि सूर के गान ऐसे राग और रागिनियों में हैं जिनमें से कुछ के तो लक्षण भी अब प्राप्त नहीं हैं। ऐसी राग-रागिनियाँ या तो सूर की अपनी सृष्टि है या उनका अब प्रचार नहीं है।

श्री शिखरचन्द जैन 'सूर एक अध्ययन' के पृष्ठ ३७ पर लिखते हैं:—
संगीत विषयक इस ज्ञान की कसौटी पर जब सूर कसे जाते हैं, तब वह बहुत ऊँचे उठ जाते हैं। वास्तव मे यदि काव्य और संगीत का सच्चा समन्वय कोई

प्रकृतरूप से कर सका है तो वह सूर ही है।" इस सम्बन्ध में सूर और तुलसी की तुलना करते हुये वे लिखते हैं:—"जहाँ तुलसी की संस्कृत पदावली संगीत के माधुर्य को किन्हीं अंशों में कम कर देती है, वहाँ सूर की प्रकृत रूप से प्रसवित होने वाली शब्द-लहरी स्वाभाविकता, सादगी, अल्हड़पन और प्रसाद को समान रूप से लिये हुये आगे बढ़ती है। तुलसी के अनावश्यक रूप से प्रयुक्त बड़े-बड़े रूपक भी संगीत लहरी में अवरोध उपस्थित करते हैं, पर सूर के रूपक छोटे आवश्यक, फबते हुये, सरल, आकर्षक और संगीत के लिए उपयुक्त हैं। इसी लिये तुलसी संगीत का वह माधुर्य न ला सके जो उसका शृङ्गार है। ऐसा करने में सूर समर्थ हो सके हैं। उन्होंने संगीत की स्वर-लहरी को सरलता भावुकता, प्रवणता और दक्षता के साथ प्रवाहित किया है।" वास्तव में सूर की काव्यकौमुदी संगीत—सौंदर्य के साथ जगमगा उठी है। चौरासी वार्ता से सिद्ध होता है कि सूर गायनकला में निपुण थे। आचार्य वल्लभ से दीक्षित होने के पश्चात् तो मानों साक्षात् वीणापाणि सरस्वती ही उनकी जिह्वा पर आकर बैठ गई। उस समय गीतियों की जो अजस्र सरस धारा प्रवाहित हुई, उससे सूर का सागर लबालब भर गया। एक नहीं, दो नहीं, सौ नहीं, सहस्र नहीं—एक लक्षावधि पदों का निर्माण हिन्दी तो क्या, विश्व की किसी भी भाषा का कवि आज तक नहीं कर सका। सूर के इसी संगीत ने ब्रज भूमि को वंदनीय और ब्रजभाषा को वरेण्यबना दिया है।

भाव-प्रधानता—सूरसागर का ढाँचा मुख्य रूप से श्रीमद्भागवत से तैयार किया गया है। अतः उसमें कथा का एकक्रम भी विद्यमान है। परन्तु महाकाव्य के जो लक्षण आचार्यों ने निर्धारित किये हैं, वे उस पर लागू नहीं होते। कृष्ण-जीवन की गाथा होते हुये भी उसमें घटनाओं के वर्णन की प्रवृत्ति कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती। जहाँ कथा के प्रसंग आते भी हैं, वहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि कवि की वृत्ति उनमें रम नहीं रही है—जैसे-तैसे, शीघ्रता पूर्वक कवि उसे कह कर समाप्त करने की धुन में है, वह घटनात्मक वर्णन से छुट्टी पाना चाहता है। कहीं-कहीं तो ऐसे प्रसंगों में चौपाई छन्द का प्रयोग हुआ है, जिसमें न तो रसात्मकता ही आ सकी है और न कला का ही प्रदर्शन हो सका है। इसके विपरीत, कवि की वृत्ति घटनाओं के भावात्मक विकास में तत्परता पूर्वक रमती दिखाई देती है। घटनाचक्र अधिकतर सांसारिकता से सम्बद्ध होता है। उसमें अन्तस्तल से उत्पन्न होने पर भी, बाह्योन्मुखता अधिक होती है। जीवन में इसका भी महत्व है। कई कवि इसी चक्र का सांगोपांग चित्रण करके अमर हो गये हैं और समालोचकों ने उन्हें सर्वश्रेष्ठ कवि की उपाधि से विभूषित

किया है। पर आन्तरिकता, भावभूमि, अध्यात्म-जगत् किसी की समालोचना का आश्रित नहीं, वह किसी के कथन के आधार पर ऊँचा नही उठाया जाता- अपनी महिमा मे वह स्वयं परम, उच्चतम और श्रेष्ठ आकर्षण बना हुआ है। सूरसागर इसी अन्तरतल का प्रसार है—भाव-जगत् की वस्तु है। उसमें घटना-वली के प्रेरक भावों की राशि सन्निहित है, मनोविकारों का साम्राज्य-सा फैला है और हृदय-रूपी सहस्र-दल कमल का चतुर्दिक विकास हो रहा है। भाव के इस भव्य भवन मे सूर की अन्तर्दृष्टि ने जितना गम्भीर और विस्तृत अवलोकन किया है, उतना विश्व का महान से महान कवि भी नहीं कर सका। इस दृष्टि से सूरसागर प्रबन्ध काव्य का स्पर्श करता हुआ मुक्तक काव्य के अन्तर्गत भाव-भरित गीति काव्य का सर्वोत्तम उदाहरण है।

सूर के पदों की टेक बहुधा पद मे गुंफित भाव को स्पष्ट कर देती है। पद मे उस भाव को कलात्मक रूप मे सजा देना कवि के लिये अवशिष्ट रह जाता है। भाव के इस वेषविन्यास में, बाह्य सजावट मे, सूर ने जो करामात दिखलाई है, वह एक ओर घटनाचक्र की न्यूनता को दूर करती है और दूसरी ओर हृदय पक्ष की बहुलता को! सूर ने इस दिशा में सामंजस्य लाने की चेष्टा की है। पर है वह प्रधान रूप से भाव जगत् का ही कवि। जो आलोचक इस तथ्य को हृदयङ्गम नहीं करते, वे सूर की रचना पर कहीं-कहीं असम्बद्धता का दोषारोपण कर बैठते हैं।

सूर की उद्भावना शक्ति—(एक वस्तु को अनेक रूपों मे देखना) सूर ने एक ही विषय को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखा है, एक ही दृश्य को भावों की अनेकरूपता प्रदान की है। नेत्रों के वर्णन में ही न जाने कितने मनो-विकारों का उन्होंने समावेश किया है। एक गोपी कहती है "मन के भेद नैन गये माई" मन ने ही फूट डाल कर मेरे नेत्रों को कृष्ण के हाथ बेच दिया। हा! मन तो बिगड़ा ही था, बहुत दिनों से बिगड़ रहा था, वह पुराना खुर्राट खूँटा छोड़ कर भाग गया, तो कोई बात नहीं, पर उसने मेरे इन भोलेभाले बाल नेत्रों को क्यों बिगाड़ दिया? इस मन ने:—

इन्द्री लई, नैन अब लीन्हें, श्यामहिं गीधे भारे।
इतने तें इतने मैं कीन्हें, कैसे आजु बिसारे॥

जिन नन्हें-नन्हें नेत्रों को पालपोस कर मैंने इतना बड़ा बनाया, उन नेत्रों पर भी मन ने हाथ सफा कर ही तो दिया। यहाँ नेत्रों का सरल बाल रूप था, पर देखिये, यही भोलेभाले नेत्र अब उद्दण्ड बन रहे हैं:—'मन ते ए अति ढीठ

भये"—मन तो धृष्ठ था ही, नेत्र उससे भी धृष्ठ है और "लोचन गये निदरि के मांकों"—ये अब तो निरादर करके जाने लगे हैं। भला गोपी की बात ये क्यों सुनने लगे? श्याम के गुलाम जो बन गये हैं! नीचे की पंक्तियों में भावों की अनेक रूपता देखिए:—

"नैना क्यौं न मानें मेरौ।
"मो बरजत बरजत उठि धाये बहुरि कियो नहि फेरौ।"

× × ×

"इन नैननि मोहिं बहुत सतायौ
अबलौं कानि करी मैं सजनी बहुतै मूड़ चढायौ।
निदरे रहत गहे रिस मोसो मोहीं दोष लगायौ।।"
(नेत्र धृष्ठ बालक के रूप में)

"हरि छवि देखि नैन ललचाने।।" (लोभी नेत्र)
"श्याम रँग रँगे रँगीले नैन।। (नेत्रों का छैल रूप)
"नैन करैं सुख हम दुख पावैं।।" (स्वार्थी नेत्र)
"नैननि को अब नहीं पत्याऊँ।।" (विश्वासघाती नेत्र)
"नैना भये घर के चोर।।" (चोर रूप नेत्र)
"लोचन भये पखेरु माई।।" (पक्षी रूप नेत्र)
"लोचन भृङ्ग भयेरी मेरे।। (भृंग रूप नेत्र)
"मेरे नैना कुरंग भये।। (मृग रूप नेत्र)
"नैना लौन हरामी रे।।" (नमक हराम नेत्र)
"नैन मिले हरि को ढरि भारी।।
"जैसे नीर नीर मिलि एकै कौन सकै ताको निरुवारी।"
(जल समान प्रवहणशील नेत्र)
"सुभट भये डोलत ए नैन।।" (योद्धा के रूप में)

ऊपर के उद्धरणों से सिद्ध होता है कि नेत्रों के ये विविध रूप सूर की उद्भावना-प्रवण प्रतिभा के सम्मुख उपस्थित हुए हैं। पर ये उदाहरण तो दाल में नमक के भी बराबर नहीं हैं। इनके अतिरिक्त सूर नेत्रों को कहीं चकोर, कहीं भटके हुए राहगीर, कहीं बोहित के काक, कहीं सुहागिनी स्त्री आदि न जाने कितने रूपों में चित्रित करते हैं। इसी प्रकार मुरली को सपत्नी, कहीं सौभाग्यवती स्त्री, कहीं तपस्विनी आदि के रूप में सूर ने उपस्थित किया है। (इसी विविधरूपता के कारण सूरसागर के अध्येता को कहीं भी पढ़ने में अरुचि उत्पन्न नहीं होती। एक के पश्चात् द्वितीय पद पढ़ते जाइए—वैसा ही स्वाद, वैसी ही ताज़गी, वैसी ही रमणीयता यत्र-तत्र-सर्वत्र मिलती जायगी।)

चमत्कारपूर्ण कल्पना—सूर ने एक ही विषय पर इतना अधिक लिखा है कि साधारण समालोचक को उसमें पुनरुक्ति दोष का आभास होने लगता है। पर सूर की यही तो विशेषता है। सूरसागर में विषय की यही पुनरुक्ति उसका गुण बन गई है। पुनरुक्ति दोष में तब परिगणित की जाती है, जब उसमें पिष्ट-पेषण और बासीपन हो। सूर की नवनवोन्मेषशालिनी कल्पना के सम्मुख यह बासीपन कहाँ रह सकता था? उन्होंने एक ही बात को पूर्ण सफलता के साथ अनेक प्रकार से वर्णन किया है और विषय-सम्बद्धता के निर्वाह में नाना उक्तियों का समावेश किया है। सूर का विषय परिमित है, पर इस परिमित विषय पर भी सहस्रों पद बना लेना हँसी-खेल नहीं है। स्वर्गीय शुक्ल जी ने लिखा है:—"सूर में जितनी सहृदयता और भावुकता है उतनी ही विदग्धता भी।" इसी विदग्धता के कारण उनकी शैली में कथन की विशेषता आ गई है। किसी बात को कहने के न जाने कितने टेढ़े-सीधे ढङ्ग उन्हें मालूम थे। उन्होंने जो कुछ लिखा, उसे इतना स्पष्ट और इतना सर्वाङ्गपूर्ण बना दिया है कि पाठक के मन में उसके सम्बन्ध में और कुछ जानने की अभिलाषा ही शेष नहीं रहती। सामान्य से सामान्य बात को उन्होंने चमत्कारपूर्ण शैली में अभिव्यञ्जित किया है। 'भ्रमरगीत' जरा-सी बात है। श्रीमद्भागवत में भी उसका अधिक विस्तार नहीं है। उसमें सूर ने उद्धव के निर्गुण उपदेश का खण्डन किया है और सगुण उपासना की स्थापना की है—पर इस साधारण-सी बात पर भी कवि ने जिस विविध भावरूपता के दर्शन कराए हैं, वह हिंदी साहित्य के लिए एकदम अभिनव वस्तु है। इस प्रसंग में न जाने ऐसी कितनी मानसिक दशायें चित्रित की गई हैं, जिनका नामकरण तक साहित्य के आचार्य नहीं कर पाये। सूर ने जो कुछ लिखा है, अपूर्व चमत्कारपूर्ण कल्पना के साथ। कल्पना में भी माथापच्ची नहीं, कृत्रिमता नहीं, अपितु स्वाभाविकता है। काल्पनिकता और रसात्मकता, चमत्कारवादिता एवं सरसता—दोनों का मणि-कांचन योग सूर की रचनाओं में उपलब्ध होता है। कुछ उदाहरण लीजिए:—

उर में माखनचोर गड़े।
अब कैसेहु निकसत नाहि ऊधौ; तिरछे है जु अड़े॥

× × ×

देखियत कालिन्दी अति कारी।
कहियौ पथिक जाय उन हरि सों भई बिरह जुर जारी॥ ना० प्र० स० ३८०६

× × ×

देखियत चहुँदिशि ते घन घोरे।
मानहुँ मत्त मदन के हथियनु बलकरि बन्धन तोरे॥ ना प्र० स० ३९२१

इन कथनों से कल्पना के साथ हृदय लिपटा हुआ चला आता है। इसे कौन दिमाग का खरोंचना कहेगा? कृत्रिमता का लेश भी तो इन उक्तियों से दिखलाई नहीं देता। कितने स्वाभाविक पर चमत्कार-पूर्ण ढंग से सूर ने गोपियों के हृदय की अनन्यता प्रकट की है। इसी प्रकार पारिवारिक प्रसंगों और व्यावहारिक बातों में सूर की कल्पना खूब खिल उठी है। सूखे, नीरस, दार्शनिक विषयों तक को सूर ने अपनी कल्पना के बल से सरस और मनोरम बना दिया है।

हास्य-प्रियता और व्यंग्य—सूर की प्रवृत्ति कुछ-कुछ हास्य-प्रिय थी। "भ्रमरगीत" में उद्धव के प्रति कहे हुए गोपियों के वचनों में यह अनेक बार प्रकट हुई है। गोपियाँ कहती हैं:—

निरगुन कौन देश कौ बासी।
मधुकर हँसि समुझाइ, सौंह दै बूझति साँच न हाँसी॥
को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि-को दासी।
कैसो बरन भेस है कैसो, केहि रस मे अभिलाषी॥ ना० प्र० स० ४२४६

× × ×

ऊधौ, जोग कहा है कीजतु?
ओढ़ियत है कि डासियत है किधौं, किधौं खैयत है, किधौं पीजत?
की कछु भलौ खिलौना सुन्दर की कछु भूखन नीको।
हमरे नन्द नन्दन जो कहियत जीवन जीवन जी को॥ ना० प्र० स० ४५८४

× × ×

ऊधौ जाहु तुमहिं हम जाने।
साँच कहौ तुमको अपनी सौं बूझति बात निदाने।
सूर स्याम जब तुमहिं पठाये तब नैकहु मुसकाने! ना० प्र० स० ४१३६

हास्य-प्रियता के साथ इन पदों में सूर की व्यंग्य-प्रियता भी प्रकट हुई है। शुद्ध हास्य-प्रियता के उदाहरण कृष्ण की बाललीला के वर्णन में मिलेंगे। एक उदाहरण लीजिए:—

मैया मैं नहीं माखन खायो।
ख्याल परै ये सखा सबै मिलि मेरे मुँह लपटायो॥

× × ×

मुख दधि पोंछि कहत नन्दनन्दन दौना पीठि दुरायो॥ ना० प्र० स० ६५२

हास्य और व्यंग्य का चोली दामन का साथ है। व्यंग्य में हास्य का आ जाना ही उसमें रस-संचार का हेतु होता है। हास्य-शून्य व्यंग्य गाली होने के अतिरिक्त अन्य गुण नहीं रखता। गोपियों के उपर्युक्त वचनों में जहाँ व्यंग्य है— निर्गुण, ज्ञानगम्य और हृदय से दूर, मस्तिष्क से सम्बन्ध रखने वाले ब्रह्म को

अज्ञेय कह कर उसे प्रेम करने के अयोग्य सिद्ध किया गया है—वहाँ वर्णन को पढ़ कर हँसी भी आये विना नहीं रहती। ऐसा ही व्यंग्य श्रेष्ठ माना गया है।

शब्दों के साथ क्रीड़ा—सूर की यह हास्यप्रियता जहाँ व्यंग्यमयी भावनाओं में प्रकट हुई है, वहाँ उनकी विनोदी वृत्ति के दर्शन शब्दों के खिलवाड़ में भी हो जाते हैं। काव्य के अन्तः और बाह्य, हृदय और कला दोनों पक्षों में समान रूप से उनकी यह प्रवृत्ति अभिव्यञ्जित हो रही है। काव्य के कला पक्ष में सूर ने कहीं अक्षरों के साथ क्रीड़ा की है और कहीं शब्दों के साथ। कुछ उदाहरण लीजिए:—

(१) धनि धनि भाग, धनि धनि री सुहाग, धनि अनुराग,
धनि धन्य कन्हाई।
धनि धनि रैनि, धनि धनि दिन जैसो आज, धनि घरी धनि पल;
धनि धनि माई॥ (ना० प्र० स० २८३१)—पृष्ठ ३१६, पद ४

(२) रुद्रपति, छुद्रपति, लोकपति, वोकपति, धरनिपति, गगनपति
अगम बानी। (ना० प्र० स० २५६५)—पृष्ठ २६१, पद २२

(३) मुख पर चन्द्र डारों वारि।
कुटिल कच पर भौंर वारों भौंह पर धनु वारि। —पृष्ठ २८० पद १५
(ना० प्र० स० २४५५)

(४) सुन्दर स्याम, सुन्दर वर लीला सुन्दर बोलन वचन रसाल॥
सुन्दर चारु कपोल विराजत, सुन्दर उर जुवती वनमाल॥ ना०प्र०स०१०६१

× × ×

देखि सखी सुन्दर घनस्याम।
सुन्दर मुकुट, कुटिल कच सुन्दर, सुन्दर भाल तिलक छविधाम॥
सुन्दर भुजा पीत कटि सुन्दर, सुन्दर कनक मेखला झाम।
सुन्दर जानु जाँघ पद सुन्दर सूर उधारन नाम॥
(ना० प्र० स० २४४३)—पृष्ठ २७८, पद २

(५) गिरधर, व्रजधर, मुरलीधर, धरनीधर, पीताम्बरधर, मुकुटधर, उरगधर।
(ना० प्र० स० ११६०)—पृष्ठ १७६ पद ६४

(६) लटकत मुकुट मटक भौंहनि की चटकत चलत मंद मुसकात॥
ना० प्र० स० २८३६

(७) घहरात तररात गररात हहरात झहरात पररात माथ नाये।
ना० प्र० स० १४७१ —पृष्ठ २१५, पद ४४

(८) स्याम सुखरासि रसरासि भारी।
सील की रासि, जस राशि, आनन्द रासि आदि।
२४२१—पृष्ठ २७४, पद ४१

(९) नयो नेह, नयो गेह, नयो रस, नवल कुँवरि वृषभानु किसोरी ।

(ना० प्र० स० १३०३) पृष्ठ १६२, पद ७४

(१०) चटकीलौ पट लपटानौ कटि पर,

बंसीवट जमुना कैं तट राजत नागर नट ।

मुकुट की लटक, मटक भृकुटी की लोल,

कुंडल चटक आछी सुवरन की लुकट । (ना० प्र० स० २०१९)

(११) माधव तनक से बदन, तनक से चरनभुज,

तनक से करन पर तनक माखन ।

तनक कपोल, तनक सी दन्तुलियाँ, तनक अधर अरु तनक हँसन ।

(ना० प्र० स० ७६८)—पृष्ठ ११६, पद ३४

ऊपर उद्धृत पदों की पंक्तियों में परुषा, उपनागरिका और कोमला-वृत्तियों के भी उदाहरण आ गये हैं। टवर्ग, रकार और संयुक्ताक्षरों वाली पंक्तियाँ सं० ६, ७, और १० परुषावृत्ति की निदर्शक हैं। सं० ९ में कोमला और अन्यों में उपनागरिका वृत्ति है। ऐसे पदों मे शब्दों अथवा अक्षरों के साथ क्रीडा करने से शब्दालङ्कार भी अपने आप आ जाते हैं। अलङ्कारों पर हम आगे प्रकाश डालेंगे। साहित्यलहरी मे तो शब्दों के साथ खुल कर खेल खेला गया है, जो सूर की विनोदी वृत्ति का ही परिचायक है।

चित्रमयता—व्यंग्य के साथ सूर की चित्रमयता भी दर्शनीय है। उन्होंने जिस दृश्य का वर्णन किया है उसका चित्र-सा खड़ा कर दिया है। यह शक्ति जिस कवि के पास होती है, उसका रचना में भावों और विचारों की जीवन्त मूर्ति के दर्शन होने लगते हैं। सूरसागर मे ऐसे दृश्यचित्र तथा भावचित्र भरे पड़े हैं। कतिपय उदाहरण नीचे दिये जाते हैं:—

(१) नटवर भेप धरे ब्रज आवत ।

मोर मुकुट, मकराकृति कुण्डल, कुटिल अलक मुख पर छवि छावत ।

(ना० प्र० स० १९८६)

(२) देखी मैं लोचन चुअत अचेत ।

द्वार खड़ी इकटक मग जोवत ऊरध स्वांस न लेत ।। (ना०प्र०स०४७५९)

(३) ललिता मुख चितवत मुसकाने ।

आपु हँसी पियमुख वह अवलोकत दुहुन मनहिं मन जाने ।।

(ना० प्र० स० २७२७)

(४) वह चितवनि वह रथ की बैठनि जब अक्रूर की बाँह गही ।

चितवति रही ठगी सी ठाढ़ी, कहि न सकति कछु काम दही ।।

(ना० प्र० स० ३६२२)

(५) खेलत स्याम सखा लिये संग।
इक मारत इक रोकत गेंदहि इक भागत करि नाना रंग ॥
(ना० प्र० स० ११५१)

चित्रमयता कविता का प्राण है। सामान्य रूप से किसी उक्ति के कह देने से हृदय पर वह प्रभाव नहीं पड़ता, जो उसके चित्ररूप में उपस्थित कर देने से पड़ता है। कृष्ण आ रहे है—यह कथन विशिष्ट नहीं, मानव के सामान्य रूप का द्योतक है। पर जब हम यह पढ़ेंगे कि श्रीकृष्ण नटवर का वेष धारण किये आ रहे हैं, उनके शिर पर मोर के पंखों का मुकुट है, कानों में मकर की आकृति के कुण्डल हैं और मुख पर घुँघराले बालों की शोभा छा रही है तब श्रीकृष्ण का एक विशिष्ट व्यक्तित्व हमारे समक्ष उपस्थित हो जायगा। यह दृश्यचित्र है। दूसरे और तीसरे पदों में राधा तथा ललिता के भाव चित्र उपस्थित किये गये हैं। चौथे पद में दृश्य चित्र तथा भाव चित्र दोनों का एक साथ गुंफन है। पाँचवें पद में क्रीडा का चल चित्र है।

प्रसाद गुण—साहित्यलहरी तथा सूरसागर के दृष्टकूटों को छोड़कर सूर ने सर्वत्र सरल, सरस तथा प्रसादगुणपूर्ण पदावली द्वारा अपने भाव अभिव्यक्त किये हैं। दृष्टकूटों तथा अलंकार रूप में आई हुई पौराणिक कथाओं में अवश्य उनका पाण्डित्य प्रकट हुआ है, पर अन्यत्र उनकी रचना निरावरण भावों का ही आगार प्रतीत होती है। जहाँ अलंकार भी आये हैं, वहाँ वे अर्थ के स्पष्टीकरण में व्यवधान नहीं डालते, अपितु अर्थ-बोध में सौंदर्य उपस्थित करते है। सूर के पदों को समझने में कहीं भी दुरूहता का भाव नहीं होता। सूरसागर की बाल-लीला, माखनचोरी, दानलीला आदि के वर्णन में इतना घरेलूपन है कि वह अतीव सुगमता से मानसचक्षुओं के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। प्रसाद गुण के साथ माधुर्य गुण भी उनकी रचना की विशेषता है। नीचे लिखे उदाहरणों में काव्य के ये दोनों गुण विद्यमान हैं:—

नवल निकुञ्ज नवल नवला मिलि नवल निकेतनि रुचिर बनाये।
बिलसत विपिन बिलास विविधवर वारिजवदन विकच सचुपाये ॥
ना० प्र० स० २६०५

*

रघुपति प्रबल पिनाक विभंजन। जगहित जनकसुता मन रञ्जन ॥
गोकुलपति, गिरिधर, गुनसागर। गोपीरमन रासरति नागर ॥
ना० प्र० स० १५६६

प्रसाद और माधुर्य के साथ ओजगुण देखना हो तो नीचे लिखी पंक्तियाँ पढ़िये:—

गुप्त गोपकन्या व्रत पूरन । दुष्टन दुख, भक्तन दुख चूरन ।
रावन-कुम्भकरन-सिर छेदन । तरुवर सात एक सर वेधन ॥
संख चूड-चानूर संहारन । सक्र कहै मोहि रच्छा-कारन ॥

ना० प्र० स० १५६६—पृष्ठ २१६

व्रजभाषा—सूर ने सर्वप्रथम व्रजभाषा को साहित्यिक रूप दिया है। उनके पूर्व हिन्दी के प्राचीन साहित्य में या तो अपभ्रंश-मिश्रित डिंगल पाई जाती थी या साधुओं की पंचमेली खिचड़ी भाषा। चलती हुई व्रजभाषा में सर्व-प्रथम और सर्वोच्च रचना सूर की ही उपलब्ध होती है। कोमल पदावली के साथ सूर की व्रजभाषा सानुप्रास, स्वाभाविक, प्रवाहमयी, सजीव और भावों के अनुरूप बन पड़ी है। दृष्टकूटों की क्लिष्टार्थमयी भाषा को सूर की भाषा का मापदण्ड नहीं कहा जा सकता। उनकी भाषा स्वभावतः आडम्बरविहीन, व्यावहारिक और अन्तस्तल का चित्रण करने वाली है।

व्रज की चलती बोली में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग करके सूर ने व्रजभाषा को उत्तराखण्ड की ही नहीं, समस्त भारतवर्ष की भाषा बना दिया। वैष्णव धर्म की संदेशवाहिनी बन कर वह एक ओर तो बंग, गुजरात एवं महा-राष्ट्र में समादृत हुई और दूसरी ओर अपनी कोमलता के कारण वह अवध, बिहार, पंजाब तथा दक्षिणापथ के कवियों का कंठहार बनी। इस देश में लगभग चार सौ वर्षों तक उसने कवियों की जिह्वा पर शासन किया है। उसमें पद्य तथा गद्य दोनों ही प्रभूत मात्रा में लिखे गये हैं। पुष्टि सम्प्रदाय की अनेक वार्ता में व्रज भाषा गद्य में लिखी मिलती है। कुछ प्रबन्ध, टीका, विवृति एवं भाष्य भी गद्य में लिखे गये हैं।

संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग सूर ने प्रचुरता से किया है कुछ उदाहरण लीजिये:—

गिरिधर, व्रजधर, माधव मुरलीधर धरनीधर पीताम्बरधर।
संख चक्रधर, गदा पद्मधर, सीस मुकुटधर, अधर सुधाधर।
कंबु कंठधर, कौस्तुभमनिधर बनमालाधर, मुक्तमालधर।
सूरदास प्रभु गोप बेषधर, कालीफन पर चरन कमलधर॥

ना० प्र० स० ११६०

नलिनि पराग मेघ माधुरि सों मुकुलित अम्ब कदम्ब।
मुनि मन मधुप सदा रस लोभित सेवत अजशिव अम्ब॥

—सारावली १००१

सुख पर्यंङ्क अंक ध्रुव देखियत कुसुम कन्द द्रुम छाये।
मधुर मल्लिका कुसुमित कुंजन दम्पति लगत सुहाये ॥ १००३ ॥

ऊपर उद्धृत पंक्तियों में दीन, सुरराज, अभ्र, कपालु, पराग, मेघ, कुसुलित, मधुप, पर्यंक, मधुर, कुसुम, गिरि, व्रज, पीताम्बर, कौस्तुभ, कदम्ब, कम्बु, आदि शुद्ध संस्कृत के तत्सम शब्द हैं। इन्हीं के साथ चरणन, तर, सोभित, समर (स्मर) आदि तद्भव शब्दों का भी सूर की रचना में पर्याप्त प्रयोग हुआ है। ठेठ व्रजभाषा के शब्दों को भी सूर ने अपनी रचना में स्थान दिया है और वह स्वाभाविक भी है। व्रजभाषा के यदि अपने शब्दों का ही प्रयोग न किया गया तो उसका अपना अस्तित्व ही क्या रहा ? सूरसागर के नीचे लिखे शब्द विशेष रूप से व्रज में ही व्यवहृत होते हैं;—

दुर = पुरुषों के कान का आभूषण, लरिक सलोरी—लड़कपन, बरै—जल जावे, छाक—कलेऊ, मट्ठा आदि के साथ अल्प भोजन, भौंड़ा—छोटा लड़का, भौंरा चक्र डोरी—बच्चों के खिलौने, लरिकिनी—लड़की, फरिया—छोटी लड़कियों का कमर से नीचे पहनने का वस्त्र, झारी = लोटा, अचगरी—नटखटपन, बोदे= गीले, भागे हुए, नाऊँ—नाम, जाख—पूजा। डहडहौ—गहरा झकाझक, गिंडुरी —शिर पर घड़े आदि के नीचे रखने की मूँज आदि की बनी गोल वस्तु, ब्वैंड़े —ग्राम के पास, पैंडे—मार्ग, खोही—किसी वस्त्र या नरई का बना हुआ शिर ढकने का साधन, खोहिया, जिसे वर्षा में कृषक या मजदूर लगा लेते हैं, खुबटै —खुरटना, अकारण छेड़ना, अवसेर—देर, सरवा—मिट्टी का पात्र, ऐसौं = इस वर्ष, कनियाँ = गोद, बच्चे को कन्धे पर बिठाना, तनक = छोटा, थोड़ा; पैंडे पर्‌यौं = पीछे पड़ना, भौतेरे = अनेक, बाखरि = घर, ढौरी = चस्का, आरोगना = भोजन करना, करोवति = खरोचना, अमात = समाजाना इत्यादि।

किसी भाषा को व्यापक भाषा बनाने के लिए आवश्यक होता है कि उसमें अन्य सहयोगिनी भाषाओं के शब्दों का भी प्रयोग किया जावे। सूरसागर में नीचे लिखे शब्द अन्य भाषाओं के हैं:—

फारसी—खसम, जवाब, सजैया (सजा का अपभ्रंश) बकसौ (बख्शना) मवास, मसक्कत, खवास, जहाज, सरताज, दामनगीर, मुहकम, बाज, नफा, ख्याल, नाहक, खर्च, महल इत्यादि।

अवधी—खोइस, सोइस, होइस, इहवाँ, मोर, तोर, हमार, कीन, जिनि, केरो (केरा = सम्बन्ध सूचक विभक्ति) आदि अवधी भाषा के शब्दों का प्रयोग सूर ने किया है।

पंजाबी के—प्यारी (मूल्यवान) गुजराती के वियों, बुन्देलखण्डी के गहिवी, सहिवी, प्राकृत के सायर आदि शब्दों का भी सूरसागर में प्रयोग पाया जाता है। फारसी आदि के शब्दों को सूर ने उनके तत्सम रूप में नहीं, तद्भवरूप में प्रयुक्त किया है, जिससे भाषा में अस्वाभाविकता नहीं आने पाई। एक-दो इधर-उधर के शब्दों को छोड़ कर सूर ने सर्वत्र प्रचलित शब्दों को ही प्रचुरता से अपनाया है। कहीं कहीं तुकान्त के लिये अथवा छन्द की गति को नियमानुकूल रखने की आवश्यकता से प्रेरित होकर उन्होंने शब्दों को तोड़-मरोड़ भी दिया है; जैसे पंगु को पंग, नवनीत को लवनी, केतु को केत, गा को गइया, वर्ष को बरीस, राजसूय को राजसू, गमन को गैन, देवकी को देवै, द्राक् (शीघ्र) को द्राकै इत्यादि। पर ऐसा तुलसी आदि सभी कवियों ने किया है। आचार्यों ने 'अपि माषं मषं कुर्यात् छन्दोभङ्गं न कारयेत्' कह कर शब्दों को विकृत कर देना कवियों के अधिकार के अन्तर्गत माना है। इससे भाषा की व्यावहारिकता एवं शुद्धता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

प्रवाहमयी भाषा—सूर की भाषा प्रवाहमयी है। सूर को शब्दों के प्रयोग सोचने नहीं पड़ते। वे अपने आप आते हैं और परिणामतः वर्णन में वेग और प्रवाह भर देते हैं। नीचे के पद को देखिये। उसमें भाव कितने प्राञ्जल रूप में प्रकट हुआ है—भाषा कैसी द्रुत गति के साथ, बिना किसी अवरोध के आगे बढ़ती जाती है:—

भहरात झहरात दावानल आयौ।
घेरि चहुँ ओर; करि सोर अंदोर बन, धरनि आकास चहुँ पास छायौ॥
बरत बन बाँस, थरहरत कुस कांस, जरि उड़त है भाँग अति प्रबल धायौ।
झपटि झपटत लपट, फूल फल चट चटकि फटत, लट लटकि द्रुम-द्रुम नवायौ॥
अति अगिनि झार, भंभार धुंधार करि, उचटि अंगार झंझार छायौ।
बरत बन पात, भहरात, झहरात, अररात तरु महा, धरनी गिरायौ॥
(१२१४ ना० प्र० स०)

एक पद और देखिये। उसमें अनुभाव और संचारी भावों के साथ सुरति-अन्त की अवस्था का कैसा भावचित्र एवं रूपचित्र अङ्कित हुआ है। भाषा का प्रवाह भी देखने योग्य है:—

नवलकिसोर किसोरी बाँहाँ जोरी आवत है रति रंग अनुरागे।
कहहुँ चरन गति डगति लगत छवि नैन बैन अलसात जम्हात,
ऐंडात गति आनन्द निसा सुख जागे।

तानक देखत रीझि रही हो चन्दन बन्दन माल बिना गुन,
अञ्जन पीक पलट लागे ॥
सूरदास प्रभु प्यारी राजत आबत आजत बने है मरगजे बागे ॥ पृष्ठ ३१५
(ना० प्र० स० २७६७)

सजीव भाषा—किसी भाषा को सजीव बनाने के लिये उसमे ध्वन्यात्मक शब्दों, मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग अत्यन्त आवश्यक होता है। सूरसागर में ये विशेषतायें भी पर्याप्त मात्रा मे मिलती है। इनके प्रयोग से कथानक एवं विचार सप्राण हो गये है। निम्नांकित उदाहरण इस तथ्य की सत्यता सिद्ध करेंगे:—

मुहावरो का प्रयोग:—

हम तन मन दै हाथ बिकानी। (ना० प्र० स० २७११)
करैं उन्हें घर घर के री। (ना० प्र० स० २८६२)
अपनौ पेट दियौ तैं उनको। (ना० प्र० स० २७०८)
कौरैं लागौ होइगौ कित हूँ। (ना० प्र० स० २७१३)
कहन लगी अब वढ़ि बढ़ि बात।
मों आगे को छोहरा जीत्यौ चाहै मोय।
अब तौ सूर भजी नन्दलालहि की लघुता की होहु बड़ाई।
छठि आठैं मोहि कान्ह कुँवर सों।
'पाँच की सात लगायौ झूंठो।' 'दाई आगे पेट दुरावति।' (ना०प्र०स० २३४१)
'बिना भीति तुम चित्र लिखत हौ।' 'की गुरु कहौ कि मौनैं छाँड़ौ।'
स्याम तन देखिरी आयुतन देखिये। भीति जौ होइ तौ चित्र अवरेखिये,
(ना० प्र० स० ६२५)
लादि खेप गुन ज्ञान जोग की व्रज में आइ उतारी।
तुम चाहति हौ गगन तरैंया, मॉगे कैसे पावहु। (ना० प्र० सा० १३६१)
वहुतै मूँड़ चढ़ायौ। (ना० प्र० स० २८६४)
फटके मोसों तोरि। (ना० प्र० स० २२६५)
सूर इतर ऊमर के वरसैं थोरेहि जल इतरानी ॥ (ना० प्र० स० २२१०)
कापै नैन चढ़ाये डोलति, व्रज में तिनुका तोर ॥ (ना० प्र० स० ६२८)
मथुरा हू तैं गए सखीरी अब हरि कारे कोसनि ॥ (ना० प्र० स० ४८७६)
'जीवन मुँह चाही कौ नीको।' 'खेलन अब मेरी जात बलैया।'
तुम चाहति हौ गगन तरैया मॉगे कैसे पावौ।
चोरी रही छिनारौ अब भयौ जान्यौं ज्ञान तुम्हारौ।

कत पट पर गोता मारत हौ निरे भूड के खेत।
जैसे उड़ि जहाज कौ पंछी फिरि जहाज पै आवै।
यह अचरज देख्यौ नाहिं कबहू युवतिहि युवति दुरावै।
तुमहिं दोष नहिं लाड़िले ओछौ गुण क्यों जाइ।
ताकौ केस खसै नहिं सिर तें जो जग वैर परे।

सूर की रचनाओं में ऐसे मुहावरों का प्रयोग भाषा की सजीवता का द्योतक है। ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग के कारण नीचे लिखी पंक्तियाँ भी अपने आप बोल रही हैं:—

एक ही संग हम तुम सदा रहति हैं आजु ही चटकि तू भई न्यारी।
भेद हम सों कियो और कोऊ वियो, कहा धों कहें कहा देंहि गारी।
अट पटाइ कलबल करि बोलत।
अल्प दसन कलबल करि बोलनि।
गगन मेघ घहरात, थहरात गात।
चपला चमचमाति चमकि नभ महरात, राखिलै क्यों न व्रजनन्द तात
तरपत नभ, डरपत, व्रज लोग।
घहरात, तरतरात, गररात, हहरात, भहरात, पररात माथ नाये।

इन पंक्तियों में ध्वन्यात्मक शब्दों ने भाषा को सजीव कर दिया है। निम्नलिखित पंक्ति भी दर्शनीय है, जिसमें सूर ने शब्दों में तो जान डाल ही दी है, साथ ही उन शब्दों से एक सम्पूर्ण रूप-चित्र भी उपस्थित हो जाता है:—

'लटकत मुकुट, मटक भौंहनि की, चटकत चलत, मन्द मुसकात।'

सजीव भाषा के साथ ऐसे रूप-चित्र सूरसागर में भरे पड़े हैं।

अलंकार—अलंकार कविता के शोभाकर धर्म हैं। जैसे कुरूप स्त्री भी सुन्दर वस्त्राभूषण धारण करके आकर्षक बन जाती है, उसी प्रकार हीन कोटि की कविता भी अलंकारों की जगमगाहट में चमत्कार उत्पन्न कर देती है। पर जैसे निसर्ग-सुन्दरी रमणी को आभूषणों की अपेक्षा नहीं होती, वैसे ही स्वभाव-भव्या भगवती भारती भी अलंकारों के विना ही अपनी आभा में आप आलोकित होती है। अलंकार सज्जा एवं वेश-विन्यास के अन्दर अपना अनुपम स्थान रखते हैं, पर वे अपने स्थान पर ही होने चाहिए। औचित्य की सीमा का उल्लंघन विकृति उत्पन्न करता है। अलंकारों का कविता में स्थान उसके किसी अंग को उद्दीप्त तथा पूर्ण करने में है। कविता गत वस्तु-वर्णन यदि स्वाभाविक रूप में पूर्णता प्राप्त कर ले, तो वह अकेला ही भावुक हृदय के आकर्षण के लिए पर्याप्त है, पर यदि उसमें कुछ न्यूनता हो, तो अलंकारों का समावेश करना आवश्यक हो जाता है। ये

अलंकार भी, जैसा लिखा जा चुका है, किसी अवयव की पूर्ति एवं उद्दीप्ति के लिए ही आने चाहिये।

सूरसागर की कथा वस्तु मद्दम है। अतः उसे विस्तार देने के लिए अलंकारों का प्रयोग अनिवार्य रूप से सहायक सिद्ध हुआ है। ये अलंकार भी केशव की भाँति पांडित्यप्रदर्शन के लिए नहीं, अपितु किसी भाव, गुण, रूप या क्रिया का उत्कर्ष प्रकट करने लिए प्रयुक्त हुए हैं। सूर की रचनाओं में अलंकारों का प्रयोग केवल अलंकारों के लिए ही नहीं हुआ है अपितु वह सहृदयता-पूर्वक आवश्यकता से प्रेरित होकर किया गया है। इन अलंकारों ने सूरकाव्य की शोभा बढ़ाई है। पर सूर अलंकारों के घटाटोप में नहीं पड़े। जायसी की भाँति उनकी रचना में दो-दो, तीन-तीन अलंकार अस्पष्ट रूप में एक दूसरे पर लदे नहीं पड़े हैं। सूर के अलंकार अत्यन्त स्पष्ट और गिने गिनाये हैं। उन्होंने रूपक, उपमा, रूपकातिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के ही प्रति अपना विशेष प्रेम प्रकट किया है। अन्य अलंकार भी सूर की रचना में प्रयुक्त हुए हैं, पर प्रधानता इन्हीं अलंकारों की है।

कोमलकान्त पदावली के साथ अनुप्रास की पूर्ति स्वयमेव हो जाती है। सूर को अनुप्रास लाने का प्रयत्न नहीं करना पड़ता। जहाँ हमने सूर की भाषा को अनुप्रास कहा है, वहाँ उससे हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि सूर ने जान-बूझ कर सानुप्रास अलंकारों का प्रयोग किया है। वह तो वर्णन के अन्तर्गत भाव की उमङ्ग के साथ अपने आप आ गया है। परवर्ती कवि जिस प्रकार अनुप्रास के आकर्षणपाश में बुरी तरह जकड़ गये और अपनी रचना को शब्दाडम्बर से आच्छादित कर भावों की निर्जीव मूर्ति खड़ी करते रहे, उस प्रकार सूर जैसा भावना-जगत का कुशल चित्रकार कैसे कर सकता था? उसकी रचना सर्वत्र स्वाभाविक, सजीव और रसमयी है। अलंकारों ने उसके वेशविन्यास एवं भाव-लालित्य को वर्धमान किया है। सूर की रचना में से हम अलंकारों के कतिपय उदाहरण नीचे देते हैं:—

शब्दालंकार—

छेकानुप्रास—चपला अति चमचमात, ब्रजजन सब अति डरात।
—(ना० प्र० स० १४७५)

गिरि जनि परै, टरै नख तैं जनि॥ —(ना० प्र० स० १४६२)

× × × ×

वृत्ति अनुप्रास×—सुनत करुणा बैन, उठे हरि बल ऐन,

नैनकी सैन गिरि तन निहार्‌यो। —(ना प्र० सा १४८८)

× × ×

गोपी गाइ ग्वाल गोसुत सब दुख बिसर्‌यौ, सुख करत समाज।

—(ना० प्र० स० १४६०)

× × ×

कर कंकन कंचन थार मंगल साज लिए। —(ना० प्र० स० ६४२)

× × ×

विलसत विपिन विलास विविध वर वारिज वदन विकच सचुपाये।

—(ना० प्र० स० २६०५)

ऊपर उद्धृत पंक्तियों में प्रयुक्त शब्दावली मे एक स्वाभाविक प्रवाह है, जो सिद्ध करता है कि कवि को उसके पीछे दौड़ने का प्रयत्न नहीं करना पड़ा है। शब्दावली स्वयं कवि के शासन मे भाव के साथ चिपटी चली आई है।

श्रुति अनुप्रास—ऐसे हम देख नँदनन्दन।

स्याम सुभग तनु पीत बसन जनु मनहु जलद पर तडित सुछन्दन।

(ना० प्र० स०—२३६८)

इस पद में दन्त स्थानीय अक्षरों की अधिकता के कारण श्रवण-सुखदता उत्पन्न हो गई है। इसी हेतु श्रुति अनुप्रास है।

लाटानुप्रास—* कमल नयन के कमल वदन पर वारिज वारिज वारि।

(ना० प्र० स० २४३४)

यमक—ऊधो जोग जोग हम नाही।

(ना० प्र० स० ४५४२)

सारंग विनय करति सारंग सौं सारंग दुख बिसरावहु।

(ना०प्र०स० २७१५)

साहित्यलहरी में जहाँ यमक अलंकार अथवा श्लेष अलंकार के प्रयोग आएं हैं वहाँ वे अवश्य स्वाभाविक नहीं जान पड़ते। पर साहित्यलहरी लिखी भी तो एक विशेष शैली में गई है, अतः उसे हम सूर की सामान्य शैली में परिगणित नही कर सकते।

श्लेष—दुहूँ कूल तरुनी मिली तरत न लागी बार।

---

*ब्रजभाषाचार्य, काव्यधुरीण श्री पं० ब्रजेश जी महापात्र की सम्मति मे कमलनयन मे वाचकधर्म लुप्तोपमा और कमलवदन में रूपक अलंकार मानना चाहिए।

(तरुनी = स्त्री. तरणि—नाव)
विनुधर वह उपराग गह्यौ ।
(विनुधर = काम और राहु)
हेमजूही है न जा संग रहे दिन पश्चात् ।
कुमुदिनी संग जाहु करके केसरी कौ गात ।। (साहित्यलहरी ७१)

हेमजूही—सोनजुही फूल का नाम । खण्ड श्लेष से सो—वह; न—नहीं जू—जो; ही—हृदय में; अर्थात् मैं वह नहीं हूं जिसको तुम हृदय में रखते हो । केशरी—केशर और सिंह । कुमुदनी—फूल और बुरा नशा ।

पुनरुक्ति प्रकाश—*नयौ पीताम्बर नई चूनरी नई नई बूंदनि भीजति गोरी
(१३०३ ना० प्र० स०)
सील की रासि जग राखि आनन्द रासि । (२४२१ ना०प्र०स०)
नयौ नेह नयौ गेह नयौ रस नवल कुंवरि वृषभानु किशोरी ।
(१३०३ ना० प्र० स०)

वक्रोक्ति—ऐसी वस्तु अनूपम मधुकर मरम न जानै और ।
(काकु अर्थात् ध्वनि से अर्थ हुआ कि यह अतीव साधारण वस्तु है ।)
हम मूरख तुम चतुर हौ ? कछु लाज न आवै ।
(२५७१ ना० प्र० स०)
साँच कहौ तुमको अपनी सौं बूझति बात निदाने ।
सूर स्याम जब तुमहि पठायौ तब नेकहु मुसकाने ।।
(४१३६ ना० प्र० स०)

(यहाँ व्यंग्य है, पर उक्ति की वक्रता के कारण अर्थ है कि कृष्ण ने उद्धव को मूर्ख समझकर बनाया है ।)

अर्थालङ्कार—

उपमा—हरि-दरसन की साध मुई ।
उड़ियै उड़ी फिरति नैननि सँग फर फूटे ज्यों आक रुई ।।
(ना० प्र० स० २४७३)
निरखति रहौं फणिक की मणि ज्यों सुन्दर स्याम विनोद तिहारे।।
(ना० प्र० स० ६१४)

---

* यमक में या तो पदावली निरर्थक होती है, अथवा प्रयुक्त शब्दों के अर्थ अन्वय या स्वतः अभिधा के कारण भिन्न-भिन्न होते हैं, जैसे कमलनयन और कमलवदन में अन्वय के कारण दोनों स्थानों पर कमल शब्द की पृथक्-पृथक् विशेषतायें हैं । पुनरुक्ति प्रकाश में शब्दों के अर्थ वही रहते हैं, केवल उनके प्रयोग से प्रबन्ध में रमणीयता आ जाती है ।

लोचन टेक परे सिसु जैसे ॥ (ना० प्र० स० २६७७)

श्रवन कुण्डल गण्ड मण्डल उदित ज्यों रवि भोर ॥ (ना० प्र० स० १६६६)

लुप्तोपमा—चन्द्रकोटि प्रकास मुख अवतंस कोटिक भान ॥

भृकुटि कोटि कोदण्ड रुचि अवलोकनी संधान ॥

(ना० प्र० स० ४१७६)

करोड़ों चन्द्रमाओं (के समान) प्रकाशमान मुखमण्डल । धनुष कोटि या करोणों धनुओं (के समान) भृकुटि की शोभा । यहाँ वाचक लुप्त है ।

वाचक धर्म उपमेय लुप्तोपमा—

मत्तगयन्द हंस तुम सोहैं कहा दुरावति हमसों ।

केहरि कनक कलस अमृत के कैसे दुरैं दुरावति ॥

विद्रुम हेम ब्रज के किनुका नाहिन हमें सुनावति ॥—(ना० प्र० स० २१६७)

यदि यहाँ गयन्द, हंस, कनक-कलश आदि को लेकर स्त्री के शरीर का वन आदि से कोई रूपक बाँधा गया होता तो रूपकातिशयोक्ति अलंकार हो जाता, परन्तु ऐसा नहीं किया गया । अतः केवल पृथक्-पृथक् उपमान आने से यहाँ वाचक-धर्म-उपमेय-लुप्तोपमा अलंकार ही मानना पड़ेगा ।

ललितोपमा—देखियत दोऊ घन उनये ।

उत घन वासव भक्ति वश्य इत नर इकरोप भये ॥

उत सुर चाप, कला प्रचण्ड इत, तडित पीत पट स्याम नये ।

उत सेनापति वरसि मुसल सम इत प्रभु अमिय दृष्टि चितये ॥

(ना० प्र० स०१६०१)

कृष्ण और मेघ दोनों की समता इस प्रकार की गई है जैसे दोनों मे बराबरी की होड़ सी पड़ी हो । इसी कारण उपमा मे लालित्य आ गया है ।

उपमेयोपमा—एक जीव देही द्वै राची यह कहि कहि जु सुनावैं ।

उनकी पटतर तुमकों दीजै, तुम पटतर वे पावैं ॥

(ना० प्र० स० २६८४)

अनन्वयोपमा—तुम सी तुम ही राधा, स्यामहि मन भाइ ॥

(ना० प्र० सं० १६६४)

मालोपमा—स्याम भये राधा वस ऐसे ।

चातक स्वाति, चकोर चन्द्र ज्यों, चक्रवाक रवि जैसे ॥

(ना० प्र० स०२७५६)

ज्यों चकोर वस सरद चन्द्र के चक्रवाक वस-भानु ।

जैसे मधुकर कमलकोस वस त्यों वस स्याम सुजान ॥

ज्यों चातक बस स्वाति बूंद है, तनके बस ज्यों जीय।
सूरदास प्रभु अति बस तेरे समझि देखि धौं हीय॥
(२६८७ ना० प्र० स०)

सांगरूपक—तट बारु उपचार चूर, जल परी प्रसेद पनारी
बिगलित कच कुस कांस पुलिन पर पंकजु काजल सारी॥
(३८०६ ना० प्र० स०)

* * * *

स्याम घटा गज, असनि बाजि-रथ चित बग पांति संजोयल॥
दामिनि कर करवार, बूंद सर, इहिबिधि साजे सैन।
निधरक भयौ चल्यौ ब्रज आवत अग्र फौजपति मैन॥
(३६२२ ना० प्र० स०)

ऊधो करि रहीं हम जोग।
मीन सेली केस, मुद्रा-कनक बीरी वीर।
विरह भस्म चढ़ाइ बैठी सहज कंथा चीर॥
हृदय सींगी, टेर मुरली, नैन खप्पर हाथ।
चाहते हरि दरस भिक्षा देहि दीनानाथ॥ (४३१२ना० प्र० स०)

निरंग रूपक—मान धर्‌यौ नागरि जिय गाढ़ौ सूख्यौ कमल हियौ।
(२०४१ ना० प्र० स०)

परंपरित रूपक—चित्त चातक प्रेम घन, लोचन चकोरनि चंद॥
(१२४५ ना० प्र० स०)

पूरन मुख चंद देखि नैन कोइ फूली, (१२६० ना० प्र० स०)

रूपकातिशयोक्ति*—अद्‌भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गज वर क्रीडत तापर सिंह करत अनुराग।
हरि पर सरवर, सर पर गिरि वर गिरि पर फूले कन्ज पराग।
(२७२८ ना० प्र० स०)

---

*संस्कृत का नीचे लिखा श्लोक रूपकातिशयोक्ति के द्वारा स्त्री के शरीर को बावड़ी के रूप में चित्रित करता है:—

वापी कापि स्फुरति गगने तत्परं सूक्ष्मपद्या।
सोपानालीमधि गतवती काञ्चनी मैन्द्रनीली।
अग्रे शैलौ सुकृति सुलभौ चन्दनच्छन्न देशौ।
तत्रत्यानां सुलभममृतं सन्निधानात् सुधांशोः।

इसमें राधा के शरीर का बाग से रूपक बाँधा गया है और उपमानों द्वारा उपमेय रूप अंगों को प्रकट किया गया है।

प्रतीप—तुम हौ बाम अंग दच्छिण वै ऐसे करि एक देह।
सूर मीन, मधुकर, चकोर कौ इतनो नहीं सनेह॥
(२६८८ ना० प्र० स०)

× × ×

राधे तेरौ वदन विराजत नीकौ।
जब तू इत उत बंक विलोकति होत निसापति फीकौ॥
(२३२० ना० प्र० स०)

× × ×

देखि सखी अधरन की लाली।
मनि मरकत ते सुभग कलेवर ऐसे हैं बनमाली॥
(२४५० ना० प्र० स०)

× × ×

उपमा हरि तन देखि लजाने। (२३७५ ना० प्र० स०)

प्रतीप पंचम—चपल नयन दीरघ अनियारे हाव-भाव नाना गति भंग
वारौं मीन कोटि अम्बुज गन खंजन वारत कोटि कुरंग॥
(२७५४ ना० प्र० स०)

सूरदास सिव नारद सारद कहत न कह्यौ परयौ॥
(१७५६ ना० प्र० स०)

भेदकातिशयोक्ति—औरै भाव, और कछु सोभा,
कहौ सखी कैसे उर आनौं ? (२४६६ ना०प्र०स०)

वस्तूत्प्रेक्षा—अरुन स्वेत सित झलक पलक प्रति को वरनै उपमाइ
मनौं सरस्वति गंग जमुन मिलि आश्रम कीनौं आइ॥
(२४३१ ना० प्र० स०)

अरुन अधर सखि मुख मृदु बोलत ईषत कछु मुसकात
मनहुँ सुपक्व बिम्ब ते सजनी रस अनुराग चुचात॥
(१८२२ ना० प्र० स०)

हेतूत्प्रेक्षा—उपमा हरि तन देखि लजाने।
कोउ जल मे कोउ बन मे रहे दुरि कोऊ गगन समाने॥
(२३७५ ना० प्र स०)

फलोत्प्रेक्षा—नासा कीर आइ मनों बैठो लेत बनत नहि ताक्यौं।
(२४५० ना० प्र० स०)

अधर अरुन अनूप नासा निरखि जन सुखदाइ।
मनों सुक फल बिंब कारन लैन बैठ्यो आइ। (८५२ ना० प्र० स०)

व्यतिरेक—देखि री हरि के चञ्चल नैन।
राजिवदल, इन्दीवर, सतदल, कमल, कुसेसय जाति।
निसि मुद्रित, प्रातहि ऐ बिगसत, ऐ बिगसत दिन-राति॥
(२४३१ ना० प्र० स०)

सन्देह—कीधौं तरुन तमाल बेलि चढ़ि जुग फल बिम्ब सु पाक्यौं॥
(२४५० ना० प्र० स०)

सखि यह बिरह संजोग कि सम रस, दुख सुख लाभ कि हानि?
(२४७० ना० प्र० स०)

किधौं बज्रकन लाल नगनि खचि तापर बिद्रुम पांति।
किधौं सुभग बन्धूक कुसुम पर झलकत जल कन कांति॥
(२४५० ना० प्र० स०)

कंवर कै धर-मेरु सखी री।
की सुक सीपिज, की बग पंगति, की मयूर, की पीइ पखीरी।
की सुरचाप, किधौं बनमाला, तड़ित किधौं पट पीत।
किधौं मन्द गरजनि जलधर की पग नूपुर रवनीत॥
की जलधर, की स्याम सुभग तन इहै भोर ते सोचति।
सूर स्याम रसभरी राधिका उमंगि उमंगि रस मोचति॥
(२६७५ ना० प्र० स०)

शुद्धापन्हुति—×भाल तिलक उडुपति न होइ इह,
कबरि ग्रथिन अहिपति न सहसफन।

×जटा नेयं वेणी कृत कच कलापो न गरलम्।
गले कस्तूरीयं शिरसि शशिलेखा न कुसुमम्।
इयं भूतिर्नाङ्गे प्रियविरह जन्मा धवलिमा।
पुरारातिभ्रान्त्या कुसुमशर किं मां व्यथयसि॥

विद्यापति ने भी इसी भाव से संबन्धित एक पद लिखा है :—
कतन बेदन मोहि देसि मदना
हर नहि बल मोहि जुवति जना।
विभुति भूषन नहि चाननक रेनू।
बघछाल नहि मोरा नेतक बसनू॥ आदि

नहिं विभूति दधि सुत न कण्ठ जड़ ।
इह मृग मद चन्दन चरचित तन ॥ (२७३५ ना० प्र० स०)

* * *

चातक न होइ कोउ विरहिनि नारि ॥ (३६५३ ना० प्र० स०)

भ्रान्त्यापन्हुति—राधिका हृदय ते दोख टारौ ।

नन्द के लाल देखे प्रातःकाल तें,
मेघ नहिं स्याम तनु छवि विचारौ ।
इन्द्र धनु नहीं, वन-दाम बहु सुमन के,
बग पंक्ति नहि वर मोति माला ।
सिखी वह नहीं, सिर मुकुट सीखंड पच्छ,
तडित नहि पीत पट छवि रसाला ॥

(२६७६ ना० प्र० स०)

समुच्चय—घहरात, तररात, गररात, झहरात परसत माथ नाए ।

दृष्टान्त—नीलाम्बर स्यामल तनु की छवि तुम छवि पीत सुवास ।
घन भीतर दामिनी प्रकासत दामिनि घन चहुँ पास ॥

(२६८५ ना० प्र० स०)

यहाँ उपमेय और उपमान रूप दो वाक्यों में विम्व प्रतिविम्व भाव है ।

उदात्त—शिव विरंचि जाको पार न पावत सो तेरे चरननि परसै री ।

(३२०७ ना प्र० स०)

तीन लोक जाके उदर-भवन सो सूप के कोंन परयौ है री ॥

(७४६ ना प्र० स०)

उदाहरण—मेरो मन पिय जीव बसत है पिय जिय मो मैं नाहिं ।
ज्यों चकोर चंदा कौ निरखत इतउत दृष्टि न जाइ ॥

(२७२२ ना० प्र० स०)

सूरदास प्रभु यों प्यारी बस ज्यों बस डोर फिरत संग चंग ।
जिनके चरन कमल मुनि वंदत, सो तेरौ ध्यानु धरै धरनीधरु ।

(३४३५ ना० प्र० स०)

जे नखचन्द सनक मुनि ध्यावत नहिं पावत भरमाहीं ।
ते नखचन्द प्रगट ब्रजजुवती निरख निरखि हरखाहीं ॥

(२४२४ ना० प्र० स०)

निदर्शना—विनु परवहि उपराग आजु हरि तुम है चलन कह्यो ॥

(३६०४ ना० प्र० स०)

(कृष्ण तुमने जो आज चलने की बात कही है वह हमारे लिए विना पर्व में ही ग्रहण का लगना है। विना पर्व के ग्रहण लगने में विभावना अलंकार भी है।

परिकर—यह अक्रूर क्रूर कृत रचिकैं तुमहिं लैन है आयौ ॥

(३५६३ ना० प्र० स०)

मालोत्प्रेक्षा—मालोपमा की भाँति सूर ने उत्प्रेक्षाओं की भी माला अनेक पदों मे लिखी है। यथा—

रसना जुगल रसनिधि बोल।
कनक बेलि तमाल अरुझी सुभुज बन्धन खोल ॥
भृङ्ग यूथ सुधाकरनि मानौं घन में आवत जात।
सुरसरी पर तरनि तनया उमँगि तट न समात ॥
कोकनद पर तरनि तांडव मीन खंजन संग।
करति लाजै सिखर मिलिकैं युग्म संगम रंग ॥
जलद ते तारा गिरत मानौं परत पयनिधि माहि।
युग भुजङ्ग प्रसन्न मुख ह्वै कनक घट लपटाहिं ॥

(२७५० ना० प्र० स०)

समासोक्ति—ऐ कहा जानहिं सभा राज की ऐ गुरुजन विप्रौ न जुहारे ॥

(३५८६ ना० प्र० स०)

(ध्वनि से कंसवध का संकेत निकलता है। जो गुरुजन और विप्रों को भी प्रणाम नहीं करते, वे तुम्हारी राजसभा का क्या सम्मान करेंगे—इस कथन में काव्यार्थापत्ति अलंकार भी है।)

पन्नग शत्रु पुत्र रिपु पितु सुतहित पति कबहुँ न हेरै ॥
समासोक्ति कर सूर भृङ्ग को बार बार बरु टेरै।

(पन्नग=नाग=पर्वत, पर्वत—शत्रु=इन्द्र; इन्द्र=पुत्र=अर्जुन; अर्जुन रिपु=कर्ण; कर्ण-पितु=सूर्य; सूर्य-सुत=सुग्रीव; सुग्रीव-हित=ऋक्ष (नक्षत्र); ऋक्षपति—चन्द्रमा। राधा चन्द्रमा की ओर नही देखती, भृंग अर्थात् सूर्य को बार-बार पुकारती है। अप्रस्तुत अर्थ की ध्वनि भृंग से कृष्ण की ओर है।)

अवज्ञा—वै बरसत डांगर, वन, धरनी, सरिता, कूप, तड़ाग।
सूरदास चातक मुख जैसे, बूँद नहीं कछु लाग ॥

(२६५० ना० प्र० स०)

प्रथम पंक्ति मे डांगर, वन आदि सब का वर्षा से तृप्त होना वर्णित है। अतः एक धर्म के कारण तुल्ययोगिना-सी प्रतीत होती है। परन्तु दूसरी पंक्ति मे तृप्तिकारक मेघ के वरसने पर भी चातक अतृप्त ही रहता है। अतः अवज्ञा अलंकार है।

व्याजोक्ति—मैं जान्यौं यह घर अपनौं है या धोखे में आयौं।
देखत हौं गोरस में चींटी, काढ़न कौं कर नायौ॥
(८६७ ना० प्र० स०)

स्वभावोक्ति—मैया कबहि बढ़ैगी चोटी।
किती वार मोहि दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी॥
(७६३ ना० प्र० स०)

× × ×

मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायौ।
मोसौं कहत मोल कौ लीनौं तू जसुमति कब जायौ॥
(८३३ ना० प्र० स०)

× × ×

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरन चलत रेणु तन मण्डित, मुखदधि लेप किये॥
(७१७ ना०प्र०स०)

सहोक्ति—रवि पंचक संग गये स्यामघन ताते मन अकुलात।

आक्षेप—हौं कहत न जाउ उतकौं नंदनंदन वेग।
सूर कर आक्षेप राखी आजु के दिन नेग॥

विनिमय (परिवृत्ति)—प्रीति दै मन लै गये हरि नन्दनन्दन आपु।
(२५४६ ना० प्र० स०)

अन्योक्ति—रवि कौ तेज उलूक न जानैं, तरनि सदा पूरन नभ ही री।
सूरदास तिल तेल सवादी, स्वाद कहा जानैं घृत हीरी।
(२५४२ ना० प्र० स०)

पर्याय—सुख मिटि गयौ हियौ दुख पूरन। (२७२३ ना० प्र० स०)

लोकोक्ति—मो आगे कौ छोहरा जीत्यौ चाहै मोय।
औलाती कौ नीर वडेरी कैसे फिरिहैं धाइ॥ (२६५५ ना०प्र०स०)

प्रहर्षण—कृष्ण कौं सुख दै चली हँसि हंसगति कटि छीन।
हार के मिस इहाँ आई स्याममणि के काज।
भयो सब पूरन मनोरथ मिले श्रीव्रजराज॥
(२६२४ ना० प्र० स०)

पर्यायोक्ति—जैहै कहाँ मोतिसरि मेरी ।
अब सुधि भई लई वाही ने हँसत चली वृषभानु किसोरी ।
(२५६५ ना० प्र० स०)

स्याम सखा जेंवत ही छांड़े ।
कर कौ कौर डारि पनवारे नागर आपु चले अति चांडे ।
चकृत भई देखत जननी दोउ चकृत भये सब ग्वाल ॥
अति आतुर तुम चले कहाँ हौ हमहिं कहौ गोपाल ।
अबहीं सखा एक यह कहि गयौ गाइ रही बन व्याइ ॥
सुनहु सूर मै जेंवन बैठ्यौ वह सुधि गई भुलाय ॥
(२६०० ना० प्र० स०)

सूरस्याम वा छवि कों नागरि निरखति नैन चुराये ॥
(२७७३ ना० प्र० स०)

हार के मिस यहाँ आई स्याम मनि के काज ॥
(२६२४ ना० प्र० स०)

विभावना—(जाको कारण जो नहीं उपजत तातें तौन ।)
मुरली सुनत अचल चले ।
थके चर, जल झरत पाहन, विफल वृक्ष फले ।
(१६८६ ना० प्र० स०)

(प्रतिबन्धक के होत हू होय काज जेहि ठौर ।)
मुरली तऊ गोपालहि भावै ।
सुन री सखी जदपि नन्दनन्दहिं नाना भाँति नचावै ॥
(१२७३ ना० प्र० स०)

मेरे नैना ई अति ढीठ ।
मैं कुल कानि किये राखतिही ये हठि होत बसीठ ॥
यद्यपि वे उत कुसल समर बल ऐ इत अति बल हीठ ॥
तदपि निदरि पट जात पलक में जूझत देत न पीठ ॥
(२६६० ना० प्र० स०)

(हेतु अपूरण ते जहाँ कारज पूरण होय ।)
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अन्धे कों सब कछु दरसाई ॥
सूरस्याम द्वै अंखियन देखति जाको वार न पार ॥
(२३६२ ना० प्र० स०)

विशादन और व्याघात का सन्देह संकर—

सुनहु सूर गृह वन भयो मोकों, अब कैसे हरिदरसन पाऊँ।
(२७०२ ना प्र० स०)

सेज सुगन्धित लखि विष लागत। (२७०७ ना प्र० स०)

उल्लास और असंगति का संकर—नैन करैं सुख हम दुख पावैं।
(२८७४ ना० प्र० स०)

विकल्प—कै गुरु कहा कि मौनहि छाँड़ो (२३४८ ना० प्र० स०)

गूढ़ोक्ति या व्यंग्य—आजुहि तैं ऐसे ढँग आये अब ही तौ दिन है री।
(२७०५ ना० प्र स०)

विषम—ताही को डसत जाको हियौ है उज्यारौ॥ (२३६२ ना० प्र० स०)

विशेषोक्ति—कारण के रहते हुए भी कार्य का न होना :—

अब छवि गई समाइ हिए में टारत हूँ न टरी॥
(२४६२ ना० प्र० स०)

यह आतुर छवि लै उर धारति नैकु नही तृषितात॥
(२७३६ ना० प्र० स०)

देखेहु अनदेखे से लागत।
यद्यपि करत रंग भरे एकहि इकटक रहे निमिष नहिं त्यागत॥
(२७४२ ना० प्र० स०)

काव्यलिंग—जब ते प्रीति स्याम सौं कीन्हीं।
ता दिन ते मेरे इन नैननि नैंकहु नींद न लीन्हीं।

यथासंख्य—भुज[१] भुजंग, सरोज[२] नयननि, वदन विधु जित्यौ लरनि।
रहे विवरन[१], सलिल[२], नभ[३], उपमा अपर दुरि डरनि॥
(७२७ ना० प्र० स०)

नन्दनन्दन मोहन सौं मधुकर है काहे की प्रीति।
जो कीजै तौ है जल[१], रवि[२], औ जलधर[३] की सी रीति॥
जैसे मीन[१], कमल[२], चातक[३] की ऐसे ही गई बीति।

१ २ ३
तलफत, जरत, पुकारत, सुनु सठ नाहिन है यह रीति ।।
(४४५६ ना० प्र० स०)

समालंकार—तैसिय नवल राधिका नागरि तैसेइ नवल कन्हाई ।
इत नागरी उतहिं वै नागर इन बातनि कौ चाढ़ौ ।।
(२१७६ ना० प्र० स०)

तुम नागरी नवल नागर वै दोउ मिलि करौ बिहार ।।
(३४४४ ना० प्र० स०)

सूर किसोर नवल नागर ये, नागरि नवल किसोरी ।।
(२५२२ ना० प्र० स०)

जैसोइ पुलिन पवित्र जमुन कौ तैसोइ मन्द सुगन्ध ।
जैसोइ कण्ठ कोकिला कुहकनि तैसोइ मुख सम्बन्ध ।।
(२७६३ ना०प्र० स०)

० ० ० ०
इत लोभी उत रूप परम निधि कोऊ न रहत मितिमान ।।
(२४७० ना० प्र० स०)

० ० ० ०
इह द्वादश वेऊ दश द्वै के ब्रजजुवतिन मन मोहै ।
सूरस्याम नागर, इह नागरि, एक प्राण तनु द्वै हैं ।।
(२५२१ ना० प्र० स०)

प्रत्यनीक—जौलौ माई हौ जीवन भरि जीवौं ।
तब लगि मदन गोपाल लाल के पन्थ न पानी पीवौं ।।
करौं न अंजन, धरौं न मरकत, मृगमद तन न लगाऊँ ।
हस्त बलय, कटि ना पटु मेचक, कण्ठ न पोति बनाऊँ ।।
सुनौं न श्रवणन अलि पिक वाणी नैन न नवघन देखौं ।
नील कमल कर धरौं न कबहूँ स्याम सरीखे लेखौं ।।
(३३१८ ना० प्र० स०)

(यहाँ श्याम के कारण सभी श्यामल वस्तुओं के प्रति रोष प्रकट किया गया है ।)

अर्थान्तरन्यास—बिरही कहाँ लौं आपु संभारै ।
जब ते गंग परी हरि-पग तैं बहिबौ नाहिं निवारै ।।
(४३६६ ना० प्र० स०)

(एक सामान्य बात का समर्थन गंगा की विशेष बात से किया गया है।)

अन्योन्य—राधा हरि के तन बसै, हरि राधा देही॥
राधा स्याम सनेहिनी, हरि राधा नेही।
राधा हरि के नैन मे, हरि राधा नैननि॥
(२५८१ ना० प्र० स०)

तद्गुण—तेहि रंग सूर रंग्यौ मिलि कैं मन।
होइ न स्वेत अरुन फिरि फेरौ॥
० ० ० ०
स्याम रंग राँची ब्रजनारी, और रंग दीने सब डारी॥
(२५३० ना० प्र० स०)

अनुगुन—स्याम रँग रँगे रँगीले नैन॥ (२८६६ ना० प्र० स०)

मीलित—ग्वालिन घर गये जानि साँझ की अँधेरी।
मन्दिर मे गये समाइ, स्यामल तन लखि न जाइ।
देह गेह रूप कहाँ, को कहै निबेरी।
देखियत नहिं भवन माँझ, तैसोइ तन तैसी साँझ॥
(८६३ ना० प्र० स०)

सूक्ष्म—स्याम अचानक आइ गये री।
मैं बैठी गुरजन बिच सजनी देखत हो मेरे नैन नये री॥
तब इक बुद्धि करी मैं ऐसी बेंदी सों कर परस कियो री।
आप हँसे उत पाग मसकि हरि अन्तर्यामी जानि लियो री॥
ले कर कमल अधर परसायो देखि हरषि पुनि हृदय धर्‌यो री।
चरण छुये दोउ नैन लगाये मैं अपने भुज अंक भर्‌यो री॥
(२४६७ ना० प्र० स०)

उभयालंकार:—

पूर्णोपमा और यमक का संकर—
देखि नृप तमकि हरि चमकि तहाँई गये,
दमकि लीन्हों गिरह बाज जैसे।
धमकि मार्‌यौ, घाउ गुमकि हृदय रह्यौ,
झमकि गहि केस लै चले ऐसे॥ (३६६७ना०प्र०स०)

प्रतीप और हेत्वापह्नुति का संदेह संकर तथा रूपक और उपमा की संसृष्टि :—
नंदनन्दन के बिछुरे अँखियाँ उपमा जोग नही।
कंज खंज मृग मीन न होंही कबिजन बृथा कहीं।
कंज होंहि तौ मिलैं पलक-दल जामिनि होत जहीं॥

रूप सरोवर के बिछुरे कहुँ जीवत मीन नहीं।
ये झरना लौं झरति रैनि-दिन उपमा सकल वहीं।

(४१८९ ना० प्र० स०)

(ना० प्र० स० के पाठ से यह पाठ अधिक शुद्ध है।)

'पलक-दल और 'रूप-सरोवर' में रूपक तथा 'झरना—लौं में उपमा अलंकार है। ये दोनों अलंकार पृथक्-पृथक् भासित हो रहे हैं। अतः इनकी संसृष्टि है, परन्तु प्रतीप और हेत्वापह्नुति एक दूसरे में संदेह उत्पन्न कर रहे हैं। 'उपमा जोग नहीं' में प्रतीप परन्तु 'कंज खंज मृग मीन न हों ही' तथा 'कंज होंहि तौ मिलैं पलक दल' में कारण प्रकट करते हुये उपमाओं का प्रतिबन्ध करने से हेत्वापह्नुति प्रकट होती भी मालूम पड़ती है। अतः दोनों का संदेह संकर है। संकर तीन प्रकार का होता है, अङ्गाङ्गी, संप्रधान और संदेह।

रूपक और अनुमान की संसृष्टि—

कुसुम रंग गुरुजन पितु-माता। हरित रंग भैनी अरु भ्राता।
दिना चारि में सब मिटि जैहैं। स्याम रंग अजरायल रैहैं॥

(२५३० ना० प्र० स०)

हेतु और असंगति की संसृष्टि—

श्रवण सुनि सुनि रहै, रूप कैसे लहै, नैन कछु गहै रसना न ताके।
देखि कोउ रहै, कोउ सुनि रहै, जीभ बिनु, सो कहै कहा नहिं नैन जाके॥

(२४७५ ना० प्र० स०)

रूपक और विशेषोक्ति का अंगांगी संकर—

लोक वेद प्रतिहार पहरुआ तिनहू पै राख्यो न पर्यो री।
धर्म धीर कुल कानि कुंची करि तेहि तारौ दै दूरि धर्यौ री॥

रूपक और वक्रोक्ति का संकर —

आयौ घोष बड़ौ व्यौपारी।
लादि खेप यह ज्ञान योग की व्रज मे आइ उतारी॥

(४५८३ ना० प्र० स०)

उल्लेख, मालोपमा और सन्देह का सन्देह संकर—

हरि प्रति अंग नागरि निरखि॥
दृष्टि रोमावली पर रहि बनत नाहिन परखि।
कोउ कहति यह कामश्रेनी, कोउ कहति नहिं योग।
कोउ कहति अलि बाल पंगति, जुरे एक संजोग।

कोउ कहति अहि काम पठयो डसै जिनि यह काहु।
स्याम रोमावली की छवि सूर नहीं निवाहु ॥

(१२५४ ना० प्र० स०)

रोमावली का अनेक प्रकार से वर्णन करने के कारण इस पद में उल्लेख अलंकार प्रतीत होता है। एक वस्तु के अनिश्चित होने के कारण सन्देह भी है और रोमावली के लिये अनेक उपमान आये हैं, अतः मालोपमा भी भासित होती है। परन्तु है सब सन्दिग्ध। अतः सन्देह संकर है।)

यथासंख्य, हेतूत्प्रेक्षा और प्रतीप की संसृष्टि—

भुज भुजंग, सरोज नयननि, वदन विधु जित्यौ लरनि।
रहे विवरन, सलिल, नभ उपमा अपर दुरि डरनि ॥

(७२७ ना० प्र० स०)

सहोक्ति, विशेष और कारक दीपक की संसृष्टि—

उत सुख दियो नंदनन्दन कौं इतहि हरष महतारी।

इनके अतिरिक्त सूरसागर में और भी अलंकारों का प्रयोग हुआ है, परन्तु सूरदास के प्रिय अलंकार उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक और रूपकातिशयोक्ति ही हैं। इन अलंकारों के द्वारा उन्होंने अपनी वर्ण्य वस्तु का चित्र सा उपस्थित कर दिया है। कृष्ण और राधा के रूप-वर्णन में मुख्य रूप से उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग हुआ है। उत्प्रेक्षा में उपमा अलंकार से एक विशेषता है। यद्यपि दोनों का आधार सादृश्य है, फिर भी उपमा जहाँ सादृश्य की झलक भर दिखाकर समाप्त हो जाती है, वहां उत्प्रेक्षा उपमेय और उपमान में एक दूसरे को प्रतिबिम्बित कर सादृश्य को स्थिरता दे देती है। नीचे के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

अधर बिम्ब तें अरुन मनोहर, मोहन मुरली राग।
मानहुँ सुधा पयोधि घेरि घन ब्रज पर बरसन लाग ॥

(२३६५ ना० प्र० स०)

बिम्बाफल के समान लाल अधरों से मंजुल हास्य की छटा छिटक रही है और मुरली की ध्वनि से समस्त ब्रज प्रांत निनादित हो रहा है। इस दृश्य को देखकर ऐसा प्रतीत होता है, मानों श्यामल जलद ब्रज को चारों ओर से घेर कर अमृत के पारावार की वर्षा-सी कर रहा हो। यहाँ हास्य-छटा और मुरली-ध्वनि का अमृत वर्षा के साथ प्रभावसाम्य दिखलाया गया है, परन्तु इतनी चित्रमयता के साथ कि हृदय में देर तक स्थिर रहता है। एक उदाहरण और लीजिये:—

चितवनि रोके हू न रही
स्यामसुन्दर सिन्धु सन्मुख सरित उमगि वही ।।

(२३८१ ना० प्र० स०)

राधा की दृष्टि क्या है मानों एक नदी है। जैसे नदी को चाहे जितना रोको, बाँध बाँधो, पर वह समस्त रुकावटों को दूर करती हुई समुद्र की ओर बढ़ती ही चली जाती है, वैसे ही राधा की दृष्टि लज्जा आदि अवरोधों को हटाती हुई स्यामसुन्दर के सम्मुख उमंग में भरी हुई पहुँच ही तो गई। कहीं-कहीं सूर ने अप्राकृत उपमानों का भी प्रयोग किया है, जैसेः—

हरि कर राजत माखन रोटी।
मनों वारिज ससि वैरु जानि जिय गह्यौ सुधा ससु घोटी।
मनों बराह भूधर सह धरनी धरी दसनिनि की कोटी ।।

(७८२ ना० प्र० स०)

परन्तु ऐसे स्थान वहुत कम हैं, और जहाँ है भी, वहाँ उनका उद्देश्य प्रभु की विराट शक्ति के चित्रण द्वारा अलौकिक विस्मय उत्पन्न करना है।

नीचे के पदों मे मुख्य रूप से प्रतीप तथा उत्प्रेक्षा अलंकारों द्वारा राधा और कृष्ण का सौंदर्य-चित्र उपस्थित किया गया हैः—

राधे तेरो वदन विराजत नीकौ।
जव तू इत उत वंक विलोकति होत निसापति फीकौ ।।
भृकुटी धनुष नैन सर साधे सिर केसरि कौ टीकौ।
मनु घूंघट पट-मे दुरि बैठो पारधि रति पति ही कौ ।।

(२३२० ना० प्र० स०)

राजति राधे अलक भरी री।
मुक्ता माँग तिलक पन्नगि सिर सुत समेत भष लेन चली री ।।
चारु उरोज ऊपर यों राजत अरुझे अलिकुल कमल कली री।
रोमावलि त्रिवली उर परसति वांस चढ़े नट काम वली री ।।
प्रीति सुहाग भुजा सिरसंडन जघन सघन विपरीत कदली री।
जावक चरन पंच सरसायक समर जीति लै सरण चली री ।।

(२३२१ ना० प्र० स०)

इस पद मे राधा का पूरा नखशिख वर्णन आ गया है। 'जव तू इत उत वंक विलोकति होत निसापति फीकौ' मे प्रतीप अलंकार है। मानों शब्द वाली पंक्ति में उत्प्रेक्षा है। द्वितीय पद मे गम्योत्प्रेक्षा है।

अब कृष्ण का सौंदर्य चित्र देखिये:—

नटवर वेष काछे स्याम ।
पद कमल नख इन्दु सोभा ध्यान पूरन काम ॥
जानु जंघ सुघटनि करभा × नाहि रम्भा तूल ।
पीतपट काछनी मानहुँ जलज केसर झूल ॥
कनक छुद्रावली पंगति नाभि कटि के भीर ।
मनहुँ हंस रसाल पंगति रहे हैं हृद तीर ।

× × ×

झलक रोमावली सोभा ग्रीव मोतिन हार ॥
मनहुँ गंगा बीच जमुना चली मिलि त्रय धार ॥
बाहु दण्ड विसाल तट दोउ अंग चन्दन रेनु ।
तीर तरु वनमाल की छवि व्रजयुवति सुख देनु ॥
चिबुक पर अधरनि दसन द्युति बिब बीजु लजाइ ।
नासिका सुक, नयन खंजन, कहत कवि सरमाइ ॥
श्रवण कुंडल कोटि रवि छवि भृकुटी काम कोदण्ड ।
सूर प्रभु हैं नीप के तर सीस धरे सिखण्ड ॥

(६४ पृष्ठ २६६ ना० प्र० स०)

इस पद में कृष्ण का नख-शिख वर्णन किया गया है। 'बिब बीजु लजाइ' में प्रतीप और मानों शब्द वाली पंक्तियों में उत्प्रेक्षा अलंकार है। इनके अतिरिक्त 'पद कमल', 'नख इंदु शोभा', "तीर तरु वनमाल की छवि" "श्रवण कुण्डल कोटि रवि छवि" तथा भृकुटि काम को दण्ड' में लुप्तोपमा अलंकार है।

'बाहु दण्ड विशाल तट दोउ' में रूपक अलंकार है। 'नासिका शुक, नयन खंजन कहत कवि सरमाइ' में अतिशयोक्ति है। उपर्युक्त पदों से राधा और कृष्ण का संपूर्ण सौंदर्य-चित्र आँखों के सामने आ जाता है। यह है अलंकारों द्वारा बाह्य दृश्यों का चित्रण ।

सूरदास ने इन अलंकारों के द्वारा जहां वस्तु-वर्णन किया है, दृश्य-चित्रण किया है, वहां भाव-सौंदर्य को भी प्रकट किया है। बाह्य एवं आन्तरिक लावण्य के जितने ललित चित्र सूरसागर में हैं, उतने अन्यत्र नहीं। 'प्रियामुख देखो स्याम निहारि' टेक से प्रारम्भ होने वाले पद की आन्तरिक सुषमा का हम अन्यत्र दिग्दर्शन करा चुके हैं। यहाँ कुछ उदाहरण और देंगे:—

× हाथी की सूंड़

ऊधौ अब यह समुझि भई।
नंदनन्दन के अंग-अंग प्रति उपमा न्याय दई।
कुन्तल कुटिल भँवर भरि भाँवरि मालति भुरै लई॥
तजत न गहरु कियो जब कपटी जानी निरस गई॥
आनन इन्दु विमुख संपुट तजि करखे तें न नई।
निर्मोही नहिं नेह; कुमुदिनी अन्तहु हेम हई।
(४५३६ ना० प्र० स०)

इस पद में गोपियों की हृदयस्थ विरह-वेदना का चित्र है। कृष्ण के प्रत्येक अंग के लिए दी हुई उपमायें इन्हें इस हेतु सार्थक प्रतीत हो रही हैं कि वे कपट, छल एवं क्रूरता में कृष्ण से किसी प्रकार कम नहीं हैं। कृष्ण के कुन्तलों की कुटिलता में काले भ्रमरों की कुटिलता ही छिपी पड़ी है। जैसे मालती को प्रेम-भ्रम में डाल कर भ्रमर छोड़ कर चला जाता है, वैसे ही गोपियों का परित्याग करने में क्या कृष्ण ने विलम्ब किया? कुमुदिनी चन्द्र से प्रेम करती है, पर चन्द्र कब उसकी चिन्ता करता है? बेचारी हिम से गल-गल कर क्षार हो जाती है, क्या गोपिकायें भी इसी भाँति कृष्ण-प्रेम में गल नहीं गईं—विरह रूपी हिम ने उनके अङ्ग-अंग में क्षमता एवं म्लानता का संचार नहीं किया? इस प्रकार सादृश्यमूलक अलंकारों के सहारे सूर गोपियों की पीड़ा का कैसा भावमय चित्र अंकित कर रहे हैं।

'नन्द ब्रज लीजै ठोंकि बजाइ।' शीर्षक पद में अमर्ष, तिरस्कार, खिन्नता एवं उत्कट प्रेम की एक साथ व्यंजना दिखाकर स्वर्गीय शुक्ल जी ने सूर की भाव-गरिमा पर बहुत कुछ लिखा है। वस्तुतः सूर भाव-जगत का सम्राट है। मनोरागों की सूक्ष्म से सूक्ष्म गति का जितना परिचय उसे है, उतना अन्य किसी कवि के काव्य से प्रकट नहीं होता। नीचे के पद में कितना सूक्ष्म आध्यात्मिक संकेत है—

उनको ये अपराध नहीं।
वे आवत है नीके मेरे, मैं ही गर्व कियो तिनहीं॥७५॥ पृष्ठ ३०६

समासोक्ति अलंकार द्वारा इससे यह ध्वनि निकलती है कि परमात्मा तो सदैव जीवात्मा के समीप विद्यमान रहता है, पर जीव अहंमन्यता के कारण उसे अनुभव नहीं कर पाता, पास होता हुआ भी उसके पास नहीं पहुँच पाता। इसी प्रकार नीचे के पद में जीव की प्रभु-मिलन-लालसा उत्कट रूप में प्रकट हुई है:—

अब के जो पिउ पाऊँ तो हिरदे माँझ दुराऊँ।
ऐसो को जो आनि मिलावै ताहि निहाल कराऊँ॥

जो पाऊँ तो मंगल गाऊँ मोतिन चौक पुराऊँ।
रस करि नाचौं गाऊँ बजाऊँ चन्दन भवन लिपाऊँ ॥
मणि माणिक न्यौछावरि करिहौं सोदिनसुदिन कहाऊँ ॥
(२७२४ ना०स०स०)

ऊपर के पद रहस्यवाद की कोटि में आते हैं। पति-पत्नी भाव के प्रतीक द्वारा इनमें आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध सूक्ष्म संकेत-प्रणाली में प्रकट किया गया है, पर ऐसे सूक्ष्म संकेत सूर ने बहुत कम स्थानों पर दिये हैं। उसका मुख्य लक्ष्य अति प्राकृत को प्राकृत रूप में प्रकट करना है, प्राकृत को, सर्व सुलभ को, अति प्राकृत-असाधारण बनाना नहीं। उसकी रचना में प्रभु ने परम से अवम रूप धारण किया है—वह अलौकिक से लौकिक बना है, स्वर्ग से हमारे आँगन में खेलने उतरा है।

कल्पना

सूर की कल्पना उच्चकोटि की भावसृष्टि करने वाली है। अपनी इस कल्पना के बल से वे ऐसे भावचित्र उपस्थित कर सके हैं जो साहित्य संसार में अमर रहेंगे। सूरसागर के किसी पद को पढ़िये, उसमें किसी ने किसी प्रकार का आकर्षक चित्र चित्रित मिलेगा। चित्र में रंग भी होगा, चटक भी होगी और हृदय के किसी कोने का दर्शन भी। कृष्ण का पीताम्बर और राधा की नीली साड़ी ये दो रंग तो सूर की बन्द आँखों के सामने सदैव प्रस्तुत रहते हैं। वस्त्रों के ये दोनों रंग विपर्यय से एक दूसरे के शारीरिक रंगों के ही प्रतिरूप हैं। सूर ने इस पर कितनी सुन्दर कल्पना की है:—

नीलाम्बर स्यामल तनु को छवि, तनु छवि पीत सुवास।
घन भीतर दामिनी प्रकासत दामिनि घन चहुँ पास॥

राधा की नीली साड़ी के भीतर स्वर्ण कान्ति वाला शरीर और कृष्ण के स्यामल शरीर के ऊपर पीताम्बर ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे बादलों के भीतर दामिनी दमक रही हो और दामिनी के भीतर बादल। दोनों के शरीरों की शोभा भी अन्योन्य रूप से दोनों के वस्त्रों पर प्रकट होरही है।

भ्रमरगीत में सूर ने कृष्ण पक्ष की गति को कालो नागिनि बना दिया है? कल्पना की ऐसी मूर्तिमत्ता कदाचित ही कहीं उपलब्ध हो। सूर लिखते हैं:—

पिया बिनु नागिनि कारी रात।
कबहुँ केजामिनि उअति जुन्हैया डसि उलटी है जात॥ (३८६० ना०प्र०स०)

(नागिनि का यह नियम है कि वह किसी को काटकर उलटी हो जाती है। नागिनि का ऊपरी भाग काला, परन्तु नीचे का पेट वाला भाग स्वेत होता है।)

डसकर उलट जाने से यह नीचे का श्वेत भाग प्रकट हो जाता है। कृष्ण पक्ष की रात्रि भी अपने प्रथम भाग मे अन्धकार से काली ही होती है। चन्द्र की ज्योत्स्ना इस पक्ष में कुछ विलम्ब से निकलती है, परन्तु जब निकलती है तो रात्रि की कालिमा के स्थान पर श्वेतिमा प्रकट हो जाती है। इसी दृश्य को लेकर सूर ने काली नागिन का विरहिणी को डसकर उलट जाने से श्वेत हो जाना लिखा है। इस पद से प्रकट होता है कि सूरदास की कल्पना कितनी तीव्र और समान भाव-चित्रों की दर्शिका थी।

सूरदास ने एक ही विपय पर अपनी प्रगल्भ कल्पना-शक्ति द्वारा अनेक पदों की रचना की हैं, पर उन पदों मे भावैक्य नहीं है। प्रत्येक पद मे भिन्न-भिन्न भावों का समावेश किया गया है। इसी हेतु एक विषय से सम्वन्ध रखने वाले कई पदों को पढ़ते हुये पाठक का मन ऊवने नहीं पाता। कृष्ण पालने पर लेटे हुये पैर का अंगूठा पी रहे है—इस विषय के वर्णन मे एक स्थान पर प्रलय-कालीन विस्मय-जनक दृश्यों का उद्‌घाटन है तो दूसरे स्थान पर साक्षात् कृष्ण द्वारा उस चरणारविन्द के रस को प्राप्त करने की अभिलाषा। यही वात मुरली, नेत्र आदि अनेक विषयों पर लिखे हुये पदों के सम्वन्ध मे कही जा सकती है।

सूरदास ने अपनी कल्पना से कहीं-कहीं अत्यन्त विस्मयजनक एवं आश्चर्यकारी दृश्यों की अवतारणा की है। इन दृश्यों का मुख्य उद्देश्य उस रहस्यमयी भावना की ओर ले जाना हैं, जो विश्व के मूल मे सन्निहित है। कृष्ण के अंगूठा पीने से ही शिव चौंक पड़ते हैं, ब्रह्मा चिंतित हो जाते है और प्रलय-कालीन बादल घिर आते है। दावानल का वर्णन भी विस्मयावह है और कंस के वध का दृश्य भी।

नाटक का सूत्रधार नाटक की प्रस्तावना करके पृथक हो जाता है, फिर रंग मंच पर नहीं आता, रंग-भूमि मे वैठा हुआ समस्त नाटक का संचालन करता है। इस विश्व रूपी नाटक का सूत्रधार भी ऐसा ही है। वह भी इस समस्त प्रपंच के पीछे छिपा रहता है, स्वयं इस प्रपंच मे भाग नहीं लेता। पर सूरदास जहाँ हरिलीला में जीवों को भाग लेते हुये दिखलाते हैं, वहाँ हरि को केवल द्रष्टा के रूप मे ही नहीं रहने देते, उन्हे इस लीला का रहस्य जानने के लिये उत्सुक कर देते हैं और परिणामतः अखिल विश्व नाट्य के सूत्रधार होते हुयें भी वे इस लीला मे भाग लेने लगते हैं। माधुर्य-भक्ति के उपासक सूर का यह वर्णन स्वाभाविक है। अंगुष्ट-पान पर कल्पना करते हुये सूर लिखते हैं:—

'जो चरणारविन्द श्री भूषण उरतै नैकु न टारति।
देखौं धौं का रसु चरननु में मुख मेलत करि आरति।

जा चरणारविन्द के रस कों सुर नर करत विवाद।
यह रस है मोकों अति दुर्लभ ताते लेत सवाद।

अच्छा यार, खूब स्वाद ले लो। जो वस्तु दुर्लभ होती है, वह प्राप्त होने पर अछूती बनी रहे, यह सम्भव ही नहीं है। तुम अकाम, पूर्णतृप्त और सर्व-प्राप्त जो थे, पर जो अपने रस का आस्वादन करने से स्वयं वंचित होकर पुनः उसका आस्वादन करने के लिये लालायित हो उठे, वह किस नाम से पुकारा जायेगा। पर तुम लीलामय ठहरे। तुम्हारी लीला विचित्र है। अकायम् होकर भी विश्ववपुधारी, तुम्हें कौन समझ सकता है? पियो, छक-छक कर पियो, आज सूर ने तुम्हारे सामने चरणारविंद का मकरन्द रख दिया है। मधुप ही तो बने, पर श्यामल तो तुम सदा से ही हो।

प्रभु अपरिमित सौंदर्य के भाण्डार हैं। वह सौन्दर्य-स्रोत हैं। सूरदास ने उनके असीम सौंदर्य का, अनंत छवि का, अपार सुषमा का अतीव हृदयग्राही वर्णन कल्पना द्वारा प्रस्तुत किया है। यह असीम सौंदर्य ससीम रूप में अवतरित होकर भी अन्त-हीन और सीमा-रहित है। यह परम अवम होकर भी सबसे दूर है। कृष्ण का जन्म हुआ; जन्म क्या हुआ, छवि का अजस्र-अनंत स्रोत उमड़ पड़ा। एक गोपी गोकुल पहुँची, देखा, वहाँ शोभा का सिंधु ठाठें मार रहा है। इधर, उधर, चतुर्दिक गली-गली में वह बहा-बहा फिरता है। कोई इसका क्या वर्णन करेगा। गोपी कहती है—

सोभा सिंधु न अंत लहीरी।
नंद भवन भरि पूरि उमंगि चलि, ब्रज की वीथिनु फिरति बहीरी।

परवर्ती कवियों में देव ने इस उक्ति के आश्रय पर कितना अच्छा कवित्त लिखा है:—

सूनो कै परम पदु, ऊनो कै अनन्त मदु,
नूनो कै नदीस नंदु इंदिरा झुरै परी।
महिमा मुनीसन की संपति दिगीसन की,
ईसन की सिद्धि ब्रज वीथी विथुरै परी।
भादों की अंधेरी अधराति मथुरा के पथ,
पाइ के संयोग 'देव' देवकी दुरै परी।
पारावार पूरन अपार पर ब्रह्मरासि,
जसुदा के कोरै एक बार ही कुरै परी।

इसी सौंदर्य-सिंधु से विश्व के अन्य सौंदर्य-प्रतीक अपना-अपना सौंदर्य ग्रहण करते हैं। शोभा का यह समुद्र न केवल इस धरातल के चेतन, अर्ध

चेतन एवं अचेतन पदार्थों तक ही अपना प्रभाव रखता है, प्रत्युत वह इस धरातल की सीमा का उल्लंघन करके द्युलोक तक भी पहुँचता है, और पार्थिवता एवं दिव्यता दोनों उसके प्रभाव क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाती हैं। धरातल के मानव, गायें, सरिता, वृक्ष, वनस्पति तथा स्वर्ग के देवता सब उस सौंदर्य-स्रोत से हरे-भरे हो जाते हैं, आनन्द का अनुभव करने लगते हैं।

सूर की कल्पना ने सौंदर्य के अनेक चित्र अंकित किये हैं। ये चित्र जहां बाह्य छवि से सम्बन्ध रखते हैं, वहां आंतरिक सौंदर्य को भी पाठकों के मानस-पटल पर अंकित कर देते हैं। सूर की मर्मभेदी दृष्टि बाह्य आकार तक ही सीमित नहीं रहती, वह उसके अंतस्तल तक प्रवेश कर जाती है। सूर अपने सामने आये हुये दृश्य को चारों ओर से देखने का प्रयत्न करते हैं। उनकी पैनी दृष्टि बाह्य आवरण को विद्ध करती हुई उसके अन्दर प्रविष्ट होती है और वहां के कोने-कोने की झांकी लेती है। इतना गम्भीर अवगाहन किसी अन्य मरजीवा कवि के भाग्य में पड़ा है, यह कहना कठिन है। बाह्य एवं आंतरिक छवि के चित्र भी चल और अचल दोनों रूपों में उपलब्ध होते हैं। कुछ उदाहरण लीजियेः—

लट लटकन, मोहन मसि बिंदुका तिलक भाल सुखकारी।
मनहुँ कमल अलि सावक पंगति उठति मधुप छवि भारी।।

कमल और उसपर बैठे हुये भ्रमर-शावकों का कैसा संश्लिष्ट अचल चित्र यहाँ अंकित हुआ है।

चलित कुंडल, गंड मंडल झलक ललित कपोल।
सुधा-सर जनु मकर क्रीडत इन्दु डह डह डोल।।

सुन्दर कपोलों पर हिलते हुये कुंडलों की चंचल झलक पड़ रही है, मानों अमृत के तालाब मे मकर क्रीड़ा कर रहा हो और चंद्रमा मंदगति से घूम रहा हो। चल चित्र का यह विचित्र रूप अनुभव करते ही बनता है। ये तो बाह्य सौंदर्य के चित्र हैं। आंतरिक सौंदर्य के भी अनेक चित्र सूर-सागर में भरे पड़े हैं। यथा—

स्याम कहा चाहत से डोलत।
बूझे हू ते वदन दुरावत, सूधे बोल न बोलत।।
सूने निपट अँध्यारे मंदिर दधि भाजन में हाथ।
अब कहि कहा बनइहौ उतरु कोऊ नाहिन साथ।

मैं जान्यो यह घर अपनो है या धोखे मे आयो।
देखतु हौं गोरस में चींटी काढ़न को कर नायो॥
सुनि मृदु वचन निरखि मुख-शोभा ग्वालिनि मुरि मुसुकानी।
सूर स्याम तुम हौ रतिनागर बात तिहारी जानी॥

एक दिन संध्या के समय कृष्ण किसी गोपी के घर मे पहुँचे और दही के मटके में हाथ डाल दिया। उसी समय गोपी ने उन्हें देख लिया और पकड़ कर बोलीः—'कहिये, हजरत! अब आप क्या उत्तर देते है? एक तो अँधेरा, दूसरे अकेले—झट कृष्ण को एक बात सूझी, वे बोलेः—मैंने तो समझा था, यह मेरा घर है। दही के मटके मे चींटी पड़ गई थी, उसे निकालने के लिये मैंने उसमें अपना हाथ डाल दिया।' उसे सुनते ही गोपी मुड़ कर हँसने लगी। यह है आंतरिक मन का सौंदर्य, बुद्धि का वैभव, अन्तस्तल का चातुर्य। इसी प्रकारः-

मैया मैं नहिं माखन खायो।
ख्याल परै ये सखा सबै मिलि मेरे मुंह लपटायो।'

आदि पद में भी मुख से लगे हुये दही को तुरंत पोंछ डालना और दोने को पीठ पीछे छिपा लेना कृष्ण के आंतरिक सौंदर्य को प्रकट कर रहा है।

कृष्ण के इसी बाह्य एवं आंतरिक सौंदर्य का अनुभव करके गोपियाँ यह अभिलाषा करने लगी थींः—

कोउ कहति केहि भाँति हरि कौ देखौं अपने धाम।
हेरि माखन देउँ आछौ खाइ जितनौं स्याम॥
कोउ कहति मैं देखि पाऊँ भरि धरौं अँकवारि।
कोउ कहति मैं बाँधि राखौं को सकै निरुवारि॥

सूर की कल्पना का तो कहना ही क्या! इसी कल्पना के बल से सूर ने निर्जीव पदार्थ में भी जान डाल दी है और साधारण से साधारण वाक्य को भी गंभीर अर्थ-सम्पन्न बना दिया है। एक दृश्य पर दो कल्पनाओं का चमत्कार देखिये—

चलत पद प्रतिबिम्ब मनि आंगन घुटु रुवनि करनि।
जलज संपुट सुभग छवि भरि लेत उर जनु धरनि॥

× × × ×

कनक भूमि पर कर पग छाया यह उपमा इक राजत।
प्रति कर, प्रति पद, प्रति मनि बसुधा कमल बैठकी साजत॥

नंद के भवन में मणि जटित आँगन है। कृष्ण उसमें घुटनों के बल चल रहे हैं। मणियों पर उनके हाथ, पैर और घुटनों का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है।

सूर कहते हैः—यह प्रतिविम्ब मानों कमल का दोना है, जिसमें श्रीकृष्ण की छवि को भरकर पृथ्वी अपने हृदय में धारण कर रही है। अथवा, आंगन की स्वर्णभूमि में जड़े हुये मणियों पर जो हाथ और पैरों का प्रतिविम्ब पड़ता है, वह एक-एक कमल के समान है। आज रत्नों को धारण करने वाली वसुधा ने इस एक एक कमल की पंखुरियों से अपनी बैठक सुसज्जित की है, क्योंकि आज वह इस बैठक में सौंदर्य के सदन श्याम को सरोजासन देकर सम्मानित करना चाहती है। इस कार्य द्वारा वह स्वयं भी सम्मानित हो रही है, क्योंकि आज साक्षात् स्वर्ग उसके समीप आ गया है।

वैसे तो प्रत्येक बात में सूर की कान्त कल्पना दृष्टिगोचर होती है, पर मुरली और नेत्र-सम्बन्धी पदों में वह विशेष चमत्कार को लेकर अग्रसर हुई है। नेत्रों को सूर ने न जाने कितने रूपों मे देखा है। वे कहीं लोभी हैं, कहीं कपटी हैं, कहीं ऐंठ दिखाते हैं, कहीं बाण चलाते हैं, कहीं भृंग, कहीं चकोर, कहीं मृग और कहीं पक्षी हैं। कहीं वे हठी बालक हैं तो कहीं घूँघट-पट हटाकर मर्यादा तोड़ने वाली कुलटा स्त्री। कहीं बरसाती बादल हैं, तो कहीं उस जलधर के जल से दूर पड़ी व्याकुल, तड़पड़ाती मछली! सूर की कल्पना कहाँ-कहाँ नहीं पहुँची? उसकी क्रान्तदर्शी दृष्टि के सन्मुख विश्व का एक-एक दृश्य हस्तामलकवत् था। पर उसकी कल्पना कहीं भी भावुकता का अञ्चल छोड़कर नहीं बढ़ी। काल्पनिक चित्र किसी न किसी भाव-भंगिमा को अभिव्यञ्जित करते हैं। उनसे किसी न किसी चेष्टा का चित्रण होता है। कैसा ही प्रसंग हो, सूर की कल्पना के साथ उस प्रसंग का आन्तरिक तत्व अवश्य चित्रित होता दिखाई देगा। गोपियों की आँखों से निकलते हुये आँसुओं का वर्णन करते हुये सूर लिखते हैं:—

मेरे नैना विरह की वेलि बई।
सींचत नैन नीर के सजनी सूर पताल गई॥
विकसति लता स्वभाइ आपने छाया सघन भई।
अब कैसे निरुवारों सजनी, सब तन पसरि छई॥ (३८६४ ना०प्र०स०)

नेत्रों से गिरते हुये आँसू विरह की लता को सींच रहे हैं। लता का स्वभाव ही फैलना होता है, सींचने से वह और भी शीघ्रता से फैलेगी। सिंचित होकर विरह की यह लता समस्त शरीर के ऊपर छा गई है। उसने अङ्ग-अङ्ग को आच्छादित कर लिया है। आह! अब इसे कैसे दूर किया जाय? यह तो अपने पैरों में अपने आप कुल्हाड़ी मारना है।

नेत्रों पर एक से एक बढ़कर कल्पनायें सूर ने की हैं। नीचे मुरली पर की हुई कल्पना पर विचार कीजिये—

मुरली तऊ गोपालहि भावति ।
सुन री सखी जदपि नंदनन्दहि नाना भाँति नचावति ।
राखति एक पाँय ठाढ़ो करि अति अधिकार जनावति ।।
कोमल अंग आपु आज्ञा गुरु कटि टेढ़ी ह्वै आवति ।।
अति आधीन सुजान कनौड़े गिरिधर नारि नवावति ।
आपुन पौढ़ि अधर सेज्या पर करपल्लवसन पद पलुटावति ।।
भृकुटी कुटिल कोप नासा पुट, हम पर कोपि कुपावति ।
सूर प्रसन्न जानि एकौ छिन अधर सुसीस डुलावति ।।

यहाँ मुरली को एक धृष्ट स्त्री का रूप दिया गया है, जो पति को अपने शासन में रखती है और अनेक प्रकार के नाच नचाया करती है। प्रगल्भ इतनी है कि जो कहती है, वही कृष्ण को करना पड़ता है। वह अधिकार पूर्वक आज्ञा देती है, तो पतिदेव, श्री कृष्ण, एक पैर से खड़े हो जाते हैं। इस मुद्रा में वह उन्हें देर तक रखती है। श्रीकृष्ण के अंग कोमल हैं; अतः बहुत देर तक एक पैर से खड़े रहने के कारण उनकी कमर टेढ़ी हो जाती है। पर हैं स्त्री के वशीभूत, उसके अत्यन्त अधीन। अतः जैसे ही वह कुछ कहती हैं, श्रीकृष्ण गर्दन झुका कर उसे शिरोधार्य कर लेते हैं। इतना ही नहीं धृष्टता उस समय सीमा का उल्लंघन कर जाती है, जब मुरली (पत्नी) श्रीकृष्ण के अधर रूपी शैया पर लेट जाती है और वे अपने हाथों से वंशी महारानी के पैर दाबते है। मुरली-वादन के समय भृकुटी टेढ़ी हो जाती है और नासापुट फड़कने लगते हैं। कवि इस विषय पर कल्पना करता है कि वह भी वंशी के ही कारण है। यह वंशी स्वयं तो गोपिकाओं पर अपने कोप का प्रकाश करती ही है, साथ ही इस मुद्रा के बहाने मानों वह गोपिकाओं के प्रति श्रीकृष्ण का भी क्रोध प्रकट करा रही है। और जब उन्हे एक क्षण के भी लिये प्रसन्न देखती है, तो उनके अधर और सिर को भी हिलाने लगती है। यह है सच्ची कवि-कल्पना, जो पाठकों के समक्ष न केवल बाह्य दृश्यों का ही चित्र उपस्थित करती है, अपितु भाव की लपेट में आन्तरिक अवस्था को भी हृदयङ्गम करा देती है।

ऊपर उद्धृत पद में सूर ने अपनी कल्पना से जो चित्र उपस्थित किया है, उसका लक्ष्य क्या है? पद में जिस सापत्न्य-ज्वाला तथा शृंगारी भावों का अभिव्यंजन हुआ है, क्या सूर के वास्तव में वही लक्ष्य थे? नहीं, इन भावों की लपेट में सूर एक अत्यन्त साधारण, पर साथ ही अत्यन्त अर्थ-गर्भ बात लिख रहे हैं। यह बात है मुरली-वादन के समय श्रीकृष्ण की त्रिभंगी मुद्रा। त्रिभंगी मुद्रा

का चित्र खींच देना साधारण कार्य है, पर शब्दों मे उसे उतार कर पृथ्वी की ही नहीं, निखिल ब्रह्माण्ड की त्रिभंगी गति का संदेश सुना देना असाधारण बात है। वैज्ञानिक कहते है कि पृथ्वी जब अपने अक्ष पर घूमती हुई सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाती है, तो उत्तरी ध्रुव पर २३॥ अंश झुकी हुई रहती है। पाठक पद को पढ़ जाता है, पर यह त्रिभंगी मुद्रा वाला चित्र कुछ देर विचार करने के अनन्तर उसकी समझ मे आता है। सूर की यही तो विशेषता है। वे पार्थिव मूर्त पदार्थ तक को चेतनता के सजीव आवरण मे लपेट कर उपस्थित करते है। वे अचर को चर बना देते हैं, प्रकृति को चिति मे परिवर्तित कर देते हैं।

मुरली के प्रसंग मे एक पद और देखियेः —

ग्वालिनि तुम कत उरहन देहु ।
बूझहु जाइ स्याम सुन्दर को जेहि विधि जुर्यौ सनेहु ।
बारे ही तैं भई विरत चित, तज्यौ गात गुन गेहु ।
एकहि चरन रही हौं ठाढ़ी हिम ग्रीषम ऋतु मेहु ।
तज्यौ मूल साखा स्यौं पत्रनि, सोच सुखानी देह ।
अगिनि सुलाकत मुर्यौ न मन अंग विकट बनावत बेह ॥
बकती कहा बाँसुरी कहि कहि, करि करि तामस तेहु ।
सूर स्याम इहि भाँति रिझै कै तुमहु अधर रस लेहु ॥
(१६४८ ना० प्र० स०)

इस पद मे केवल मुरली का बाह्यरूप अंकित हुआ है। किस प्रकार और कैसा उसका निर्माण हुआ—बस, यही बात सूर कहना चाहते हैं। पर, इतना कहने के लिये वे चेतन जगत की अत्यन्त मार्मिक भाव-विभूति को अंकित कर गये हैं। उसे चाहे लौकिक शृंगार की भूमि में रखकर अनुभव कीजिये और चाहे विशुद्ध पुष्टिमार्गीय भक्ति की भूमिका में पहुँचकर देखिये। अत्यन्त चेतन, सजग और भाव-भरित अवस्था है।

लौकिक शृङ्गार मे पत्नी पति के प्रेम को अनेक कृच्छ्र साधनायें करने के उपरान्त प्राप्त करती है। मुरली ने अपने जीवन-काल के प्रारम्भ से ही वैराग्य ग्रहण किया है। अपने गात्र, गुण और गृह सभी का ममत्व उसने परित्यक्तकर दिया। एक पैर से खड़ी रहकर उसने हिम, ग्रीष्म और वर्षा ऋतुओं में कठोर तपश्चर्या की। चिन्ता में उसका समग्र शरीर सूख गया। अपने मूल, शाखा और पत्रों तक का उसने परित्याग कर दिया। यही नहीं; उसने अग्नि परीक्षा भी दी। बाँस मे छेद करने के समय उसे अग्नि में तपाया गया—सूजा गर्म करके

झोंका गया—तब कहीं जाकर वह मुरली बनी. वह मुरली जिसे श्रीकृष्ण ने अपने अधरों पर रखकर सम्मान दिया। गोपिकाओं! क्रोध में आकर और वंशी-वंशी कहकर तुम उसका क्या तिरस्कार करती हो? यदि तुम्हारे अन्दर शक्ति है, तो तुम भी इसी प्रकार की साधना एवं तपस्या करके कृष्ण को रिझा लो और उनके अधरामृत का पान करो।

भक्ति की भूमिका में भगवान को रिझा लेना, अपनी ओर आकर्षित कर लेना कोई खेल नहीं है। बड़ी रगड़ लगानी पड़ती है (कोटि जनम लगि रगर हमारी। बरहुं संभु न तु रहौं कुमारी) सतत अभ्यास करना पड़ता है—बराबर जब एक टक रूप से उधर ही लौ लगी रहे, कष्टों का पहाड़ टूट पड़े, पर लगन न टूटे—तब कहीं जाकर भगवान का अनुग्रह प्राप्त होता है।

मुरली का निर्माण बताकर सूर हमें कहाँ-कहाँ ले गये। उनकी यही बान है, यही स्वभाव है। वह कवि-कुल-कमल-दिवाकर विशुद्ध भाव-धारा में अवगाहन करने वाला है। मानसिकता, सजीवता, स्फूर्तिमयता, चेतनता—यही तो उसका क्षेत्र है। जिसने चिति से लेकर महाचिति तक, अधम से लेकर परमचेतन तत्व तक अपने पाठकों को पहुँचा दिया, वह वास्तव में धन्य है, अजरामर है। ऐसे ही कवि शाश्वत काल तक मानव स्मृति में जीवित रहते है।

विरह-वर्णन में सूर ने बादलों पर भी ऐसी ही अलौकिक कल्पनायें की है। चित्र इतने सजीव और स्पष्ट हैं कि पढ़ते ही गोपियों की करुण दशा सामने आ जाती है। उमड़ते हुये बादलों को देख कर सूर कल्पना करते हैं :—

देखियत चहुँ दिसि तें घन घोरे।
रुकत न पौन महावत हू पै मुरत न अंकुस मोरे॥
बल बेनी बल निकसि नयन जल कुच कंचुकि बंद बोरे।
मनों निकसि बग पाँति दाँत उर अवधि सरोवर फोरे॥

(३६२१ ना० प्र० स०)

बादल क्या चले आ रहे है, मानों कामदेव के मतवाले हाथियों ने बंधन तोड़ कर उत्पात मचा रखा हो। हाथियों का श्यामल शरीर बादलों की काली-काली घटाओं के समान है। धीमी-धीमी बूँदों का पड़ना उनके गंडस्थल से चूते हुये मदजल के तुल्य है। पवनरूपी महावत झकोरों के अंकुश मार-मार कर इन्हें काबू में लाने का भरसक प्रयत्न करता है, पर ये उसके वशीभूत होने वाले कहाँ? बादलों में उड़ती हुई श्वेत बगुलों की पंक्ति ही मानों हाथियों के श्वेत दाँत है, जिन्होंने गोपियों के हृदय में रखे हुये कृष्ण के आगमन के

अवधि रूपी जलाशय को फोड़ डाला है। तभी तो उस जलाशय की जलधारा अनवरत आँसुओं के रूप में आँखों से बह रही है, जिसमें कुच-कंचुकी आदि सभी तरवतर हो रहे हैं।

सूर ने अनेक सांगरूपक बांधे हैं और अपनी कल्पना के आधार पर उनका सांगोपांग निर्वाह किया है। वंशी को रण-विजयी राजा का रूप देकर उन्होंने प्राचीन शासन-नियमों का तोड़ना, लज्जा-शीलादि रूपी सैनिक एवं हाथियों का भागना, मांडलिकों का प्रणत होना, घूँघट रूपी कवच का फटना, मानरूपी घोड़ों का छूट जाना आदि उन सभी बातों का वर्णन किया है जो युद्ध विजय के पश्चात् हुआ करती हैं। विरह को वन बनाकर उन्होंने दावानल, मृग, वधिक आदि सभी लाकर इकट्ठे कर दिये हैं। 'ऊधो भली करी तुम आये। विधि कुलाल कीने काचे घट ते तुम आनि पकाये' आदि पद में भी कुम्भकार के साथ अवा, अग्नि, घट और फिर घटों का राज्याभिषेक में उपयोग आदि सभी बातों का वर्णन किया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि सूर ने जिस प्रसंग को लिया है, उसका सम्पूर्ण चित्र उपस्थित कर दिया है। विनय सम्बन्धी पदों में से इसी प्रकार का एक पद नीचे दिया जाता है:—

अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल।
काम क्रोध कौ पहिरि चोलना कण्ठ विषय की माल॥
महा मोह को नेपुर बाजत निन्दा शब्द रसाल।
भरम भरयौ मन भयौ पखावज चलत कुसंगत चाल॥
तृष्णा नाद करत घट भीतर नाना विधि दै ताल।
माया कौ कटि फेंटा बाँध्यौ लोभ तिलक दयौ भाल॥
कोटिक कला काछि दिखराई जल-थल सुधि नहिं काल।
सूरदास की सबै अविद्या दूरि करौ नंदलाल॥

(ना० प्र० स० १५३)

इस पद में सूर ने नट का रूपक बाँधा है, जो नृत्य करने के समय ऊपर से चोली पहन लेता है और माला धारण करता है। उसके पैरों में नूपुर रुनझुन करते हुये रसीली ध्वनि पैदा करते हैं। कमर में फेंटा और मस्तक पर तिलक लगा होता है। मानव ने ही नट का यह स्वांग बना रखा है। काम क्रोध उस के पास चोली के रूप में है। कण्ठ में विषय-वासनाओं की माला पड़ी है। मोह के नूपुर बज रहे हैं। निन्दा रूपी सरस संगीत छिड़ा हुआ है। भ्रम से भरा हुआ मन पखावज का काम करता है। तृष्णा अन्दर से अनेक ताल देती हुई ध्वनि उत्पन्न कर रही है। माया का फेंटा कमर में बंधा है और मस्तक पर लोभ

के तिलक लगे है। अब कमी किस बात की है? मानव नट का पूर्ण रूप धारण किये हुए सुसज्जित रूप में अनेक कलायें दिखा रहा है और न जाने कब से दिखाता आ रहा है? यह अविद्या उसके साथ बहुत दिनों से चिपटी है; जब तक यह दूर नहीं होती, तब तक आत्मा इन्हीं स्वांगों में पड़ा रहेगा।

पद में नट के सम्पूर्ण चित्र के साथ आत्मा का संसारी रूप भी पूर्णतया सम्मुख आ जाता है। ऐसे चित्र सूरसागर में भरे पड़े है। कदाचित ही आपको ऐसा कोई पद प्राप्त होगा जो चित्रमयता से शून्य हो।

आलंकारिक वर्णन कल्पना का ही आधार लेकर चलते हैं। पीछे सूर की अलंकार-योजना पर जो कुछ लिखा गया है, उससे सूर की कल्पना शक्ति का अनुभव किया जा सकता है। अलंकारों के अतिरिक्त मनोरम भाव-सृष्टि भी कल्पना शक्ति की ही ऋणी है।

इस प्रकार सूर की कल्पना अलंकारों का प्रयोग करती हुई किसी न किसी भाव या चेष्टा का चित्र-निर्माण करती है। कहीं-कहीं वह निरावरण होकर भी भावाभिव्यजंन की साधिका बनी है। सूर के रचे हुये ये भाव-चित्र चार सौ वर्षों से भावुक हृदयों को आकर्षित करते रहे हैं। कल्पना-वैभव के इसी प्रकार के दृश्यों ने सूर को हिन्दी जगत में सूर्य के समान देदीप्यमान कर दिया है।

रस

रस-सम्प्रदाय के प्रथम प्रतिष्ठाता भरत मुनि हैं। उनके पश्चात् काव्य की आत्मा को लेकर परवर्ती आचार्यों ने कई सम्प्रदाय खड़े किये। अलंकार सम्प्रदाय के प्रवर्तकों मे आचार्य भामह, उद्भट और रुद्रट के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। दण्डी और वामन गुण तथा रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक है। कुन्तक वक्रोक्तिवादी, आनंद-वर्धन ध्वनिवादी तथा क्षेमेन्द्र औचित्यवादी कहे जाते है।

रस-निष्पत्ति पर भी आचार्यों मे विवाद उठ खड़ा हुआ। भट्ट लोल्लट ने निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति लगाया। जैसे कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार रस-निष्पत्ति-रूप कार्य के कारण भाव, विभाव आदि है। शंकुक ने निष्पत्ति को अनुमति मे परिणत किया। जैसे धूम्र से अग्नि का अनुमान होता है, वैसे ही भाव, विभावादि से रस की अनुमिति होती है। भट्ट नायक ने निष्पत्ति को भुक्ति समझा। उसकी सम्मति मे विभावादिक भोजक है और रस भोज्य है। शब्द में अभिधा, भोजकत्व और भावकत्व तीन शक्तियाँ हैं। अभिधा से वाच्यार्थ प्रकट होता है। इससे सहृदय काव्य-मर्मज्ञ शब्द की भोजकत्व शक्ति को ग्रहण

करता है और उसके पश्चात भावक वन कर उसका रसास्वादन करता है। अभिनव गुप्त ने निष्पत्ति का अर्थ लिया अभिव्यक्ति। उसके मतानुसार सुप्त स्थायी भाव विभावादि द्वारा अभिव्यक्त हो उठता है। अन्तिम मत अंत में विकास की प्रक्रिया के अनुसार सर्व-स्वीकृत हो गया। ब्रह्म स्वयं रस रूप है, आनंदमय है। काव्यानंद ब्रह्मानंद का सहोदर कहलाता है। वह काव्य ही क्या, जो आनन्द का उद्रेक न करे, रस-वर्षा द्वारा सहृदय के हृदय को आनंद से आप्लावित न कर दे। सूर का काव्य आनन्द का काव्य है। उनका सूरसागर वास्तव में रस का सागर है। इस काव्य की एक-एक पंक्ति में सरसता ओत-प्रोत है। यदि महापात्र विश्वनाथ की "वाक्यं रसात्मकं काव्यं" वाली काव्य-परिभाषा सत्य है, तो सूर-सागर का प्रत्येक पद, उसकी प्रत्येक पंक्ति काव्य की जीती जागती प्रतिमा है। अन्य कवियों की कृतियों में घटना-वर्णन की प्रधानता है। वहाँ रस का परिपाक बहुत कुछ घटना-क्रम पर अवलम्बित है। क्रम-भङ्ग होते ही रस-भङ्ग होना आवश्यक है। घटनात्मक चित्रण कवि को रस-भूमि से कुछ तो वहिर्मुख कर ही देता है। पर जहाँ भावमयी काव्य रचना हो, वहाँ एकान्त रूप से रस की ही सरस वर्षा होती रहती है। सूरसागर इसी सरस रस-वर्षा से आप्लावित हो उठा है।

जैसे दृश्यात्मक जगत में अनेकरूपता है, वैसे ही भाव-जगत में भी। विश्व की विविध दृश्यावलि के दर्शन जैसे सबको सुलभ नहीं होते, उसी प्रकार भाव की विस्तृत राशि का भी सबको बोध नहीं होता। मानव की सीमा-बद्ध अल्प शक्ति उसे विभु रूप धारण नहीं करने देती।

पर कवि, क्रान्तदर्शी कवि, इस सीमा का बहुत कुछ अतिक्रमण कर जाता है। बाह्य एवं आन्तरिक जगत में उसका गहरा प्रवेश होता है। इसी हेतु वह ऐसे भाव रूपों का परिचय प्राप्त करने में समर्थ होता है, जो सामान्य व्यक्तियों की पहुँच के बाहर होते हैं। पर कवि, जहाँ द्रष्टा है वहाँ स्रष्टा भी है। अनुभूति के साथ उसमें कला भी होती है। कलाकार कवि अपनी सृजनात्मक शक्ति से ही बहुरूप भावों का चित्रण करता है। इसी शक्ति द्वारा वह अपनी अनुभूति को सामान्य व्यक्तियों तक पहुचा देता है। उसकी हृदयानुभूति सर्व साधारण की हृदयानुभूति वन जाती है। कवि यदि रोता है, तो समस्त विश्व उसके साथ रोने लगता है और जब हँसता है, तो विश्व का एक-एक हृदय उसके साथ हँसने लगता है।

सूर-हृदय का भाव-जगत में बड़ा गहरा प्रवेश है। सूरसागर में भावों की जैसी विविधरूपता दिखलाई देती है, वैसी अन्यत्र नहीं। एक ही विषय से सम्बद्ध न जाने कितने भाव उन्होंने सूरसागर में चित्रित किये हैं। सूरसागर को पढ़ते हुए मनुष्य ऊबता नहीं, उसका प्रधान कारण यही है। वात्सल्य और शृंगार

सम्बन्धी भावों की तो सूरसागर में बाढ़-सी आ गई है। सूरसागर में ऐसे अनेक भाव हैं, जिन तक सामान्य कवियों की तो पहुँच भी नहीं हो सकी।

रस की आधार भूमि यही भाव है। जब भाव तन्मयता के कारण सांद्र एवं सघन रूप धारण करता है और मानव-हृदय देर तक आस्वादन करता हुआ उसमें रमण करने लगता है, तभी रस की सृष्टि होती है। जैसे भाव अनेक है, वैसे ही रस भी। सूर के पूर्व तक नव रसों की स्थापना हो चुकी थी। भरत मुनि के नाट्य सूत्रों में आठ ही रस है;—शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत। साहित्यदर्पण तक आते-आते 'शान्त' नाम के नवम रस को भी आचार्यों ने स्वीकार कर लिया था। पर रसों की गिनती नौ पर ही समाप्त नहीं हो जाती, यह तथ्य सूरसागर को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है। शृङ्गार साधारणतया दाम्पत्य भाव पर आधारित है, पर धार्मिक क्षेत्र में प्रकृति एवं पुरुष के रूप में चित्रित राधा और कृष्ण का शृङ्गार किस कोटि में रखा जायगा? भक्त हृदय उसे साधारण शृङ्गार कहने में हिचकेगा। कुछ विद्वानों ने इसे मधुर रस का नाम दिया है और इसका प्रारम्भ जयदेव के गीत गोविन्द से माना है। सूरसागर का शृंगार रस भी इसी कोटि में रखा जा सकता है। शान्त रस का सहवर्ती एक भक्ति रस भी है। कम से कम आचार्य वल्लभ द्वारा प्रवर्तित भक्ति रस की ही कोटि में आती है। उसका नाम ही रागानुगा अथवा उग्र भाव की भक्ति है। चैतन्य की उपासना-पद्धति को तो रसोपासना ही कहा जाता है। सूरसागर में यह भक्ति-रस भी प्रभूत मात्रा में है। इनके अतिरिक्त सूर ने एक नवीन रस का सृजन किया है, जो उसके पूर्ववर्ती कवियों के काव्यों में दृष्टिगोचर नहीं होता। यह वात्सल्य रस है। महापात्र विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण में वात्सल्य रस के आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव आदि का वर्णन किया है, पर उनके उदाहरण नहीं दिये। देते तब, जब काव्य में उन्हें किसी ने निबद्ध किया होता। हमारी सम्मति में इस रस की प्रतिष्ठा सूर ने ही अपने काव्य में सर्वप्रथम की और इसकी प्रेरणा उन्हें आचार्य वल्लभ की कृष्ण के बाल रूप की उपासना से प्राप्त हुई। वात्सल्य रस सूर के हृदय कमल से निकल कर म्लान बने हुये लोक-मानस को आप्यायित करने लगा।

वात्सल्य रस

वात्सल्य रस के संयोग तथा वियोग दो पक्ष हैं। संयोग वात्सल्य के तो नहीं, पर वियोग वात्सल्य के तीन भेद किये जा सकते हैं:—प्रवास को जाते हुए,

प्रवास में स्थित तथा प्रवास से आते हुए। वियोग में करुणा विप्रलम्भ एक चौथा भेद भी हो सकता है) नीचे हम इन सभी का वर्णन सूरसागर के पदों के आधार पर करेंगे।

संयोग वात्सल्य:—रस की निष्पत्ति में स्थायी भाव, विभाव (आलम्बन, आश्रय एवं उद्दीपन) अनुभाव तथा संचारी भावों की अपेक्षा होती है। संयोग-वात्सल्य रस में स्थायी भाव वाल-प्रेम है; आलम्बन बालक, आश्रय माता, पारिवारिक व्यक्ति, अन्य सम्बन्धी इत्यादि, उद्दीपन बालक का शारीरिक सौन्दर्य, बुद्धि-चातुर्य; बाल-केलि आदि, अनुभाव प्रसन्नता, हास्य, गद्गद हो जाना, गोद में लेना, चूमना आदि और संचारी भाव पुलक, स्मृति, हर्ष, विस्मय आदि हैं। सूर ने इस संयोग वात्सल्य रस के समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्गों का वर्णन किया है। नीचे लिखे पदों में आभूषण धारण किये हुये कृष्ण की छवि और उससे यशोदा के हृदय में उत्पन्न सुख की राशि का अनुभव कीजिये:—

आँगन स्याम नचावही जसुमति नँदरानी।
तारी दै-दै गावही मधुरी मृदुवानी॥
पायनु नूपुर वाजई कटि किंकिन कूजै।
नन्हीं एड़ियन अरुणाता फलविम्ब न पूजै॥
जसुमति गान सुनै श्रवण तव आपुन गावै।
तारी वजावत देखि ही पुनि तारी वजावै॥
केहरि नख उर पर लसै सुठि सोभाकारी।
मनौं स्याम घन मध्य में नव ससि उजियारी॥
गभुआरे सिर केस है ते वाँधि सँवारे।
लटकन लटकै भाल पर विधु मधि गन तारे॥
कठुला कराठ चिवुक तरे मुख हँसनि विराजै।
खञ्जन, मीन, सुक आनिकैं मनौं परे दुराजैं॥
जसुमति सुतहि नचावही छवि देखत जियतैं।
सूरदास प्रभु स्याम के सुख टरत न हियतें॥ २० ॥

—पृष्ठ ११७ (७५२ ना० प्र० स०)

हौ वलि जाउँ छवीले लाल की।
धूसरधूरि घुटुरुवनि रेंगनि बोलनि वचन रसाल की॥

छिटकि रही चहुँ दिसि जु लटुरियाँ लटकन लटकत भाल की।
मोतिन सहित नासिका नथुनी कण्ठ कमल दल माल की॥
कछुकै हाथ, कछु मुख माखन, चितवनि नैन बिसाल की।
सूरज प्रभु के प्रेम मँगन भई ढिग न तजति ब्रजबाल की॥ ९६॥

—पृष्ठ ११४ (७२३ ना० प्र० स०)

कृष्ण की मोहक छवि को देख कर यशोदा तथा अन्य ब्रज-बालायें प्रेम में मग्न हो रही हैं। कृष्ण का सामीप्य छोड़ने को किसी का मन नहीं करता। इन पदों में गभुआरे (गर्भ के) केशों का इधर-उधर छिटकना, नूपुर तथा कर्धनी का बजना, गाना और नाचना, विशाल नेत्र, तोतली बोली तथा आभूषणों की शोभा उद्दीपन विभाव हैं। छवि का देखना, प्रेम मे मग्न होना; सामीप्य न छोड़ना अनुभाव है। यह प्रेम शृंगार के अन्तर्गत नहीं आ सकता। यह वात्सल्य रस का ही स्थायी भाव है।

एक उदाहरण और लीजियेः—

किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत।
मणिमय कनक नन्द के आँगन मुख प्रतिबिम्ब पकरिबे धावत॥
कबहुँ निरिख हरि आप छाँह कों करसों पकरन को चित चाहत।
किलकि हँसत राजत द्वै दतियाँ पुनि पुनि तिहिं अवगाहत॥
कनक भूमि पर कर पग छाया यह उपमा इक राजत।
प्रति कर प्रति पद प्रति मनि बसुधा कमल बैठकी साजत॥
बाल दशा सुख निरखि जसोदा पुनि पुनि नन्द बुलावत।
अंचरा तर लै ढाँकि सूर के प्रभु कों दूध पियावत॥ १०१॥

—पृष्ठ ११५ (७२८ ना० प्र० स०)

इस पद मे अपने मुख प्रतिबिम्ब को देखकर बालक-कृष्ण का उसे पकड़ने दौड़ना, अपनी छाया को हाथ से पकड़ने की इच्छा, हँसते हुये आगे के दो दाँतों का चमकना, कमल-समान सुन्दर हाथों और पैरों की शोभा आदि का अतीव स्वाभाविक वर्णन हुआ है। सूर की यह अनुपम विशेषता है कि वह स्वाभाविक बालदशाओं के चित्रण द्वारा सहज ही पाठकों के मन में रसोद्रेक कर देता है। ये प्रकृत बालवृत्तयाँ उद्दीपन का काम करती हैं। यशोदा का इन वृत्तियों को देख कर सुख प्राप्त करना, बार-बार नन्द को बुलाना, अंचल मे ढाँक कर कृष्ण को दूध पिलाना अनुभाव हैं।

सूर ने बाल दशा का अतीव मनोमुग्धकारी चित्रण किया है। नीचे के पद में बालकों को सुलाने का एक दृश्य देखियेः—

जसोदा हरि पालने झुलावै।
लहरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ सोइ कछु गावै।
मेरे लाल को आउ निंदरिया, काहे न आनि सुवावै।
तू काहे न वेगि सी आवै तोकों कान्ह बुलावै ॥
कबहुँ पलक हरि मूँदि लेत हैं कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै ह्वै रही करि करि सैन बतावै ॥
इहि अन्तर अकुलाइ उठे हरि जसुमति मधुरे गावै।
जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ सो नन्द भामिनि पावै ॥ ३८ ॥

पृष्ठ १०६ (६६१ ना० प्र० स०)

गीत गा-गा कर बच्चों को पालने मे झुलाना और धीरे-धीरे थपकी देना उन्हें सुलाने के लिये अचूक साधन हैं। यशोदा इन्ही साधनों का प्रयोग कर रही है। कृष्ण को नींद आने लगी है, अतः यशोदा अब चुप हो गई। उसे किसी से कुछ कहना है, तो इशारों द्वारा कहती है। पर अभी कृष्ण पूर्णतया सोये नहीं, अकुला कर जग-से गये। यशोदा का मौन भंग हुआ। वह मीठी तान से गा-गाकर फिर सुलाने लगी। कितना घरेलू राग है। बाल-बच्चे वाले गृहस्थों की दिनचर्या मे यह कितनी सामान्य बात है। पर इसी सामान्य बात का सूर ने कितना सजीव और स्वाभाविक वर्णन किया है। सूरसागर मे ऐसे घरेलू एवं प्रकृत चित्रों का ढेर का ढेर है, जिन्हें देख-देखकर दर्शक अघाते नहीं। बालदशा के न जाने कितने विभिन्न रूप सूर को अपनी बन्द ऑखों से दिखलाई देते थे। बाल कृष्ण ऑगन में घुटनों के बल चल रहे हैं। कभी हँसते हैं; कभी माँ के मुख की ओर देखते हैं; कभी गिर पड़ते हैं और गिरकर फिर दौड़ने लगते है। नन्द और यशोदा दोनों इस दृश्य को देखकर उन्हें अपनी-अपनी ओर बुलाने लगते हैं और गोद मे उठाकर बालकेलि का आनन्द प्राप्त करते है।

कबहुँक दौरि घुटुरुवनि लटकत' गिरत परत फिरि धावै री।
इतते नन्द बुलाइ लेत हैं उतते जननि बुलावै री ॥
दंपति होड करत आपस में स्याम खिलौना कीनों री।
सूरदास प्रभु ब्रह्म सनातन सुत हित करि दोउ लीनों री। ८६ ॥

—पृष्ठ ११३ (७१६ ना० प्र० स०)

कृष्ण की बाल-छवि का एक चित्र और देखिये:—

सोभित कर नवनीत लिये।

घुटुरन चलत रेनु तन मंडित, मुख दधि लेप किये ॥ ६१ ॥ पृष्ठ ११३ (७१७ ना० प्र० स०)

कृष्ण की बाल-छवि में सूर ने मुख, नेत्र, भुजा, रोमावली, केश आदि सभी का मनोहर चित्रण किया है। कृष्ण के वेशविन्यास और आभूषणों का भी सुन्दर वर्णन पाया जाता है। कुछ उदाहरण लीजिये:—

मुख-लाला हौं वारी तेरे मुख पर।

कुटिल अलक मोहन मन बिहँसत, भ्रकुटि विकट नैननि पर ॥
दमकनि द्वै-द्वै दँतुलियाँ बिहँसति मनु सीपिज घर किय वारिज पर।
लघु लघु लट सिर घूँघरवारी लटकि लटकि रह्यौ लिलार पर ॥
लोचन लोल कपोल ललित अति नासिका को मुक्ता रद छद पर।
सूर कहा न्यौछावरि करिये अपने लाल ललित लर ऊपर ॥ ८६ ॥

—पृष्ठ ११२ (७११ ना० प्रा० सा०)

नेत्र—बलि जाऊँ स्याम, मनोहर नैन।

अब चितवत मोहन करि अँखियन, मधुप देत मनु सैन ॥६४॥

—पृष्ठ ११३ (७२१ ना० प्र० स०)

भुजा—स्याम भुजा की सुन्दरताई।

बड़े बिसाल जानु लौं परसत इक उपमा मन आई।
मनौं भुजंग गगन ते उतरत अधमुख रह्यौ झुलाई ॥२७॥

—पृष्ठ १८८ (१२५६ ना० प्र० स०)

रोमावली—चतुर नारि सब कहत विचारि।

रोमावली अनूप विराजति जमुना की अनुहारि ॥
उर कलिंद ते धँसि जलधारा उदर धरनि परवाह।
जाति चली अति ते जलधारा नाभी ह्रद अवगाह ॥
भुजा दण्ड तट सुभग घटा घन वनमाला तरुकूल।
मोतिनमाल दुहूधाँ मानौं फेनल हरि रस फूल ॥
सूर स्याम रोमावलि की छवि देखति करति विचार।
बुद्धि रचति तरि सकति न सोभा प्रेमविवस ब्रजनारि ॥२३॥

—पृष्ठ १८८ (१२५५ ना० प्र० स०)

कृष्ण बारह वर्ष की बाल आयु तक ब्रज में रहे। इस आयु में वह रोमावली कैसे निकल पाती, जिसका वर्णन ऊपर के पद में है? अतः यहाँ साधारण

रोमावली का अर्थ ग्रहण करना चाहिये। पद के अन्तर्गत सांगरूपक अलंकार का बड़ा सुन्दर निर्वाह हुआ है।

केश—अलकन की छवि अलिकुल गावत।

खंजन मीन मृगज लज्जित भये नैन नचावनि गतिहि न पावत ॥४६॥

—पृष्ठ १६० (१२८३ ना० प्र० स०)

कृष्ण की बालछवि के वर्णन में नीचे लिखा पद ध्वन्यात्मक शब्दचित्र, रूपचित्र तथा भावचित्र तीनों के सुन्दर त्रिवेणी सङ्गम के लिए प्रख्यात है—

छोटी छोटी गुड़ियाँ अँगुरियाँ छोटी छबीली,
नख ज्योति मोती मानों कमल दलन पर।
ललित आँगन खेलै, ठुमुक-ठुमुक डोलै,
झुनुक-झुनुक बाजै पैंजनी मृदु मुखर॥
किंकिनी कलित कटि, हाटक रतन जटित,
मृदु कर कमल पहुँचियाँ रुचिर वर।
पियरी पिछौरी झीनी और उपमा भीनी,
बालक दामिनि मानो ओढ़े वारौ वारिधर।
उर बघनहा, कंठ कठुला, झडूलेबार,
बेनी लटकन, मसि विन्दु मुनि मनहर।
अंजन रंजित नैन, चितवनि चितचोर,
मुख सोभा पर वारौं अमित असमसर॥
चुटुकि बजावति, नचावति नन्द घरनि,
बाल केलि गावत मल्हावति प्रेमसुघर।
किलकि किलकि हँसे, द्वै द्वै दँतुरियाँ लसैं,
सूरदास मन बसै तोतरे बचन वर॥३३॥

—पृष्ठ ११६ (७६६ ना० प्र० स०)

छोटी छोटी अङ्गुलियाँ, नख ज्योति, कटि में किंकिणी, हाथों में पहुँची, पीली पिछौरी, व्याघ्रनख, कठुला, गर्भ के घुँघराले बाल, काजल का डिठौना, अंजन-रञ्जित नेत्र आदि सब बातें मिल कर एक रूप-चित्र उपस्थित कर देती हैं। ठुमुक-ठुमुक डोलै, झुनुक-झुनुक बाजै, किलकि-किलकि हँसे आदि द्वारा शब्दों की ध्वन्यात्मकता प्रकट होती है, जिससे शब्द-चित्र का निर्माण होता है। संपूर्ण पद में वाल्य-भाव का सुन्दर चित्र है,

कृष्ण की इस बाल-छवि में जहाँ अनुपम शारीरिक सौन्दर्य प्रकट हुआ है, वहाँ उसमें आन्तरिक बुद्धि-चातुर्य का सौन्दर्य भी कम नहीं है। छोटा-सा

बालक कृष्ण एक दिन संध्या के समय झुटपुटे में एक गोपी के घर में घुस गया। दही में हाथ डाला ही था कि गोपी ने पकड़ लिया। गोपी कहती है:—

स्याम कहा चाहत से डोलत।
बूझे हू ते बदन दुरावत सूधे बोल न बोलत॥
सूने निपट अँध्यारे मन्दिर दधि भाजन मे हाथ।
अब कहि कहा बनैहौ ऊतर कोऊ नाहिंन साथ॥

बालक कृष्ण अपने सहज बुद्धि चातुर्य से उत्तर देता है:—

मैं जान्यों यह घर अपनों है या धोखे में आयो।
देखत हौं गोरस में चींटो काढ़न कों कर नायो॥ ४७॥—पृष्ठ १३३
(८६७ ना० प्र० स०)

उत्तर सुन कर गोपी उस बालक की मुख-शोभा पर मुग्ध हो गई और एक ओर मुड़ कर हँसने लगी:—

"सुनि मृदु वचन निरखि मुख शोभा ग्वालिनि मुरि मुसकानी।"

नीचे लिखा पद भी इस सम्बन्ध मे अत्यन्त प्रसिद्ध है:—

मैया में नहिं माखन खायो
ख्याल परै ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो॥
देखि तुही सींके पर भाजन ऊँचे पर लटकायो।
तुही निरखि नान्हे कर अपने मैं कैसे करि पायो॥
मुख दधि पोंछि कहत नंदनन्दन दोना पीठि दुरायो।
डारि साँटि मुसुकाइ तबहिं गहि सुत को कंठ लगायो॥ ६५॥ ६५२—पृष्ठ
(१३६ ना० प्र० सा०)

कृष्ण का बुद्धि-चातुर्य मुख पर चिपटे हुए दही को पोंछने, दही के दोने को पीठ पीछे ले जाने तथा इस तर्क के करने में प्रकट हुआ है कि उनके छोटे-छोटे हाथ ऊँचे सींके पर रखे हुए दही तक कैसे पहुँच सकते हैं! यही बातें इस स्थल पर वात्सल्य रस की उद्दीपन सामग्री का काम करती हैं। लकड़ी को डाल देना, और कृष्ण को कण्ठ से लगा लेना अनुभाव हैं। मुसकाना संचारी भाव है। इस प्रकार पद में वात्सल्य रस की पूर्ण निष्पत्ति है।

बुद्धि-चातुर्य को अभिव्यञ्जित करने वाले पद भी सूरसागर में अनेक हैं। एक बार गोपी कृष्ण को पकड़ कर यशोदा के पास ले आई। आई थी बेचारी शिकायत करने, पर उलटी जाल मे फँस गई। कृष्ण उसकी शिकायत यशोदा से करते हुए कहने लगे:—

"सुन मैया याके गुन मोसों, इन मोंहिं लियो बुलाई।
दधि में परी सैंत की चीटी, मोपै सबै कढ़ाई॥
टहल करत याके घर की मैं, यह पति संग मिलि सोई॥"

(६४० ना०प्र०स०)

इस कथन को सुन कर कृष्ण के बाल-चातुर्य पर किसको हँसी न आ जायेगी। इसीलिये सूर लिखते हैं:—

"सूर वचन सुनि हँसी जसोदा ग्वालि रही मुख गोई" ॥८४॥६४०—पृष्ठ

(१३८ ना० प्र० स०)

इस प्रकार कृष्ण कई बार पकड़े गये। एक बार बुरे फँसे। गोपी पकड़ कर कहने लगी:—

"अब तो घात परे हौ ललना तुम्हें भले मैं चीन्हीं॥
दोउ भुज पकरि कह्यौ कित जैहौ माखन लेउँ मँगाइ॥६२॥६१५—पृष्ठ

(१३५ ना० प्र० स०)

कृष्ण भला मक्खन कहाँ से लाकर देते! वही, किसी के घर फिर माखन-चोरी करनी पड़ती? इसीलिए नीचे लिखा उत्तर देकर वे बाल-बाल बच गये। कृष्ण कहते हैं:—

"तेरी सौं मैं नेकु न खायो, सखा गये सब खाइ।" (६१५ ना० प्र० स०)

जब खाया ही नहीं, तो देना कैसा? जिन्होंने खाया है, उनसे ले! गोपी इस उत्तर को सुन कर हँस पड़ी और उसने कृष्ण को हृदय से लगा लिया।

कृष्ण के इसी चातुर्य को देखकर सूर पूँछता है:—

"कहाँ तुम यह बुद्धि पाई स्याम चतुर सुजान!" (८८७ ना० प्र० स०)

कृष्ण का यही बाह्य एवं आन्तरिक सौंदर्य गोपियों को मोहित कर रहा है। प्रातः काल हुआ नहीं कि गोपियाँ कृष्ण को देखने चल पड़ीं:—

"कैसी टेव परी इन गोपिन उरहन के मिस आवति प्रात॥"-७१, पृष्ठ१३६

(६२६ ना० प्र० स०)

"सूर स्याम को चोरी के मिस देखन कों यह आई" ॥८७॥ —पृष्ठ १३८

(६४३ ना० प्र० स०)

गोपियों की इस मुग्धावस्था का वर्णन कृष्ण स्वयं यशोदा के सम्मुख करते हुए कहते हैं:—

"मोंहिं कहत जुवती-सब चोर।
खेलत रहौं कतहुँ मैं बाहिर, चितै रहति सब मेरी ओर॥

बोलि लेत भीतर घर अपने मुख चूमति भरि लेत अंकोर ।
माखन हेरि देत अपने कर कछु कहि विधि सों करति निहोर ॥
जहाँ मोहि देखति तहँ टेरति मैं नहिं जात दोहाई तोर ॥५६॥ पृष्ठ १४८
(१०१६ ना० प्र० स०)

कृष्ण के इस मोहक रूप पर समस्त व्रज सौजान से फ़िदा होता था। कृष्ण में कुछ ऐसा ही आकर्षण था। तभी तो सूर लिखता हैः—

"नागर नवल कुँवर वर सुन्दर मारग जात लेत मन गोइ ।
सूर स्याम मन हरन मनोहर गोकुल बसि मोहे सब लोइ ॥८३॥-पृष्ठ १२६
(८३८ ना० प्र० स०)

मातृ-हृदय—वात्सल्य रस का पूरा अनुभव मातृ-हृदय ही कर सकता है। जिसको मातृ-हृदय नहीं मिला है, वह चाहे पुरुष हो या स्त्री, इस रस का सम्पूर्ण अनुभव नहीं कर सकेगा। सूर को अतीव स्नेह-प्रवण मातृ-हृदय मिला था। सूरसागर में यह यशोदा के वाक्यों मे प्रकट हुआ है। नन्द पिता के स्थान पर हैं। पर वे भी मातृहृदय से सम्पन्न हैं। पीछे जो पद वात्सल्य रस के उदाहरण-स्वरूप उद्धृत किये गए हैं, उनमे मातृ-हृदय का प्रतिविम्ब निहित है। आगे उद्धृत पदों से यह भाव और भी अधिक स्पष्ट हो जायगा।

माँ का हृदय ममत्व एवं आशाओं की मूर्ति है। बच्चे का थोड़ा-सा भी कष्ट माँ के लिए असह्य होता है। वह बच्चे का संकट अपने ऊपर लेकर उसे सुखी देखना चाहती है। नन्हा बालक बड़ा होकर उसे माँ कहने लगे, आँगन मे रुनझुन करता हुआ ठुमुक-ठुमुक डोलने लगे, तोतली वाणी से उसे रिझावे और कुछ माँगने के लिए झगड़ा करे—माँ की कुछ ऐसी ही अभिलाषायें होती हैं। नीचे लिखे पदों में ये अभिलाषायें कितने सुन्दर एवं प्रकृत रूप मे प्रकट हुई हैंः—

मेरो नान्हरिया गोपाल वेगि बड़ो किनि होहिं ।
इहि मुख मधुरे बैन हँसि कबहूँ जननि कहौगे मोहिं ॥६६॥
(६६३ ना० प्र० स०)

जसुमति मन अभिलाष करै ।
कब मेरौ लाल घुटुरुवन रेंगै कब धरनी पग द्वैक धरै ॥
कब द्वै दाँत दूध के देखों कब तुतरे मुख बैन झरै ।
कब नन्दहि कहि बाबा बोलै कब जननी कहि मोहिं ररै ॥
कब मेरो अँचरा गहि मोहन जोइ सोइ कहि मोसों झगरै ।
कब धौं तनक-तनक कछु खैहै अपने कर सों मुखहि भरै ॥७०॥पृष्ठ ११०
(६६४ ना० प्र० स०)

इन पदों मे बच्चे का भावी रूप तथा आगे घटित होने वाली बातें ही उद्दीपन का कार्य कर रही हैं। बालक के दु ख की आशङ्का से माँ का हृदय कैसा धड़कने लगता है, यह कनछेदन संस्कार के समय स्वाभाविक रूप से व्यञ्जित हुआ है। सूर लिखते हैं—

कान्ह कुँवर को कनछेदनों है हाथ सुहारी भेली गुर की।
विधि विहँसे हर हँसत हेरि हरि जसुमति के धुकधुकी उर की ॥
(७६८ ना० प्र० स०)

कर्णछेदन से कृष्ण को कष्ट होगा, इसी को अनुभव करके यशोदा का हृदय धड़क रहा है। यही नहीं, कर्णछेदन होते देख कर "लोचन भरि आये माता के कनछेदन देखत जिय मुरकी !" जिस कवि की दृष्टि इतनी सूक्ष्म एवं सामान्य बातों तक पहुँच जाय, वह धन्य है।

एक बार कृष्ण बलदाऊ के साथ खेलने चले गये। खेलते-खेलते झगड़ा हो गया और बलदाऊ कह बैठे—'तुझे तो यशोदा ने दाई को दो पैसे देकर मोल लिया है।" कृष्ण बिगड़ गये और रोते-रोते माँ के पास जाकर शिकायत करने लगे—

'मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो।
मोसों कहत मोल को लीनो तू जसुमति कब जायो ॥
कहा करों एहि रिस के मारे खेलन हों नहिं जात।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता को है तुम्हरो तात ॥
गोरे नन्द, जसोदा गोरी, तुम कत स्याम शरीर।
चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब सिखै देत बलवीर ॥
तू मोहीं को मारन सीखी दाउहि कबहुँ न खीजै।
मोहन को मुख रिस समेत लखि जसुमति सुनि सुनि रीझै ॥
सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई जनमत ही को धूत।
सूर स्याम मो गोधन की सों हों माता तू पूत ॥८८॥ —पृष्ठ १२६
(८२३ ना० प्र० स०)

इस पद में कृष्ण के शिकायत वाले वचन ही वात्सल्य रस के उद्दीपक हैं। यशोदा का रीझना और कृष्ण को अपना पुत्र बताना अनुभाव हैं। शपथ आदि संचारी भाव हैं। अन्तिम दो पंक्तियों में मातृहृदय की सुन्दर अभिव्यंजना है।

बलराम कृष्ण से बड़े थे। माँ का स्नेह सामान्यतः सब पुत्रों पर समान ही होता है, पर छोटे पुत्र पर कुछ अधिक देखा गया है। कृष्ण बलराम तथा सखाओं के साथ एक दिन आँख मिचौनी खेल रहे थे। कृष्ण की आँखें मूँदी गईं

और बलराम तथा सखा इधर-उधर भाग कर छिप गये। यहाँ मा का हृदय देखिये, यशोदा कृष्ण को चुपचाप धीरे से बता देती है कि बलराम उस घर में छिपे हैं— "कान लागि कह जननि जसोदा वा घर में बलराम।" और फिर कृष्ण को विजयी देख कर कहती हैः—"सूरदास हँसि कहत जसोदा जीत्यौ है सुत मोर।" गोपियाँ जब दधिचोरी का उलहना लेकर आती है तो यशोदा कहती हैंः— "मेरो गुपाल तनक सो कहा करि जानैं दधि की चोरी।" ऐसा कहकर फिर कृष्ण से कहती हैंः—"मेरे लाड़िले हो जननि कहत जनि जाहु कहूँ।' तथा "आनौं सखा बुलाइ आपने यहि आँगन खेलौ मेरे बारे।" गोपियों के घर जाने की क्या आवश्यकता है? मेवा-मिष्टान्न, माखन जितना चाहो, खाओ। फिर भी गोपियाँ नहीं मानीं, उलहने पर उलहने देने लगीं, तो यशोदा को मातृ-ममता के अनुकूल कुछ क्रोध आ गया। वे कहने लगींः—"कहा जाने मेरो बारो भोरो झुकी महरि दै दै मुख गारि।" और 'ग्वालिनि स्याम तनु देखि री आपु तन देखिये। भीति जब होइ तब चित्र अवरेखिये।' उलहने सुनते-सुनते यशोदा को एक बार कृष्ण पर भी क्रोध आ गया। कृष्ण ऊखल से बाँध दिये गये। जब हिचकी भर-भर कर रोने लगे, तो गोपियाँ यशोदा को निठुर कहने लगीं। इस पर यशोदा कहती हैं—

"कहन लगी अब बढ़ि बढ़ि बात।
ढोटा मेरो तुमहिं बँधायो तनकहि माखन खात॥" (९७३ ना०प्र०स०)

इन शब्दों में सूर का मातृ हृदय से कितना घनिष्ट परिचय प्रकट हो रहा है। नीचे लिखी पंक्तियों मे भी मातृहृदय की सफल अभिव्यंजना हुई है—

मेरे लाल के प्रान खिलौना ऐसो को लै जैहै री।
नेंक सुनन जो पैहों ताकों, सो कैसे ब्रज रैहै री॥ ५००॥—पृष्ठ १६५
(१३२९ ना० प्र० स०)

मैं पठवत अपने लरिका कों आवै मन बहराय।
सूर स्याम मेरौ अति बालक मारत ताहि रिंगाय ॥३३॥—पृष्ठ १६६
(११२८ ना० प्र० स०)

संध्या समय कृष्ण को घर आने में कुछ भी विलम्ब हो जाता है, तो यशोदा और रोहिणी व्याकुल हो उठती हैं। काली मर्दन और प्रलम्बवध, धेनुकवध, दावानल आदि प्रसगों मे भी माता का हृदय द्रवीभूत हो उठा है।

वात्सल्य रस के अन्तर्गत हमने यशोदा के मातृहृदय की अभिव्यक्ति में जो इतना अधिक लिखा है, वह केवल इसलिये कि वात्सल्य का पूरा-पूरा अनुभव मातृ-हृदय को ही होता है। सूर इस मातृ-हृदय का सूक्ष्म पारखी था। न केवल यशोदा और रोहणी के ही, प्रत्युत राधा-जननी (वृषभानु की पत्नी) के मातृ-हृदय

की भी उसने झलक दिखलाई है। जब व्रज मे घर-घर राधा और कृष्ण के प्रेम की चर्चा चलने लगी; तो वृषभानु की पत्नी को बुरा मालूम हुआ। उसने राधा को डॉट फटकार वताई। इस पर राधा विगड़ गई। पर माँ पर तो सबका वल चल जाता है। अतः राधा इस बात को बाबा वृषभानु से कहने की धमकी देने लगी। माँ भी थोड़ी झुकी और मन ही मन कहने लगी:—

वड़ी भई नहिं गई लरिकाई।
बारे ही के ढङ्ग आजु लों सदा आपनी टेक चलाई॥
अवही मचल जायगी तव पुनि कैसे मोसों जाति बुझाई!
मानी हार महरि मन अपने बोलि लई हँसि कें दुलराई॥५७॥ २६५—पृष्ठ
(२३२६ ना० प्र० स०)

राधा का यह मचलना और अपनी टेक चलाना अन्त तक बना रहा। राधा के इस चरित्र का सूर ने सफल निर्वाह किया है।

राधा अब और भी रूठ गई। बालक को मनाओ तो वह और भी अधिक रोने के ढङ्ग करने लगता है। राधा रूठ कर कहती है:—

खेलन को मैं जाऊँ नहीं।
और लरिकिनी घर-घर खेलति मोही को पै कहति तुही॥
कबहूँ मोकों कछू लगावति कबहुँ कहति जिनि जाहु कहीं।
सूरदास बातैं अनखोंहीं नाहिंन मोपै जाति सहीं॥४८॥—पृष्ठ २६४
(२३२७ ना० प्र० स०)

राधा की क्रोध भरी अनखोंहीं बातें सुन कर माता का हृदय पिघल गया। सूर लिखते हैं:—

मन ही मन रीझति महतारी।
कहा भई जो बाढ़ि तनक गई अब ही तौ मेरी है बारी।
झूठे ही वह बात उड़ी है राधा कान्ह कहत नर नारी॥
रिस की बात सुता के मुख की सुनत हँसी मन ही मन भारी॥
अब लों नहीं कछू इहि जान्यों, खेलत देखि लगावै गारी।
सूरदास जननि उर लावति मुख चूमति पोंछति रिस टारी॥४९॥
(२३२८ ना० प्र० स०)—पृष्ठ २६४

सूर का मातृ-हृदय का यह चित्रण और वात्सल्य रस का वर्णन हिन्दी साहित्य में अमर रहेगा। कृष्ण के बाह्य अङ्गों एवं चेष्टाओं के साथ सूर ने उनके हृदय की नाना मनोरम वृत्तियों का उद्घाटन किया है। बाल्यावस्था की आन्तरिक मनोदशाओं के सफल चित्रण के साथ उन्होंने मातृ-हृदय की बड़ी गहरी अनुभूति प्रकट की है। स्वर्गीय शुक्ल जी के शब्दों मे बाल-हृदय का तो वे कोना-कोना

झाँक आये है, पर हमारी सम्मति में मातृ-हृदय का भी कोई कोना उनकी दृष्टि से ओझल नहीं रहा है।

वियोग वात्सल्य

(१) प्रवास को जाते हुये—

मातृ-हृदय की सबसे अधिक आकर्षणमयी व्यञ्जना कृष्ण के मथुरा चले जाने पर हुई है। अक्रूर मथुरा से कृष्ण और बलराम को लेने आये हैं। कंस ने उन्हें धनुपयज्ञ देखने के लिए बुला भेजा है। अक्रूर के आते ही ग्वाल-बाल एकत्रित हो गये। सुमन-समान सुकुमार कृष्ण और बलराम को अक्रूर ने गोद में उठा लिया और दोनों भाई भी "बोलत नहीं, नेंक चितवत नहीं, सुफलक सुत सों पागे।" पर, यशोदा, पुत्रों के मथुरा गमन की बात सुनते ही व्याकुल हो गई। जैसे चकोरी चन्द्रमा की ओर देखते हुए भी तृप्त नहीं होती, वैसे ही जिन पुत्रों की मुख-छवि देखते-देखते अघाती नहीं, देखने के बाद फिर देखने की इच्छा बनी रहती है, उनको एकबारगी अपने सामने से हट जाने का अनुभव करके यशोदा का हृदय रो पड़ा। वह कहती है:—

"मेरे माई, निधनी कौ धन माधौ॥"

बारम्बार निरखि सुख मानत तजत नहीं पल आधौ॥" (३५८६ ना०प्र०स०)

"गोकुल कान्ह कमल दल लोचन हरि सबहिनु के प्राण।

कौन न्याव अक्रूर करत है कहै मथुरा लै जाव॥" (३५८ ना० प्र० स०)

कृष्ण के वियोग का अनुभव करके यशोदा अक्रूर से कहती है:—

"जसुदा कहै सुनहु सुफलकसुत मैं इन बहुत दुखिन सों पारे।

ऐ कहा जानहिं सभा राज कौं ऐ गुरुजन विप्रौं न जुहारे॥

मथुरा असुर समूह बसत हैं, कर कृपाण जोधा हथियारे।

सूरदास ऐ लरिका दोऊ, इन कब देखें मल्ल अखारे॥४॥" पृष्ठ ४५७

(३५८६ ना० प्र० स०)

जो कृष्ण गोकुल में रहते हुए गुरुजन और ब्राह्मण तक को प्रणाम नहीं करते, वे मथुरा की राजसभा का आचार-व्यवहार क्या समझेंगे? (समासोक्ति द्वारा यह भी ध्वनि निकलती है कि यह कंस को तुच्छ समझकर, निरादृत करके मार डालेंगे।) मथुरा में हथियार बन्द असुरों का समूह है, इससे यशोदा कृष्ण को वहाँ भेजने में अनिष्ट की आशंका करने लगती है और कहती है:—"अक्रूर जो कुछ राजकीय धनांश हमारी ओर निकलता हो, उसे लेखा करके ले लो। बुलाया ही है, तो नन्द महर तुम्हारे साथ चले जायँगे। लड़कों के जाने की वहाँ क्या आवश्यकता है? कंस मुझे भले ही बधन में डाल दे, पर कृष्ण को तो मैं

किसी प्रकार नहीं भेज सकती। "सूर स्यामघन हो नहि पठऊँ अबहिं कम , ब्रिन बाँधौ।" पर फिर अनुभव करती है कि कृष्ण अक्रूर के साथ चले ही जावेंगे, तो हताश होकर कहने लगती हैः—

जसोदा वार-बार यों भाषै।
है कोऊ व्रज में हितू हमारो, चलत गोपालहि राखै॥
कहा करै मेरे छगन मगन को नृप मधुपुरी बुलायो।
सुफलक सुत मेरे प्राण हतन कों कालरूप ह्वै आयो॥
वरु ए गोधन हरौ कंस सव मोहि, वन्दि लै मेलौ।
इतने ही सुख कमल नैन मेरी अँखियन आगे खेलौ॥ ११॥ पृष्ठ ४५८
(३५६१ ना० प्र० स०)

यशोदा नहीं चाहती कि कृष्ण उसकी आँखों के सामने से अलग हो। कृष्ण के बदले वह कंस को अपना समस्त गोधन देने को उद्यत है, स्वयं कारागार के कष्ट झेलने को तैयार है, पर आँगन में छगन-मगन कर खेलते हुए कृष्ण को अपने सामने से दूर करने में उसे जो व्यथा होती है, वह असहनीय है, अवर्णनीय है। कृष्ण की अनुपस्थिति में "को कर कमल मथानी धरि है को माखन अरि खैहैं" का अनुभव करते ही उसका हृदय शतधा विदीर्ण हो जाता है। वह मूर्छित होकर गिर पड़ती है। नन्द उसे समझाते हैं कि वे कृष्ण के साथ जायेंगे और धनुषयज्ञ दिखा कर दोनों पुत्रों को शीघ्र वापस ले आवेंगे। कंस की क्रूरता के कारण कृष्ण के अनिष्ट की जो आशंका यशोदा के हृदय में है, उसे भी वे दूर करते हुए कहते हैंः—

भरोसो कान्ह कौ है मोहि।
सुन जसोदा कंस भय ते तू जनि व्याकुल होहि॥
अघ वक धेनु तृणावर्त केसी को वल देख्यो जोहि।
सात दिवस गोवर्धन राख्यो इन्द्र गयो द्रपु छोहि॥ (३५६ ना० प्र० स०)

जिस कृष्ण ने इतने बल का परिचय दिया है, कंस उसका बालबाँका भी न कर सकेगा! पर माँ का हृदय तो हृदय ही है। उसे इन तर्कों से कैसे संतोष हो! उसके घायल हृदय को भरने के लिए तो शीतल मरहम की आवश्यकता है। यशोदा बेचैन हो रही है और रोहिणी? सूर इसके हृदय का भी परिचय स्थान-स्थान पर दे देते हैं। वह भी व्याकुल होकर कहती हैः—"ऐ दोउ भैया व्रज के जीवन कहति रोहिणी रोइ।" "निठुर भये जबते यह आयो घर हू आवत नाहिं॥" और "धरणी गिरति दुरति अति व्याकुल कहि राखत नहिं कोई"—रोहिणी दुखी होकर पृथ्वी पर गिर पड़ती है। कोई कितना ही कहे, पर उसकी

व्याकुलता दूर नहीं होती। इस समय हलधर की वेदान्त-शिक्षा, जगन्मिथ्यात्व एवं क्षणभंगुरता के उपदेश रोहिणी के लिये और भी अधिक क्लेशकारक सिद्ध होते हैं, जिन्हें सुनकर वह फिर मूर्छित हो जाती है। कृष्ण का अक्रूर के साथ लगे रहना और घर न आना भावी वियोग की सूचना देने वाले हैं।

कृष्ण मथुरा जाने के लिये रथ पर आरूढ़ हो गये। उस समय यशोदा जो विलाप करती हैं, वह अतीव मर्मस्पर्शी है:—

मोहन नेक वदन तन हेरौ।
राखौ मोहि नात जननी कौ मदन गुपाल लाल मुख फेरौ।
पीछे चढ़ौ बिमान मनोहर, वहुरौ, यदुपति, होत अँधेरौ॥
बिछुरत भेंट देहु ठाड़े ह्वै, निरखौ घोप जनम कौ खेरौ॥ (३६०८ ना०प्र०स०)

जन्म के खेरे को देखने में कितनी व्यथा भरी पड़ी है। यही तो वे चिर-परिचित स्थान हैं, जिनके साथ मानव-राग अतीन काल से चिपटा चला आता है।

(२) प्रवास में स्थिति:—नन्द मथुरा से लौट आये। उनके साथ, कृष्ण और बलराम को न देख कर यशोदा वैसे ही मूर्छित होकर गिर पड़ी, जैसे तुषार के पड़ने से सरोवर का कमल कुम्हला जाता है। यशोदा नन्द पर भी बिगड़ीं और दशरथ का उदाहरण सुना कर उन्हें धिक्कारने लगीं। नन्द भी यह सुन कर व्याकुल हो गये और मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। सूर ने वात्सल्य-स्नेह में माता-पिता दोनों को ही विभोर कर दिया है। कभी नन्द यशोदा से कहते हैं;—"तव तू मारिबोई करति। रिसनि आगे कहि जो आवत अब लै भाँड़े भरति;" तो कभी यशोदा नन्द से कहती है:—

सूर नन्द फिर जाहु मधुपुरी ल्यावहु सुत करि कोटि जतन॥

तथा

"नन्द व्रज लीजै ठोंकि बजाइ।
देहु बिदा, मिलि जाहिं मधुपुरी जहँ गोकुल के राइ।" (३७८६ ना०प्र०स०)

कृष्ण की प्रिय वस्तुओं को देखकर यशोदा और भी अधिक करुणाक्रांत हो जाती है:—

जद्यपि मन समझावत लोग।
सूल होत नवनीत देखि मेरे मोहन के मुख जोग॥
बिदरत नहीं बज्र को हिरदय हरि वियोग क्यों सहिये।
सूरदास प्रभु कमल नैन बिनु कौने बिधि व्रज रहियें॥ ६६॥—पृष्ठ ४८१
(३७८४ ना० प्र० स०)

मथुरा को जाता हुआ कोई पथिक मिल जाता है, तो यशोदा उससे कहने लगती है:—

जद्यपि मन समझावत लोग।
सूल होत नवनीत देखि मेरे मोहन के मुख जोग।
प्रातकाल उठि माखन रोटी को बिनु माँगे दैहैं॥
अरु उठि मेरे कुँवर कान्ह को छिन छिन अङ्कम लैहैं॥
कहियो पथिक जाइ घर आवहु राम कृष्ण दोउ भैया।
सूर स्याम कत होत दुखारी जिनके मोसी मैया॥ ५ ॥ पृष्ठ ४८१
(३७६१ ना० प्र० स०)

पद की अन्तिम पंक्ति में मातृ-हृदय की सहज गम्भीर वेदना मूर्तिमती होकर बेवशी, लाचारी और तड़पन का दृश्य उपस्थित कर रही है।

नीचे लिखे पद में यशोदा पथिक से कहती है कि कृष्ण बड़ा संकोची है, देवकी से माँगने में लज्जा अनुभव करता होगा। अतः देवकी के पास मेरा यह संदेश पहुँचा दो कि प्रातःकाल होते ही कृष्ण को मक्खन रोटी अच्छी लगती है। कृष्ण हठी भी है। वह क्रमशः धीरे-धीरे ही किसी के कहने से आता है। यशोदा का दैन्य भी उसकी लालसा के साथ इस पद में प्रकट हुआ है:—

सँदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की मया करति ही रहियो॥
यदपि टेव तुम जानति उनकी तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रातहि उठत तुम्हारे कान्हहिं माखन रोटी भावै॥
तेल उबटनों अरु तातो जल ताहि देखि भजि जाते।
जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती क्रम क्रम करि करि न्हाते॥
सूर पथिक सुनि मोहि रैनि दिन बढ़्यौ रहत उर सोच।
मेरो अलक लड़ैतो मोहन ह्वै है करत संकोच॥ ७ ॥ पृष्ठ ४८२
(३७६३ ना० प्र० स०)

नीचे लिखे पद में प्रवास-स्थित वात्सल्य की विशद व्यंजना हुई है:—

मेरे कुँवर कान्ह बिनु सब कछु वैसेहि धर्यो रहै।
को उठि प्रात होत लै माखन, को कर नेत गहै॥
सूने भवन जसोदा सुत के गुनि-गुनि सूल सहै।
दिन उठि घेरत ही घर ग्वारिन उरहन कोउ न कहै॥
सूरदास स्वामी बिनु गोकुल कौड़ी हू न लहै।
(३७६८ ना० प्र० स०)

(३) प्रवास से लौटते हुये:—इसकी एक झलक तो उस समय दिखाई देती है, जब नन्द कृष्ण और बलराम को छोड़ कर मथुरा से गोकुल आये।

यशोदा और रोहणी नन्द के आगमन के साथ कृष्ण और बलराम के आगमन की भी उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रही थीं और उनके वियोग से व्याकुल होकर बार-बार मथुरा-मार्ग की ओर आँखे ले जाती थीं। नन्द को अन्य गोपों के साथ आते हुये देख कर और यह समझकर कि कृष्ण और बलराम भी उनके साथ लौट कर आये होंगे, उन्हें गोद में उठा लेने के लिये दोनों आतुर होकर ऐसे दौड़ीं जैसे गायें अपने बछड़ों के लिए रम्हाती हुई दौड़ती हैं। सूर लिखते हैं:—

बार-बार मग जोवति माता। व्याकुल बिनु मोहन बलभ्राता॥
आवत देखि गोप नंद साथा। बिबि बालक बिनु भईं अनाथा॥
धाईं धेनु बच्छ ज्यों ऐसे। माखन बिना रहे धौं कैसे।
ब्रजनारी सब हर्षित धाईं। महरि जहाँ तहँ आतुर आईं॥
हर्षित मातु रोहिनी आईं। उर भरि हलधर लेउँ कन्हाई॥
देखे नन्द, गोप सब देखे। बल मोहन को तहाँ न पेखे॥
आतुर मिलन काज ब्रजनारी। सूर मधुपुरी रहे मुरारी॥
(३७४५ ना० प्र० स०)

नन्दहि आवत देखि जसोदा आगै लेन गईं।
अति आतुर गति कान्ह लैन कौ मन आनंद भईं॥ (३७४६ ना०प्र०स०)

प्रवास से लौटकर आते हुये अपने पुत्रों से मिलने की उत्कण्ठा में माता का हृदय जिस आनन्द एवं अधीरता का अनुभव करता है, उसी का चित्रण ऊपर उद्धृत पदों मे हुआ है।

सूरसागर में इस प्रवासागत वियोग-वात्सल्य का दूसरा उदाहरण उस समय का है जब श्रीकृष्ण द्वारिका-वासियों के साथ सूर्यग्रहण के पर्व पर कुरुक्षेत्र-स्नान के लिए आये और नन्द तथा यशोदा को कुरुक्षेत्र बुलाने के लिए संदेश भेजा माधव के आगमन की बात सुन कर गोपिकाओं के बाम नेत्र फड़कने लगे और अंचल उड़ने के साथ मन में अधीरता-जन्य उथल-पुथल होने लगी। वसंत ऋतु के समान वन में बेले विकसित होने लगीं। वृक्षों पर नवीन पत्ते आगए।×

संदेश वाहक ने माँ यशोदा से कहा कि श्रीकृष्ण ने मुझे केवल तुम्हारे कारण ही यहाँ भेजा है। द्वारका मे राज्य-वैभव के होते हुए भी उन्हें जब तुम्हारे खान-पान, परिधान तथा अन्य समस्त सुख-प्रदान सम्बन्धी लाड़-प्यार का स्मरण आता है, तो उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता। तुम्हारे स्नेह की स्मृति में वे वियुक्त बछड़े के समान दौड़ते हुये कुरुक्षेत्र तक आ गये हैं।*

× पद ४८६५ ना० प्र० स०
* पद ४८६६ ना० प्र० स०

इस संदेश को सुनते ही नंद, यशोदा तथा समस्त व्रजवासी श्रीकृष्ण से मिलने के लिये चल दिये। उस समय की उनकी उतावली तथा प्रसन्नता का वर्णन सूर ने इस प्रकार किया है:—

नन्द जसोदा सब व्रजवासी।
अपने-अपने सकट साजि कै मिलन चले अविनासी॥
कोउ गावत कोउ बेनु बजावत, कोउ उतावल धावत।
हरि दरसन की आसा कारन विविध मुदित सब आवत॥
(४६०० ना० प्र० स०)

श्रीकृष्ण का आगमन उन्हें स्वप्न और सत्य के बीच की परिस्थिति का-सा प्रेमानन्द देने लगा।

(४) करुण वियोग वात्सल्य:—करुण वियोग की निष्पत्ति संतति पर आये हुए घोर अनिष्ट की आशंका से होती है। जब कमल लेने के लिए श्री कृष्ण कालीदह में कूद पड़े और प्रातः से मध्याह्न तक नहीं निकले* तब यशोदा किसी अनिष्ट की आशंका से अधीर और व्याकुल हो उठीं। वह कन्हैया, कन्हैया पुकारती हुई यमुना तक पहुँची। आगे देखा, बलराम तो खड़े हैं, पर उनके साथ कृष्ण नहीं हैं। यशोदा बलराम से कृष्ण के सम्बन्ध में पूछने लगीं। बलराम ने कहा कि कृष्ण अभी आते है, तुम धैर्य धरो; तो यशोदा के अनिष्ट-भीरु तथा आतंकित हृदय ने समझा कि बलराम उसे बहका रहे हैं और श्रीकृष्ण किसी घोर संकट में ग्रसित है। ऐसा समझ कर वह अपने 'बाल नन्हैया' कन्हैया की याद में मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ीं। सूर ने लिखा है:—

जसुमति टेरति कुँवर कन्हैया।
आगे देखि कहत बलरामहि कहाँ रह्यौ तुव भैया॥
मेरो भैया आवत अबही तोहि दिखाऊँ मैया।
धीरज धरहु, नैंकु तुम देखहु, यह सुनि लेति बलैया॥
पुनि यह कहति मोहि परमोधत, धरनि गिरीं मुरझैया।
सूर बिना सुत भई अति व्याकुल, मेरौ बाल नन्हैया॥
(११७८ ना०प्र०स०)

इसी प्रसंग को सूर ने आगे एक वृहत् गीत (पद संख्या १२०७ ना० प्र० सा०) में बढ़ा कर लिखा है। इस गीत की कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं:—

इहि अंतर सब सखा जाइ ब्रज नन्द सुनायौ।
हम संग खेलत स्याम जाइ जल माँझ धसायौ।

---

* प्रातहि तैं जल भीतर पैठे होन लग्यौ जुग जाम। ११८०ना० प्र० स०
जल भीतर जुग जाम रहे कहुँ मिट्यौ नहीं तन चंदन। ११८३ ना० प्र४ स०

बूड़ि गयौ, उचक्यौ नहीं ता बातहिं भइ बेर।
कूदि पर्यौ चढ़ि कदम तैं, खबरि न करौ सवेर।
त्राहि-त्राहि करि नन्द, तुरत दौरे जमुना-तट।
जसुमति सुनि यह बात, चली रोवति तोरति लट।
ब्रजवासी नर-नारि सब, गिरत परत चले धाइ।
बूड़्यौ कान्ह सुनी सबनि, अति व्याकुल मुरझाइ।
जहँ-तहँ परी पुकार, कान्ह बिनु भए उदासी।
कौन काहि सों कहै, अतिहिं व्याकुल ब्रजवासी।
नन्द-जसोदा अति बिकल, परत जमुन मैं धाइ।
और गोप उपनंद मिलि, बाँह पकरि लै आइ।
धेनु फिरति बिललाति बच्छ थन कोउ न लगावै।
नन्द-जसोदा कहत, कान्ह बिनु कौन चरावै।
यह सुन ब्रजवासी सबै, परे धरनि अकुलाइ।
हाय-हाय करि कहत सब, कान्ह रह्यौ कहँ जाइ।
नंद पुकारत रोइ बुढ़ाई मैं मोंहि छाँड़्यौ।
कछु दिन मोह लगाइ, जाइ जल भीतर माँड़्यौ।
यह कहि कै धरनी गिरत, ज्यौं तरु कटि गिरि जाय।

सूर के वियोग वात्सल्य मे एकादश अवस्थाओं में से भी कुछ अवस्थाओं का वर्णन आ गया है। नीचे इनके उदाहरण दिये जाते हैः—

अभिलाषाः—कहा हौं ऐसे ही मरि जैहौं।
इहि आँगन गोपाल लाल कौ कबहुँ कि कनियाँ लैहौं॥
कब वह मुख बहुरौ देखौगी, कब वैसे सचु पैहौं।
कब मोपै माखन मागैंगे, कब रोटी धरि दैहौं॥
(३६२६ ना प्र० स०)

चिंता :— मेरौ कहा करत ह्वै है।
कहियौ जाइ बेगि पठवैं गृह, गाइनि कौ दुहिहै॥
(३७६२ ना० प्र० स०)
सूर पथिक सुनि मोहिं रैन-दिन बढ़्यौ रहत उर सोच।
मेरौ अलक लड़ैतो मोहन ह्वै है करत संकोच॥
(३७६३ ना० प्र० स०)

स्मरण :— है कोउ ऐसी भाँति दिखावै।
किंकिनि सब्द चलत धुनि, रुनझुन, ठुमुकि ठुमुकि गृह आवै॥
कछुक विलास बदन की सोभा, अरुन कोटि गति पावै।

कंचन मुकुट कंठ मुक्तावलि, मोर पंख छवि छावै ॥
धूसर धूरि अङ्ग अँग लीन्हें, ग्वाल वाल संग लावै ॥
(३६२८ ना० प्र० स०)

स्मरण में गुण-कथन भी आ जाता है, फिर भी उसका एक उदाहरण नीचे दिया जाता है:—

गुण-कथनः—को कर-कमल मथानी धरिहै को माखन अरि खैहै।
वरसत मेघ वहुरि व्रज ऊपर को गिरिवर कर लैहै ॥
(३५६२ ना० प्र० स०)

व्याधिः— पंथी इतनी कहियौ वात।
तुम बिनु इहाँ कुँवर वर मेरे होत जिते उतपात ॥
वकी अघासुर टरत न टारे वालक वनहि न जात।
गोपी गाइ सकल लघु दीरघ पीत वरन कृस गात ॥
(३७८६ ना० प्र० स०)

विह्वल भई जसोदा डोलति, दुखित नंद उपनंद।
धेनु नहीं पय स्रवति रुचिर मुख चरति नहीं तृन कंद ॥
(३७७५ ना० प्र० स०)

जड़ताः— नहि कोउ स्यामहिं राखै जाइ।
सुफलक सुत वैरी भयौ मोकों कहति जसोदा माइ ॥
मदन गोपाल बिना घर आँगन गोकुल काहि सुहाइ।
गोपी रही ठगी सी ठाढी कछू ठगौरी खाइ ॥
(३५६० ना० प्र० स०)

प्रीति जानि, हेत मानि, बिलखि वदन ठाढ़ीं।
मानहु वै अति विचित्र, चित्र लिखी काढ़ीं ॥ (३५७७ना०प्र०स०)

मूर्छा और मरणः—सूरदास प्रभु पैठे मधुपुरी मुरझि परी व्रजबाल ॥
(३६१७ ना० प्र० स०)

स्याम गये जल बूड़ि वृथाधिक जीवन जग कौ।
सिर फोरति गिरि जाति अभूखन तोरति अङ्ग कौ ॥
मुरछि परीं तन सुधि गई प्रान रहे कहुँ जाइ।
हलधर आये धाइ कै, जननि गईं मुरझाइ ॥
(१२०७ ना० प्र० स०)

उद्वेगः— व्रज की नारि गृह बिसारि व्याकुल उठि धाईं।
समाचार बूझन कौ आतुर ह्वै आईं ॥
(३५७७ ना० प्र० स०)

बिदरत नहीं वज्र को हिरदय हरि वियोग क्यों सहिये ।
सूरदास प्रभुकमल नयनबिनु कौने विधि व्रज रहिये ॥
(३७८४ ना० प्र० स०)

प्रलापः—
अब हौं जाइ जमुन जल बहिहौं, कहा करौ मोहि राखी ।
सूरदास वा भाइ फिरति हौं, ज्यौं मधु तोरैं माखी ॥
(३७८७ ना० प्र० स०)

शृङ्गार रस

संयोग—आचार्यों ने शृंगार रस को दो भागों में विभाजित किया है:—संयोग शृङ्गार और विप्रलम्भ शृङ्गार । वात्सल्य के समान शृङ्गाररस के इन दोनों पक्षों का भी प्रचुर विस्तार सूरसागर में उपलब्ध होता है । जब तक कृष्ण गोकुल में रहे, वृन्दावन में यमुना-तट पर गोप-गोपियों के साथ क्रीड़ा और रास लीला करते रहे, तबतक की उनके जीवन की लीला शृङ्गार के संयोग पक्ष के अन्तर्गत आती है । इस अवस्था मे एक साथ रहने से गापियों पर कृष्ण के बाह्य एवं आन्तरिक सौन्दर्य का जो अद्‌भुत प्रभाव पड़ा और उस प्रभाव से जिस उज्ज्वल प्रेम का उदय हुआ, वह जीवन के स्वाभाविक आनंद के रूप मे दिखलाई देता है । जायसी रतनसेन और पद्‌मावती के जिस प्रेमाङ्कुर को मानस–विप्लव के रूप में चित्रित करता है, वह प्रेम का स्वाभाविक विकास नहीं है। कृष्ण के बाह्य सोंदर्य का गोपियो पर कैसा प्रभाव पड़ा, यह उन्हीं के शब्दों में सुनिए:—

तरुणी निरखि हरि प्रति अङ्ग ।
कोउ निरखि नख इन्दु भूली कोउ चरन जुग रङ्ग ॥
कोउ निरखि नूपुर रही थकि कोउ निरखि जुग जानु ।
कोउ निरखि जुग जंघ सोभा करति मन अनुमानु ॥
कोउ निरखि पट पीत कछनी मेखला रुचि कारि ।
कोउ निरखि हृद नाभि की छबि डारि तन-मन वारि ॥७२०॥ पृष्ठ १८७
(१२५२ ना० प्र० स०)

सुन्दरता के इस सागर को देखकर गोपियों का नागर मन विवेक-बल से पार न पाकर उसी में मग्न हो गया । कृष्ण के अङ्ग-अङ्ग की सरस माधुरी का रसपान करके गोपियाँ कृष्ण प्रेम मे मतवाली हो गई । सूर ने इस स्थल पर कृष्ण के बाह्यरूप का अतीव रोचक वर्णन किया है। कहीं उनके विशाल लोल लोलन ललित एवं चारु दृष्टि से इधर उधर देखते हुए 'माँगत है मन ओल'—दूसरों के मन को गिरवी रखने की ताक में है । कही उनके महामुनिदुर्लभ कमल-पद, कपोलों पर झलकते हुए स्वर्ण कुण्डल, अधरों पर रखी हुई सुरीली मुरली एवं त्रिभंगी मुद्रा वाले दृश्य गोपियों को उनकी ओर एकटक दृष्टि से देखने के लिए

बाध्य कर रहे हैं। कहीं अधरों की लालिमा तथा नीलघन से धूम्रधारा के समान शोभायमान रोमराजि गोपियों के पलक तक नहीं लगने देती। जिस मोहक छवि ने 'वन उपवन सरिता सब मोहे'-जड़ तक मुग्ध कर दिए, वह चेतनता के कोमल स्पन्दनों से ओतप्रोत गोपियों के हृदय को बिना मुग्ध किये कैसे रह सकती थी? गोपियों का मन अब घर में नहीं लगता, किसी काम-काज में उनकी रुचि नहीं रही, सोते-जागते उनका मन कृष्ण में ही लगा रहता है। वे कभी उनके पलकों की ओट नहीं होते। श्याम के सौन्दर्य और सहवास ने उनके सिर पर कुछ ऐसा जादू डाल रखा है (कुछु पढ़ि के सिर नाइ दियो) कि अब उन्हें "सूर स्याम बिनु और न भावै कोउ कितनौं समझावै।" हरिरस ने उन्हें इतना मतवाला बना दिया है कि श्याम के बिना और कुछ अच्छा नहीं लगता। इस महारस के सामने अन्य रस फीके पड़ गये हैं। सूर लिखते हैं:—

तरुनी स्याम रस मतवारि।
प्रथम जोवन रस चढ़ायौ अतिहि भई खुमारि।
महारस अङ्ग अङ्ग पूरन कहाँ घर कहाँ वाट।
सूर प्रभु के प्रेम पूरन छकि रही ब्रजनारि ॥ ६६ ॥ पृष्ठ २५६
(२२४२ ना० प्र० स०)

गोपियों का यह स्नेह इतनी अधिक परिपूर्णता पर पहुँच गया है कि वे हरिनाम के अतिरिक्त अन्य सब कुछ विस्मृत कर चुकी हैं:—

"बन बीथिन निज पुर गली जहाँ तहाँ हरि नाऊँ।
समुझाई समुझत नहीं सिख दै विथक्यौ गाऊँ ॥"

इस परिपूर्ण प्रेम के प्रकाश में उन दिनों में बहती हुई हरि-भक्ति की धारा का भी स्पष्ट चित्र झलकने लगता है। (नगरों, वीथियों और गलियों में घर और बाहर, सर्वत्र हरि-नाम-कीर्तन की जो धारा प्रवाहित हुई, उसमें पराधीनताजन्य आन्तरिक विक्षोभ और ग्लानि सब बह गए। आर्य जाति भक्ति के इस नवीन योग से सान्त्वना पाकर विचित्र कर्तृत्व की ओर संलग्न हो गई। "बिधि भाजन ओछौ रच्यौ सोभा सिन्धु अपार। उलटि मगन तामें भई तब कौन निकासनिहार ॥" मुगल विजेताओं में इतनी शक्ति कहाँ थी कि वे आर्य जाति की इस नवीन रक्षण-पंक्ति (Defence Line) को तोड़ सकते, यहाँ से आर्य-जाति को निकाल बाहर कर सकते।)

हाँ, तो, कृष्ण का अङ्ग-माधुर्य, बुद्धि-वैभव गोपियों की नस-नस में, रोम-रोम में बिध गया। वह माखन-चोर गोपियों का चितचोर बन बैठा। मोहन मूर्ति ने ब्रज भर को आकर्षित किया—"जाके दृष्टि परे नंदनंदन सोउ फिरति

मोहन डोरी डोरी'' जिसको देखो वही उस मोहनपाश में उलझी पड़ी है। गोपियाँ तो 'सब तज हरि भज' की मूर्तिमान उदाहरण बन गईं । सूर लिखते हैं:—

"स्याम रंग रांची ब्रजनारी । और रंग सब दीनी डारी ।।
कुसुम रंग गुरु जन पितु माता । हरित रंग भगिनी अरु भ्राता ।।
दिना चारि में सब मिटि जैहै । स्याम रंग अजरायल रैहै ।।"*
(२५३० ना० प्र० स०)

सब गोपियाँ इस अजरायल रंग मे रँगी दिखाई पड़ने लगीं।

गोपियों में एक अपूर्व-रूपा राधा नाम की भी गोपी थी। कृष्ण ने खेलते-खेलते जहाँ इस पर अपना जादू डाला, वहाँ राधा की मोहिनी छवि ने कृष्ण को भी अपने आकर्षण-पाश मे आबद्ध कर लिया । उस 'गौरवर्ण, नैन-विशाल, भाल दिये रोरी' राधा का नखशिख सूर ने कई पदों में अङ्कित किया है। 'अद्‌भुत एक अनूपम बाग' वाले पद की रूपकातिशयोक्ति† तो अत्यन्त प्रसिद्ध है। कृष्ण और राधा का सौंदर्यसंयोग मणि-काञ्चन का योग था। दोनों समवयस्क, समान सुन्दर और समप्रभाव-सम्पन्न थे। सूर लिखते हैं:—

सुनहु सखि राधा सरि को है ।
जे हरि हैं रति पति मनमोहन, याको मुख सो जोहै।।
जैसे स्याम नारि यह तैसी सुन्दर जोरी सोहै ।
इह द्वादस वेऊ दस द्वै के व्रजयुवतिन-मन मोहै ।।
मैं इनको घटि बढ़ि नहि जानति भेद करै सो को है ।
सूर स्याम नागर इह नागरि एक प्राण तनु दो है ।।८१।। पृष्ठ २८७
(२५२१ ना० प्र० स०)

राधा और कृष्ण दोनों द्वादश वर्ष के है। कोई किसी से घट बढ़ नहीं। स्याम नागर है, तो राधा नागरी है। दो शरीर रहते हुए भी दोनों एक प्राण है। जब से एक ने दूसरे को देखा, तभी से 'बिछुरत नही सङ्ग ते दोऊ बैठे सोवत जागत'—राधा और कृष्ण दोनों एक हो गए। कृष्ण के कपोल, मुख, नेत्र, पुतली, अधर, वक्षस्थल पर शोभायमान कमल-माला, चञ्चल दृष्टि, लोल कुण्डल, नखकांति, पीताम्बर-प्रभा सबने मिल कर राधा पर मोहिनी डाली और राधा के अङ्ग-अङ्ग के लावण्य से कृष्ण प्रभावित हुए। राधा जब कृष्ण की ओर देखती है, तो उस रस-राशि, रूप-राशि, गुण-राशि, यौवन-राशि, बल-राशि, विद्या-राशि, तथा शील-यश-आनन्द-राशि शोभासिन्धु× में अपने को विलीन पाती है। सूर ने इस दर्शन का अद्‌भुत वर्णन किया है:—

---

*व्यञ्जना का प्रयोग कीजिये तो पठान-प्रतिष्ठा और मुगल-महिमा का एक एक रंग नष्ट हो गया। आर्य जाति का अजर-अमर रंग अब भी उसके साथ जीवित है।

† श्लेष से रूप-सौन्दर्य का वर्णन और उस नाम का अलंकार ।

× पद संख्या २४२१ ना० प्र० सभा ।

चितै राधा रति नागर ओर ।
नयन बदन छवि यों उपजत मानों ससि अनुराग चकोर ॥
सारस रस अँचवन को मानहुँ फिरत मधुप जुग जोर ।
पान करत, त्रय ताप न मानत, पलकन देत अँकोर ॥
लिये मनोरथ मानि सकल ज्यों रजनि गये पुनि भोर ।
सूर परस्पर प्रीति निरन्तर दम्पति हैं चितचोर ॥
(२३७६ ना० प्र० स०)

दोनों के परस्पर आकर्षण का वर्णन नीचे लिखे पद मे हैः—

चितै रही राधा हरि को मुख ।
भृकुटी विकट विसाल नयन युग देखत मनहिं भयो रति पति दुख ॥
उतहि स्याम एक टक प्यारी छवि अंग अंग अवलोकत ।
रीझि रहे उत हरि इत राधा अरस परस दोउ नोकत ॥
सखिन कह्यो वृषभानु सुता सों देखे कुँवर कन्हाई ।
सूर स्याम ऐई हैं ब्रज मे जिनकी होति बड़ाई ॥२॥
पृष्ठ २७०—(२३८३ ना० प्र० स०)

कृष्ण के उस अद्भुत प्रेमपाश के सम्बन्ध में राधा कहती हैः—

जब ते प्रीति स्याम सों कीन्ही ।
ता दिन तें मेरे इन नैननु नेकहु नींद न लीन्हीं ॥
सदा रहै मन चाक चढ्यौ सो और न कछु सुहाई ।
करत उपाय बहुत मिलिबे को इहै विचारत जाई ॥४२॥—पृष्ठ २८३
(२४८३ ना० प्र० स०)

स्याम की वह क्षण-क्षण मे अभिनव रूप धारण करने वाली रमणीयता राधा के हृदय मे चुभ गई थी । जब गोपियाँ राधा-कृष्ण के प्रेम की चर्चा करने लगीं, तो राधा कहती हैः—

स्याम सों काहे की पहिचानि ।
निमिष निमिष वह रूप न वह छबि रति कीजै जेहि जान ॥
इक टक रहत निरन्तर निसिदिन मन मति सों चितसानि ।
एकौ पल सोभा की सीमा सकत न उर महँ आनि ॥
समुझि न परै प्रकट ही निरखत आनँद की निधि खानि ।
सखि यह विरह संयोग कि समरस दुःख सुख लाभ कि हानि ।
मिटत न घृत ते होम अगिनि रुचि सूर सुलोचनि बानि ॥
इत लोभी उत रूप परम निधि कोउ न रहत मिति मानि ॥३०॥
पृष्ठ २८१—(२४७० ना० प्र० स०)

श्याम से प्रेम करना कैसा ? टकटकी लगा कर उनके अंगों की ओर देखो भी, तो वह देखे नही जाते। उनका एक रूप रहता ही नहीं, क्षण-क्षण मे वह परिवर्तित हो जाता है। एक ही क्षण में संयोग और विरह दोनों आकर उपस्थित हो। जाते हैं। न जाने यह कैसा समरस है? इसमें दुख मिलता है या सुख, लाभ होता है या हानि ? बस मेरे नेत्रों की एक ही आदत बन गई है, एक ही स्वभाव पड़ गया है—उस परम निधि की ओर लोभ-भरी दृष्टि से देखते रहना। गोपियाँ समझ गईं:—"राधा कान्ह एक भये दोऊ" और राधा की प्रशंसा करती हुईं कहने लगीं:—

तैं ही स्याम भले पहिचाने।
साँची प्रीति जानि मनमोहन तेरे ही हाथ बिकाने।"

(२४६२ ना० प्र० स०)

"धन्य बड़ भागिनी राधा तेरे बस गिरिधारि।" (२४६० ना० प्र० स०)

इस आकर्षण के पश्चात् संयोग पक्ष के जितने भी क्रीड़ा-विधान हो सकते हैं, सूर ने सभी लाकर एकत्र कर दिये हैं। पनघट प्रस्ताव, कुंज-विहार, यमुना-स्नान, जल-केलि समय, पीठमर्दन, गोदोहन के समय राधा के मुख पर कृष्ण का दूध की छीटे फेंकना, भरे आँगन में संकेत द्वारा वार्तालाप करना, घर के पीछे, खरिक तथा वन में मिलना, हिंडोले पर झूलना, रास-नृत्य आदि न जाने संयोग के कितने प्रसंग सूर ने लिखे है। एक प्रसंग की मार्मिकता देखिये। आँगन में माता, पिता, स्वजन, पारिवारिक बन्धु आदि सब विद्यमान हैं। लोक-लज्जा और वेद-मर्यादा के प्रतीहार और द्वारपाल भी पहरा दे रहे हैं। पलक रूपी कपाट वन्द कर कुल-प्रतिष्ठा की ताली से धैर्य रूपी ताला भी द्वार पर लगा रक्खा है। पर अन्तस्तल के गुह्य से गुह्य कोने में भी रखा हुआ राधा का मन-धन कृष्ण ने नेत्रमार्ग से उर-पुर में प्रविष्ट होकर चुरा ही तो लिया ! चोरजार शिखामणि की इस अद्भुत चोरी का चित्रण सूर ने कितनी विचित्रता के साथ किया है:—

मेरो मन गोपाल हर्यौ री।
चितवत ही उर पैठि नैन मग ना जानों धों कहाँ कर्यौ री ॥
मात पिता पति बन्धु सजन जन सखि आँगन सब भवन भर्यौ री।
लोक वेद प्रतिहार पहरुआ तिनहूँ पै राख्यौ न पर्यौ री ॥
धर्म धीर, कुलकानि कुँची करि, तेहि तारौ दै द्वार धर्यौ री।
पलक कपाट कठिन उर अन्तर इतेहु जतन कछु वै न सर्यौ री ॥
बुधि विवेक बल सहित सच्यौ पचि सुधन अटल कबहूँ न टर्यौ री।
लियो चुराइ चिते चित सजनी सूर सो मो तनु जात जर्यौ री ॥४८॥

—पृष्ठ २८३ (२४६० ना० प्र० स०)

इसी प्रकार गुरुजनों के बीच में बैठी हुई राधा का कृष्ण से संकेतों द्वारा वार्तालाप करने का वर्णन सूर ने कितने अद्भुत ढङ्ग से किया है:—

स्याम अचानक आइ गये री।
मैं बैठी गुरुजन बिच सजनी देखत ही मेरे नैन नये री।
तब इक बुद्धि करी मैं ऐसी बेंदी सों कर परस कियो री।
आपु हँसे उत पाग मसकि हरि अन्तर्यामी जानि लियो री॥
लै कर कमल अधर परसायो देखि हरषि पुनि हृदय धर्यौ री।
चरण छुवे, दोउ नैन लगाये मैं अपने भुज अंग भर्यौ री॥ ५५॥

—पृष्ठ २८४ (२४६७ ना० प्र० स०)

सूक्ष्म अलंकार के द्वारा संयोग श्रृङ्गार सम्बन्धी वार्तों का भी इस पद में उल्लेख किया गया है। कहीं-कहीं तो सूर ने जयदेव और विद्यापति की भाँति नग्न श्रृङ्गार लिख दिया है, जिसमे आलिंगन, चुम्बन, नखक्षत आदि सभी वार्तो का समावेश है। नीचे लिखे पद में राधा और कृष्ण के विहार का वर्णन है:—

नवल निकुंज नवल नवला मिलि नवल निकेतनि रुचिर बनाये।
विलसत विपिन विलास विविध वर वारिज वदन विकच सचुपाये॥
लागत चन्द्र मयूख सुतिय तनु लता भवन रंध्रनि मग आये।
मनहुँ मदनवल्ली पर हिमकर सींचत सुधा धार सत नाये॥
सुनि सुनि सुचित श्रवन जिय सुन्दरि मौन किये मोदति मन लावे।
सूर सखी राधा माधौ मिलि क्रीडत रति रति-पतिहिं लजाये॥ ६२॥

—पृष्ठ २६५ (२६०५ ना० प्र० स०)

पद मे श्रृङ्गार रस के अनुकूल माधुर्यगुण-सम्पन्न कोमल पदावली है। राधा और कृष्ण विहार करने वाले हैं, जिनके लिये सूर ने नवल और नवला विशेषणों का प्रयोग किया है। निकुंज भी नवल है और उसमे बनाई हुई सुखद शैया भी अभिनव है। प्रारम्भिक दोनों पंक्तियों मे मधुरावृत्ति के अक्षरों का प्रयोग एक ओर वृत्यनुप्रास को जन्म देता है, तो दूसरी ओर श्रृङ्गार के उपयुक्त कोमल रूप और सुकुमार भाव की अभिव्यंजना कर रहा है। समास-विहीन सरल शब्दों के साथ छोटे-छोटे दो उत्प्रेक्षा और प्रतीप अर्थालंकार भी हैं। समष्टि रूप से यह पद साहित्य के श्रेष्ठ पदों मे स्थान पाने योग्य है। सूरसागर में ऐसे कई पद हैं।

संयोग श्रृङ्गार का एक नग्न चित्र देखिये:—

हरषि पिय प्रेम तिय अंक लीन्हो।
प्रिया बिन बसन करि उलटि धरि भुजन भरि,

सुरति रति पूरि अति निवल कीन्ही ॥
आपने कर नखनि अलक कुरवारहीं,
कबहूँ बाँधें अतिहि लगत लोभा।
कबहुँ मुख मोरि चुम्बन देत हरष ह्वै,
अधर भरि दसन वह उनहि सोभा।
बहुरि उपज्यौ काम, राधिका पति स्याम,
मगन रस ताम, नहि तनु सँभारै।
सूर प्रभु नवल नवला नवल कुंज गृह,
अन्त नहिं लहत, दोउ रति विहारै ॥६३॥

—पृष्ठ २६५ (२६०६ ना० प्र० स०)

सूरसागर मे ऐसे नग्न चित्र कई स्थानों पर हैं, जिनमें कहीं प्रथम समागम का वर्णन है, कहीं विपरीत रति का, कहीं सुरति-अन्त का और कहीं शृङ्गार सज्जा का। सूर ने संयोग की अनेक प्रकार की परिस्थितियों का चित्रण किया है। स्वर्गीय शुक्ल जी के शब्दों मे उनका हृदय प्रेम की नाना उमंगों का अक्षय भाण्डार प्रतीत होता है। इस भाव का जैसा विस्तृत और पूर्ण ज्ञान सूर की रचना में उपलब्ध होता है, वैसा अन्य किसी भी कवि की कृति में दिखलाई नही देता। शृङ्गार के अन्तर्गत भाव तथा विभाव दोनों पक्षों के अत्यन्त अनूठे और विस्तृत वर्णन सूरसागर मे पाये जाते हैं।

नायिका भेद—

साहित्यलहरी मे तो नायिका भेद है ही, सूरसागर मे भी उससे कम नहीं है। नायिका भेद भी शृङ्गार रस वर्णन का ही मुख्य अंग है। शृङ्गार की यह पद्धति सूर को जयदेव, गोवर्धनाचार्य, विद्यापति, उमापति, चंडीदास प्रभृति कवियों तथा वैष्णव सम्प्रदाय की शृङ्गार-धारा से रिक्थ रूप में (विरासत में) उपलब्ध हुई थी। बंगाल के उत्तर मे पाई गई बारहवीं शताब्दी की राधा-कृष्ण-प्रेम सम्बन्धी धमालियों का उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं। नीचे हम सूरसागर से कुछ नायिकाओं के उदाहरण देंगे:—

वचन विदग्धा नायिका—वचन-व्याज या वचन-चातुर्य से अपना कार्य सिद्ध करना:—

तब राधा इक भाव बतावति।
मुख मुसकाइ सकुचि पुनि लीन्हौं, सहज चली अलकें निरुवारति॥
एक सखी आवत जल लीन्हे, तासौं कहति सुनावति।
टेरि कह्यो घर मेरे जैहो मैं यमुना ते आवति॥

तब सुख पाइ चले हरि घर कौं हरि प्रियतमहिं मनावति।
सूरज प्रभु विनपन्न कोक गुन ताते हरि हरि ध्यावति ॥६४॥

—पृष्ठ २६८ (२६४२ ना० प्र० स०)

इस पद में अन्यसंनिधि-व्यंग्य गूढ़ोक्ति अलंकार भी है।

स्वयं दूतिका अपरिचित नायक से वचन-विदग्धता द्वारा अपना कार्य सिद्ध करती है, परन्तु वचन-विदग्धा नायिका परिचित नायक से वाक्चातुरी द्वारा अपना कार्य निकालती है।

क्रिया-विदग्धा नायिकाः—क्रिया-चातुर्य से अपना कार्य सिद्ध करना, यथा

स्याम कौं भाव दै गई राधा।
नारि नागरिनि काहूँ लख्यौ,
कोउ नहीं कान्ह कछु करत है बहु अनुराधा ॥६५॥ (२६४३ ना०प्र०स०)

अभिसारिकाः—शृङ्गार से सुसज्जित होकर नायक के पास जाना—

प्यारी अंग सिंगार कियो।
वैनी रची सुभग कर अपने टीका भाल दियो॥
मोतियन माँग सँवारि प्रथम ही केसरि आड़ सँवारि।
लोचन आँजि, स्रवन तरिवन-छवि को कवि कहै निवारि॥
नासा नथ अतिही छवि राजत बीरा अधरन रंग।
नवसत साजि चली चोली वनि सूर मिलन हरि संग॥ ६७॥

—पृष्ठ २६६ (२६४५ ना० प्र० स०)

वासक सज्जा—पति का आगमन निश्चित जानकर शृङ्गार सज्जा करना—

राधा को मैं तव ही जानी।
अपने कर जे माँग सँवारै रचि रचि वेनी बानी॥
मुख भरि पान मुकुर लै देखति तिनसौं कहति अयानी।
लोचन आँजि सुधारति काजर छाँह निरखि मुसकानी॥
वार वार उरजनि अवलोकति उनते कौन सयानी।
सूरदास जैसी है राधा तैसी मैं पहिचानी॥ २॥

— पृष्ठ ३०१ (ना० प्र० स० २६७०)

प्रेमासक्ता—प्रेम के आधिक्य को सूचित करने वाली—

कवहूँ मगन हरि के नेह।
स्याम संग निसि सुरति कै सुख, भूलि अपनी देह॥
जवहिं आवति सुधि सखिन की रहति अति सरमाइ।
तव करति हरि ध्यान हिरदै चरण कमल मनाइ॥
होइ ज्यौं परवोध उनको मेरी पति जनि जाइ।

निदरि-दरि हौं रही सबकों आजु लों इहि भाइ ।।
अबहि सब जुरि आइ हैं ह्यॉं तुम बिना न उपाइ ।
सूर प्रभु ऐसी करो कछु बहुरि न जाउँ लजाइ ।। १५ ।।
- पृष्ठ ३०० (२६६३ ना० प्र० स०)

इस पद में सखियों में लज्जित होने की भावना, हरि के चरण कमलों का ध्यान करना, विगत स्मृति, दैन्य आदि संचारी भाव है। सूर ने श्रृङ्गार रस के अन्तर्गत अनेक संचारी भावों का वर्णन किया है। नीचे लिखे पद में विप्रलब्धा-नायिका-वर्णन के अन्तर्गत गर्व, चिन्ता, शंका, व्याकुलता, पश्चात्ताप आदि कई संचारी भाव एक साथ आ गये हैं।

विप्रलब्धा नायिकाः—संकेत-स्थल एवं केलि-मन्दिर में पति को न पाकर दुखित होने वाली—

राधा चकित भई मन माही।
अबही स्याम द्वार ह्वै झाँकि ह्यॉं आये क्यों नाही।
आपुन आइ तहॉं जो देखे मिले न नंद कुमार ।।
आवत ही फिरि गये स्याम घन अतिही भयो विचार ।।
सूने भवन अकेली मैं ही नीके उझकि निहार्‍यो।
मोतें चूक परी मैं जानी तातें मोहिं बिसार्‍यो ।।
इक अभिमान हृदय करि बैठी एते पर झहरानी।
सूरदास प्रभु गये द्वार ह्वै तब व्याकुल पछतानी ।। ४५ ।।
—पृष्ठ ३०३ (२६६३ ना० प्र० स०)

नीचे संचारी भावों के कुछ उदाहरण दिये जाते हैः—

हर्ष—गोपिका अति आनन्द भरी।
माखन दधि हरि खात प्रेम सों निरखति नारि खरी ।।
(२२१६ ना० प्र० स०)

उन्माद—ग्वालिनि प्रगट्यो पूरन नेहु।
दधि भाजन सिर पर धरे कहति गुपालहि लेहु ।।
(२२५८ ना० प्र० स०)

जड़ता—चलन चहति पग चलत न घर को। (१५६ ना० प्र० स०)

व्याधि—सखियन मिलि राधा घर लाई।
देखहु महरि सुता अपनी कों कहुँ यह कारे खाई ।।
(१३६१ ना० प्र० स०)

विस्मृति—महा विरह वन मांझ परी।
चकित भई ज्यों चित्रपूतरी हरि मारग बिसरी ।। ४८ ।।
—पृष्ठ ३०३ (२६४६ ना० प्र० स०)

व्यामोह—स्याम नाम चकित भई श्रवन सुनत जागी।
आये हरि यह कहि सखिन कंठ लागी॥
मोते यह चूक परी मैं बड़ी अभागी।
अबकै अपराध छमहु गये मोहि त्यागी॥५१॥
(२७६६ ना० प्र० स०)

मूर्छा—सखी रही राधा मुख हेरी।
चकित भई कछु कहत न आवै करन लगीं अबसेरी॥
बार-बार जल परसि बदन सों बचन सुनावत टेरी॥ ५२॥
—पृष्ठ ३०४ (२७०० ना० प्र० स०)

विवशता—मैं अपनी सी बहुत करी री।
मोसों कहा कहति तू माई मन के संग मैं बहुत लरी री।
राखौं अटकि उतहि कों धावै उनकों बैसिय परनि परी री।
मोसों बैर करै रति उनसों मोकों छोड़ी द्वार खरी री॥६४॥
—पृष्ठ ३०५ (२७१२ ना० प्र० स०)

पश्चात्ताप—मोते यह अपराध पर्यो।
आये स्याम द्वार भये ठाढ़े मैं अपने जिय गर्व धर्यौ॥
जानि बूझि मैं यह कृत कीन्हौं मेरे ही सीस पर्यौ।६८॥
—पृष्ठ ३०६ (२७१६ ना० प्र० स०)

तन्मयता—ऐसी बात कहै जो कोई ताके संग लरौं री।
आरज पंथ चले कहा सरि है स्यामहि संग फिरौं री॥७२॥
—पृष्ठ ३०६ (२७२० ना० प्र० स०)

अतृप्ति—नख सिख अङ्ग अङ्ग छवि देखत नैना नाहि अघाने।
निसि बासर इकटक ही राखे पलक लगाइ न जाने॥
छवि तरङ्ग अगनित सरिता जल लोचन तृप्ति न माने।
सूरदास प्रभु की सोभा कों अति व्याकुल ललचाने॥ ६७॥
—पृष्ठ ३०६

लालसा—अब के जो पिउ पाऊँ तो हिरदय माँझ दुराऊँ।
हरि को दरसन पाऊँ आभूषण अंग बनाऊँ॥ ७६॥
—पृष्ठ ३०६ (२७२४ ना० प्र० स०)

संचारी भाव भी सूर की रचना में एक पूर्ण एवं स्वतन्त्र भाव की व्यंजना कर रहे हैं और कहीं-कहीं तो रस की कोटि तक पहुँच गये हैं। पाठक पढ़ते हुये उमी भाव में तल्लीन हो जाते हैं। भाव-मग्नता के कारण वह मनोराग आस्वाद्य हो उठता है।

विरहिणी प्रोषितपतिका नायिका—जिसका पति विदेश मे हो—

अरी मोहि पिउ भावै, को ऐसी जो आनि मिलावै।
चौदह विद्या प्रवीन, अति ही सुन्दर नवीन, वह नायक कौन मनावै।
नेक दृष्टि भरि चितवै विरहिन, विरह तपनि मो तनु ते बुझावै।
सूरदास प्रभु करहि कृपा अब मोकों नित प्रति विरह जरावै ॥ ७७ ॥
—पृष्ठ ३०७ (२७२५ ना० प्र० स०)

रति-प्रिया—राधेहि मिलेहु प्रतीति न आवति।
यदपि नाथ विधु-वदन विलोकति दरसन को सुख पावति ॥६४॥
—पृष्ठ ३०६ (२७४१ ना० प्र० स०)

उत्कण्ठिता प्रेमासक्ता नायिका—प्रिय के विरह में व्याकुल तथा उसकी प्राप्ति के लिये उत्कंठित—

केहि मारग मैं जाउँ सखी री मारग मोहि बिसर्यौ।
ना जानों कित ह्वै गये मोहन, जात न जानि पर्यौ ॥
अपनों पिय ढूढ़ति फिरों री मोहि मिलिवे को चाव !
कांटो लागों प्रेम को पिय यह पायौ दाव ॥
वन डोंगर ढूँढ़ति फिरी घर मारग तजि गाउँ।
बूझो द्रुम प्रति वेलि सों कोउ कहै न पिय को नाउँ ॥१५॥ पृष्ठ ३५५
(१७२६ ना० प्र० स०)

मध्या अधीरा नायिका—उन्मुक्त शब्दों मे नायक को उलाहना देने तथा क्रोधित होने वाली—

मोहि छुवौ जिनि दूरि रहौ जू।
जाकों हृदय लगाइ लई है ताकी बाँह गहौ जू।
तुम सर्वज्ञ और सब मूरख, सो रानी और दासी ॥
मैं देखति हिरदय वह बैठी हम तुमकों भई हाँसी।
बाँह गहत कछु सरम न आवत सुख पावत मन माहीं।
सुनहु सूर मो तन को इकटक चितवति डरपति नाहीं ॥६७॥ पृष्ठ ३६५
(३०३४ ना० प्र० स०)

कलहान्तरिता नायिका—मान द्वारा प्रथम कलह करके पीछे पश्चात्ताप करने वाली। पश्चात्ताप और मान-भंग का वर्णन—

चूक परी मोते मैं जानी मिले स्याम बकसाऊँ री।
चरन गहों गाढ़े करि कर सों पुनि-पुनि सीस छुवाऊँ गी।

मुख चितवौ फिरि धरनि निहारौ ऐसी रुचि उपजाऊँ री ॥
मिलौं धाइ अकुलाइ भुजनि भरि उर की तपनि जनाऊँ री।
सूरस्याम अपराध छमहु अब यह कहि कहि जु सुनाऊँ री ॥७३॥
—पृष्ठ ३०६ (२७२१ ना० प्र० स०)

मानवती नायिका—प्रिय का प्रिया को मनाना।

कहा भई धन बावरी कहि तुमहि सुनाऊँ।
तुमते को है भावती को हृदय बसाऊँ ॥
तुमहि श्रवण तुम नैन हौ तुम प्राण अधारा।
वृथा क्रोध त्रिय क्यों करो कहि बारंबारा ॥
भुज गहि ताहि बतावहू जो हृदय बतावनि।
सूरज प्रभु कहे नागरी तुम ते को भावति ॥६८॥ पृष्ठ ३६५
(३०३५ ना० प्र० स०)

इस पद मे शठ नायक का उदाहरण भी आ गया है।

खण्डिता नायिका—जिसका प्रिय दूसरी नायिका के पास से आवे और यह नायिका दुख का अनुभव करे।×

प्यारी चितै रही मुख पिय को।
अंजन अधर कपोलनि वन्दन लाग्यौ काहु तिय को ॥
तुरत उठी दर्पण कर लीन्हे देखो वदन सुधारो।
अपनों मुख उठि प्रात देखि के तब तुम कहूँ सिधारो ॥
काजर विन्दन अधर कपोलनि सकुचे देखि कन्हाई।
सूर स्याम नागरि मुख जोवत वचन कह्यो नहि जाई ॥ ३३ ॥
—पृष्ठ ३७२ (३१०० ना० प्र० स०)

खण्डितान्तर्गत मध्या अधीरा नायिका— (मतिराम के अनुसार)

तहाँ जाहु जहाँ रैनि बसे हौ।
काहे कों दाहन हौ आये अंग-अंग चिह्न लसे हौ ॥
अरगजे अंग मरगजी माला बसन सुगन्ध भरे हौ।
काजर अधर कपोलन वन्दन लोचन अरुन धरे हौ ॥ ५३ ॥
—पृष्ठ ३७४ (३१२० ना० प्र० स०)

अन्य संभोग दुःखिता—नायक को अन्य स्त्री से प्रेमासक्त देखकर या सुनकर नायिका उस स्त्री को उलाहना दे या उसके प्रति क्रोध प्रकट करे—

× हरिवंश, विष्णु पर्व ६५-६७ मे खंडिता सत्यभामा का वर्णन है जो कृष्ण को छली, धूर्त, शठ आदि शब्दों से सम्बोधित करती है।

यह कहि सुख, मन सोचई भई सौति हमारी
ऐसी सुन्दर नारिकों जबही वे पैहैं।
दोउ भुज भरि अंकवारि कै हंसि कराठ लगैहै॥
यह वैरिन मोकों भई धौ कहँते आई।
स्यामहि वस करि लेइगी मैं जानी माई॥ पृष्ठ ३१८
—(२८१६ ना० प्र० स०)

अनुशयना—सकेत स्थान पर से मुरली वादन को सुनकर उसको सपत्नी समझना और दुखी होना-इस व्यंग्य से दूसरी अनुशयना नायिका सिद्ध होती है जो पछता रही है कि वह मुरली वजाने वाले के पास न पहुँच सकी।

अँखियनि ते मुरली अति प्यारी वे वैरिनि यह सौति॥
(३०२७ ना० प्र० स०)

सावधान तुम होत नहीं क्यों उपजी बुरी बलाइ।
सूरदास प्रभु हम पर याकों कीनी सौति बजाइ॥ पृष्ठ ३३८
(१८३६ ना० प्र० स०)

इस पद मे नायक का मुरली वजाने से संकेत स्थान मे पहुँचना सूचित होता है और नायिका का न पहुँचना।

उत्कण्ठिता नायिका

ललिता—सांझहि ते हरि पंथ निहारै।
ललिता रुचि करि धाम आपने सुमन सुगन्धनि सेज संवारै॥
कबहुँक होति वारनैं ठाढ़ी, कबहुँक गनति गगन के तारे।
कबहुँक आइ गली मग जोवति अजहुँ न आये स्याम पियारे॥३०॥
—पृष्ठ ३७२ (३०६७ ना० प्र० स०)

चन्द्रावली—चंद्रावली स्याम मग जोवति।
कबहुँ सेज कर झारि संवारति कबहुँ मलयरज भोवति॥
कबहुँ नैन अलसात जानिके जल लै लै पुनि धोवति।
कबहुँ भवन कबहूँ आँगन ह्वै ऐसे रैनि विगोवति॥
कबहुँक विरह जरति अति व्याकुल आकुलता मन मोवति।
सूरस्याम बहु रवनि-रवन पिय यह कहि तव गुण तोवति॥४६॥
—पृष्ठ ३७४ (३११६ ना० प्र० स०)

इसी प्रकार वृन्दा, कुमुदा, शीला आदि के साथ कृष्ण का विहार वर्णन किया गया है।

मानवती नायिका (शिक्षा सखी)—
यह ऋतु रूसिवे की नाहीं।
वरसत मेघ मेदिनी कै हित प्रीतम हरपि मिलाहीं॥

जेती वेलि ग्रीषम ऋतु डाही ते तरुवर लपटाहीं।
जे जल विनु सरिता ते पूरन मिलन समुद्रहि जाहीं॥
जोवन धन है दिवस चारि कौ ज्यौं बदरी की छाहीं।
मैं दम्पति रस-रीति कही है समुझि चतुर मन माहीं॥
यह चित धरहु सखीरी राधिका दे दूती कौं बाही।
सूरदास हठि चलहु राधिका संग दूती पिय पाहीं॥६४॥ पृष्ठ ४०१

(३२६३ ना० प्र० स०)

शृंगार के अन्तर्गत दूती का भी एक प्रधान स्थान है। सूर ने इसका भी वर्णन किया है—

मान-भंगार्थ दूती को भेजना—विरह निवेद और संघट्टनः—

बहुरि नागरी मान कियो।
लोचन भरि-भरि ढारि दिये दोउ अति तनु बिरह हियो॥
यह सुनिके दूती हरि पठई देखि जाय अनुमान।
सूरस्याम यह कहितिहि पठई तजहि जेहि मान॥२०॥ —पृष्ठ ३८१

(६१८३ ना० प्र० स०)

नायक भेद

नायिका भेद मे नायिका का मान तो अतीव प्रसिद्ध है, पर सूर ने नायक के मान का भी वर्णन किया है। कृष्ण के राधा से रूठ जाने पर सूर लिखते हैं—

मानी नायक (कृष्ण का मान)

लाल निठुर ह्वै बैठि रहे।
प्यारी हा-हा करति मनावति पुनि-पुनि चरन गहे॥
नहिं बोलत नहि चितवत मुखतन धरनी नखन करोवत।
आपु हंसति पुनि-पुनि उर लागति चकित होत मुख जोवत॥
कहा करत ए बोलत नाही पिय यह खेल मिटावहु।
सूरस्याम सुख कोटि चन्द्रछवि हंसिकैं मोहि दिखावहु॥ —पृष्ठ ३१२

(२७६४ ना० प्र० स०)

सूर ने राधा की तिरछी दृष्टि से कृष्ण को मूर्छित भी करा दिया है।

कृष्ण की मूर्छा—चितई चपल नैन की कोर।

मन्मथ बान दुसह अनियारे निकसे फूटि हिये वहि ओर॥
अति व्याकुल धुकि धरनि परे जिमि तरुन तमाल पवन के जोर।
कहुँ मुरली कहुँ लकुट मनोहर कहे पट कहूँ चंद्रिका मोर॥

(३३५७ ना० प्र० स०)

खन बूड़त खन ही खन उछरत विरह सिंधु के परे झकोर।
प्रेम सलिल भीज्यो पीरो पट फट्यों निचोरत अंचल छोर ॥ ८६॥
—पृष्ठ ४०० (३३५७ ना० प्र० स०)

नायकों के भी कुछ अन्य स्वरूप भी सूरसागर में उपलब्ध होते हैं।

नीचे के पद मे उपपति नायक का चित्र है :—

उपपति नायक—नैन कोर हरि हेरि कैं प्यारी वस कीन्हीं।
भाव कह्यौ आधीन को ललिता लखि लीन्ही ॥
तुरत गयो रिस दूरि ह्वै हंसि कंठ लगाये।
भली करी मन भावते ऐसेहु मैं पाये।
भवन गई गहि बॉह लै जागे निसि जाने।
अंग सिथिल निशि श्रम भयौ मनही मन माने ॥
अंग सुगन्ध मर्दन कियो तुरतहिं अन्हवाये।
अपने कर अंग पोंछि के मन साध पुराये ॥
चीर आभूषण अंग दै बैठे गिरिधारी।
रुचि भोजन पिय कौं दियो सूरज वलिहारी ॥ ४० ॥
—पृष्ठ ३७३ (३१०७ ना० प्र० स०)

इसी प्रकार कतिपय पदों में धृष्ठ, शठ, दक्षिण, अनुकूल आदि नायकों का भी वर्णन मिलता है।

परकीया—वैष्णव भक्ति की रागानुगा (गौडीय) शाखा में परकीया प्रेम को श्रेष्ठता दी गई है। सूर की राधा कृष्ण की विवाहिता पत्नी हैं। अतः वह स्वकीया है। परन्तु कुछ गोपियों के रूप मे परकीया प्रेम की भी अभिव्यंजना पाई जाती है। नीचे के पद मे कुल-मर्यादा छोड़कर कोई गोपी कृष्ण के प्रेम में तन्मय हो रही है—

थकित भये मोहन मुख नैन।
घूंघट ओट न मानत कैसेहु वरजत-वरजत कीन्हों गौन ॥
निदरि गई मर्यादा कुल की अपनों भायौ कीन्हों।
मिले जाइ हरि आतुर ह्वै के लूटि सुधा-रस लीन्हों ।।—पृष्ठ २३१
(२६५७ ना० प्र० स०)

इसी प्रकार "आरज पंथ चले कहा सरि है स्यामहिं सङ्ग फिरौं री।" (२७२० ना० प्र० स०) पंक्ति से भी परकीया का भाव सूचित होता है।

सूरसागर मे संयोग शृंगार का अतीव व्यापक वर्णन मिलता है। उसमें उपालम्भ, प्रतिविम्ब दृश्य, धृष्ठता, पति-पत्नी का अन्योन्य स्वरूप धारण करना

अर्थात् (राधा का कृष्ण बनना और कृष्ण का राधा वस्त्र परिवर्तन, मुरली, शरदकी चाँदनी मे रासलीला, हिंडोले पर झूलना, फाग खेलना आदि अनेक शृंगार-सम्बन्धी प्रसंगों का उल्लेख हुआ है। संयोग शृङ्गार का ऐसा कौन सा पक्ष है जो सूर की लेखनी से न निकला हो। परवर्ती कवि तो सूरके उच्छिष्ट मात्र को ही अपनी रचनाओं मे अंकित करते रहे, पर उनमे वह ताजगी कहाँ, जो सूर की प्रमुख विशेषता है ?)

शृङ्गार मे वीर रस—शृंगार रस के अन्तर्गत वीर रस की सामग्री जुटाने का कार्य अनेक कवियों ने किया है। जायसी ने बादल (एक योद्धा का नाम) के प्रसंग मे उसकी द्विरागमन मे आई हुई पत्नी के शृंगार वर्णन मे ऐसा ही किया है। पर यह शृंगार मे वीर रस का आभास मात्र है। वास्तव मे वहाँ वर्णन शृंगार रस का ही है। सूर ने नीचे लिखे पद मे रूपक और उत्प्रेक्षा अलंकारों द्वारा शृंगार मे वीर रस का वर्णन किया है—

रुँधे (रुपे) रति संग्राम खेत नीके
एक ते एक रन वीर जोधा प्रबल मुरत नहिं नैंक अति सबल जी के ।।
भौंह कोदण्ड सर नैन बानुषी काम छूटनि मानों कटाक्षनि निहारैं ।
हँसनि द्विज चमक, करिवरनि लौ है फलक, नखन-छत-घात नेजा सँभारैं ।।
पीतपट डारि कंचुकी मोचित करनि, कवच सन्नाह सो छुटे तन तैं ।
भुजा भुज धरत मनों द्विरद सुण्डनि लरत, उर उरन भिरे दोउ जुरे मन तैं ।।
लटकि लपटानि सुभट लरि परे खेत, रति सेज रुचि ताम कीन्ही ।
सूर प्रभु रसिक प्रिय राधिका रसिकिनी, कोक गुन सहित सुख लूटि लीन्ही ।।
१७००, पृष्ठ ३०६-३१० (२७४७ ना० प्र० स०)

यहाँ सूर शृंगार मे वीर रस का आभास मात्र देके ही नही रह जाता। वह उसका और अधिक विकास करता है। किसी बात को कह कर छोड़ देने की उसकी प्रवृत्ति ही नही है। वह उस बात की गहराई और विस्तार दोनों मे जाता है। संचारी भावों के सम्बन्ध मे हम उसकी इस प्रवृत्ति का संकेत पहले भी दे चुके हैं। (किसी भाव को अंकुरित करके वह उसका दूर तक प्रस्फुटन करता जाता है, जिसमे वह भाव रस नहीं, तो रसवत कोटि तक तो अवश्य ही पहुँच जाता है। शृंगार मे वीर रस का वर्णन करते हुए भी वह अपने इस स्वभाव का परित्याग नहीं करता)। दो वीरों में संग्राम हुआ है तो किसी ने विजय भी तो प्राप्त की होगी।

विजय नहीं, तो दोनों की कुश्ती बराबर छूटी होगी। पर नहीं, इस स्मर-समर में तो राधा विजयिनी बनी है और आज वह अपनी विजय के उपलक्ष्य में वीर सैनिकों को 'विक्टोरिया क्रास' जैसे आभूषण प्रदान कर रही है। सूर लिखते हैं—

बहुरि फिरि राधा सजति सिंगार।
मनहुँ देति पहिरावति अंग, रन जीते सुरति अपार।।
कटि तट सुभटनि देन रसन पट भुज भूषन उर हार।
कर कंकन, काजर, नकबेसरि, दीन्ही तिलक लिलार।।
बीरा बिहँसि देत अधरन कौं सन्मुख सहे प्रहार।
सूरदास प्रभु के जो बिमुख भये बाँधति कायर बार।।

—पृष्ठ ३१५ का अन्तिम पद (२८०१ना० प्र० स०)

कृष्ण के साथ रण करने से बाल विमुख रहे। अतः वे कायर घोषित कर दिये गये और उनको बन्धन का दण्ड दिया गया, परन्तु जिन्होंने सामने डट कर युद्ध किया है, उन्हें पारितोषिक भी मिला। राधा के सैनिकों के सामने कृष्ण की सेना भला क्या ठहरती ! इसीलिए यह विजयोत्सव मनाया जा रहा है। हाथों को कंकण, नासिका को नथ, ललाट को तिलक, अधरों को बीड़ा और वक्षस्थल को हार पहिनाया अथवा दिया जा रहा है। धन्य है सूर की कान्त एवं क्रान्त कल्पना ! शृंगार-सज्जा के अङ्गीभूत आभूषणों का वर्णन भी कर दिया और उसके साथ विजयोत्सव मना कर उपहार भी वितीर्ण करा दिये। एक साथ दो-दो काम—और इस खूबी के साथ—दिल कहता है कि सूर को दिल खोल कर दाद दी जाय ! ऐसा भाव-प्रधान कवि किसी भाषा को भाग्य से मिलता है।

विप्रलम्भ—जितनी निपुणता एवं रसिकता के साथ सूर ने संयोग शृङ्गार का वर्णन किया है, उतनी ही दक्षता एवं मग्नता के साथ विप्रलम्भ का भी। जो व्यापकता, विस्तार एवं गम्भीरता संयोग शृंगार के अन्तर्गत आने वाली मनोदशाओं के चित्रण में प्रकट हुई है, वही वियोग-वर्णन में भी पाई जाती है। मलिक मुहम्मद जायसी की पद्मावत में भी वियोग का चित्रण व्यापक रूप से किया गया है। नागमती के विरह वर्णन में कवि ने पशु, पक्षी, भवन, वाटिका सबको विरह से प्रभावित दिखाया है। सूर की विरह-विदग्धा गोपियों, राधा एवं यशोदा के भी साथ लतायें जल रही हैं, यमुना विरह-ज्वर से काली पड़ गई है, गायें कृष्ण-विरह में क्षीण एवं कृशगात हो गई हैं, और व्रज की शस्यश्यामला वसुंधरा सुनसान एवं वीरान हो रही है। कृष्ण का वियोग सामान्य विरह का द्योतक नहीं है, उसमें व्रजभूमि के बहाने समग्र भूमण्डल तथा गोपियों के बहाने

निखिल प्राणि-समूह का विरह चित्रित हो रहा है। सूर के हृदय की जो धड़कन और तड़पन विप्रलम्भ के वर्णन में प्रकट हुई है, उसमें मानों समस्त विश्व का हृदय योग दे रहा है।

(आचार्यों ने संयोग श्रृंगार से विप्रलम्भ श्रृंगार को उच्च स्थान दिया है। यह भी सकारण है। संयोग मे प्रेम की वास्तविकता छिपाने के लिए अनेक अवसर आ जाते हैं, पर वियोग मे ऐसा होना असम्भव है। प्रेमी के वास्तविक प्रेम का परिचय वियोगावस्था में ही होता है। प्रेम-रूपी स्वर्ण का खरा और खोटा होना वियोग की कसौटी पर कसने से ही मालूम पड़ता है। कृष्ण की विद्यमानता मे यदि राधा तथा गोपियाँ उनसे प्रेम करती हैं, तो वह जनता के सामान्य धरातल की सी बात है, पर यदि वही प्रेम उतनी ही तीव्र मात्रा मे, उतनी ही विभोरता के साथ वियोग में भी प्रकट होता है, तो उसकी सत्यता मे किसी को संदेह नहीं हो सकता। सूरसागर मे इस वियोग का सफल चित्रण है। इस क्षेत्र मे भी सूर की समता करने वाला, विरह—वेदना का इतना विस्तृत और गम्भीर अनुभव करने वाला, कोई कवि नहीं दिखाई पड़ता। सूर विप्रलम्भ श्रृङ्गार का अद्वितीय कवि है। उसके सूरसागर मे वियोग-जन्य नाना प्रकार की मानसिक दशाओं की तरंगें उद्वेलित हो रही हैं, हृदय की घनीभूत पीड़ा आँसुओं की शतशत धाराओं में प्रकट होकर लहरें मार रही है।)

बड़ी गंभीर, तीव्र एवं तड़पा देने वाली है यह विरह-जन्य वेदना। कृष्ण मथुरा जाने वाले हैं। व्रज-वासियों के लिए कृष्ण-वियोग का यह प्रथम अवसर है। इस समय उनकी जो दशा हो रही है, उसका थोड़ा-सा उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं। कृष्ण के चलने के समय और उसके पश्चात् जो दशा हुई, वह तो कठोर से। कठोर हृदय को भी द्रवित करने वाली है। सूर जैसे भावुक हृदय वाले व्यक्ति की अनुभूति का तो कहना ही क्या!

सहृदय सूर लिखते है कि कृष्ण के रथ मे बैठते ही 'महरि पुत्र कहि सोर लगायो तरु ज्यों धरनि लुटाइ'—यशोदा तो 'पुत्र-पुत्र' चिल्लाती हुई धड़ाम से धरती पर गिर पड़ी तथा अन्य गोपियाँ चित्रवत स्तब्ध खड़ी रह गईं। कोई किसी से नहीं बोलता। सबके मुख फीके पड़े हुये हैं। आँखों से अविरल अश्रुधारा बह रही है—सबके सब व्याकुल, बेचैन, लुटे हुए से—

रही जहाँ सो तहाँ सब ठाढ़ी।
हरि के चलत देखियत ऐसी मनहुँ चित्र लिखि काढ़ी॥

सूखे वदन, स्रवत नैनन ते जलधारा उर वाढ़ी।
कंधनि बाँह धरे चितवति द्रुम मनहुँ बेलि दव-डाढ़ी ॥३५॥

पृष्ठ ४६० (३६१२ ना० प्र० स०)

गोपिकाओं के पैर घर जाने के लिए नहीं बढ़ते। नेत्र आगे न देख कर पीछे ही देखते है। जब मन ही उस माधुर्य मूर्ति के साथ चला गया, तो नेत्र और पैर यहाँ कैसे रह सकते है। एक गोपी कहती हैः—

पाछे ही चितवत मेरे लोचन, आगे परत न पाँइ।
मन लै चली माधुरी मूरति कहा करौ ब्रज जाइ॥
पवन न भई पताका अम्बर भई न रथ के अङ्ग।
धूरि न भई चरन लपटाती जाती वहँ लौं संग ॥४०॥

पृष्ठ ४६१ (३६१७ ना० प्र० स०)

गोपी के हृदय की यह भावना अनन्य प्रेम की सूचक है और उससे प्रियतम का सामीप्य जैसे भी हो, प्राप्त करने का लक्ष्य स्पष्ट हो रहा है। निम्नलिखित पद से भी गोपियों की तन्मयता सूचित होती है। वे अपना पृथक् अस्तित्व रखना ही नहीं चाहतीं। उनका ध्येय है श्याममय हो जानाः—

बिछुरे श्री ब्रजराज आजु इन नैननु की परतीति गई।
उठि न गए हरि संग, तबहि ते ह्वै न गए सखि स्याम-मई ॥३७॥

पृष्ठ ४६० (३६१४ ना०प्र०स०)

गोपियों के लिए जो घर कृष्ण की विद्यमानता मे स्वर्ग का नन्दन कानन बना हुआ था, वह आज कृष्ण के वियोग मे उन्हे काटने दौड़ता हैः—

अरी मोहि भवन भयानक लागै माई स्याम बिना।
सूरदास मोहन दरसन विनु सुख-संपति सपना ॥४७॥

पृष्ठ ४६१ (३६२६ ना० प्र० स०)

भवन ही क्या समस्त सुख-सम्पत्ति मोहन के विरह मे स्वप्न हो रही है। और तो और, जब से श्याम गये, तब से श्यामला रजनी को देख देख कर किसी को भी नीद नही आतीः—

आजु रैनि नहिं नीद परी।
जागत गनत गगन के तारे रसना रटत गोविद हरी ॥४४॥

पृष्ठ ४६१ (३६२२ ना०प्र०स०)

गोपियाँ सोचती है, इस विरह-व्यथा को सहन करने से तो अच्छा होना यह हृदय ही विदीर्ण हो जाता। अनुभूति का केन्द्र हृदय ही तो है। न यह रहता

न व्यथा का अनुभव करना पड़ता । 'हरि बिछुरत फाट्यो न हियो । भयो कठोर बज्र ते भारी रहि कै पापी कहा कियो ।।" ३६२३ । यह वज्र-कठिन हृदय न फटा ! यह पापी रह-रह कर दुख का अनुभव करा रहा है ! क्यों न उस समय विष घोल कर पी लिया ? इस जर्जर जीवन से तो मृत्यु ही मंगलमयी थी ।

कृष्ण के वियोग में व्रज की समस्त श्री, सकल शोभा ध्वस्त हो गई । क्या जड़ और क्या जंगम, क्या चेतन और क्या अचेतन; क्या पशु और क्या मानव, सबके सब विहल और विकल हो रहे हैं । गायों ने दूध देना और तृण चरना तक छोड़ दिया है । विरह के फंदों में फंसे हुए सबके सब तड़प रहे हैं, तिलमिला रहे हैं । सूर नीचे लिखे पद में व्रज भूमि का कैसा करुण चित्र अंकित करते हैं:—

तब ते मिटे सबै आनन्द ।*
या व्रज के सब भाग, सम्पदा, लै जु गये नंदनंद ।।
विह्वल भई जसोदा डोलति, दुखित नंद उपनंद ।
धेनु नहीं पय स्रवति रुचिर मुख चरति नाहिं तृण कंद ।।
विषम वियोग दहत उर सजनी बाढ़ि रहे दुख द्वन्द ।
सीतल कौन करै री माई नाहिं इहाँ व्रजचंद ।।
रथ चढ़ि चले, गहे नहि काऊ, चाहि रही मति मन्द ।
सूरदास अब कौन छुड़ावै परे विरह के फन्द ।।६०।।

पृष्ठ ४८० (३७७५ ना० प्र० स०)

गोपी, ग्वाल, गायें, सभी पीले पड़े हुए हैं । कृष्ण के विना जैसे इनका कोई भी संरक्षक नहीं रहा । सब के सब अनाथ तुल्य जीवन के दिन बिता रहे हैं मांसल शरीर सूख कर काँटा हो रहा है । चारों ओर से जैसे दावानल उमड़ता-घुमड़ता चला आता हो और उसमें समस्त व्रज वसुन्धरा धाँय-धाँय करके जल रही हो:—

गोपी गाइ सकल लघु दीरघ पीत वरन कृस गात ।
परम अनाथ देखियत तुम विनु केहि अवलम्बिये तात ।।

---

* शीर्णा गोकुल मण्डली, पशुकुलं शष्पाय न स्पन्दते ।
मूका· कोकिल संहतिः शिखिकुलं न व्याकुलं नृत्यति ।
सर्वे त्वद् विरहेण हन्त नितरां गोविन्द दैन्यं गताः ।
किन्त्वेका यमुना कुरङ्ग नयना नेत्राम्बुभिर्वर्धते ।।

दसहू दिसि ते उदय होत हैं दावानल के कोट।
आँखिन मूँदि रहत सन्मुख ह्वै नाम कवच दै ओट ॥३॥
पृष्ठ ४८१ (३७८६ ना० प्र० स०)

नंद, यशोदा, गोपी सब के सब कृष्ण के विषम वियोग में सुध-बुध भूले हुए हैं। उन्हें कभी संध्याकाल में कृष्ण का गायें चराकर लौटना याद आता है; कभी उनका वंशी बजाना और कभी उनकी नटखटपन से भरी हुई बाल लीलायें। एक दिन तो कृष्ण और बलराम के गुण कहते-सुनते समस्त रात्रि व्यतीत हो गई और यशोदा ने अश्रुभरित नेत्रों से प्रभात के दर्शन किए। नीचे लिखे पद में विगत स्मृतियों का कितना सुन्दर चित्रण है:—

इहि बिरियाँ बन ते ब्रज आवते।
दूरहिं ते वे बेनु अधर धरि बारम्बार बजावते॥
कबहुँक काहू भाँति चतुर चित अति ऊँचे सुर गावते।
कबहुँक लै-लै नाम मनोहर धौरी धेनु बुलावते॥
इहि बिधि बचन सुनाय स्याम घन मुरछे मदन जगावते।
आगम सुख उपचार बिरह ज्वर बासर ताप नसावते॥
रुचि रुचि प्रेम पियासे नैनन क्रम-क्रम बलहिं बढ़ावते।
सूरदास रसनिधि सुन्दर घन आनंद प्रगट करावते ॥३५॥
पृष्ठ ४८५ (३८१६ ना० प्र० स०)

इसी प्रकार ब्रजवासियों को कभी कृष्ण की माखन-चोरी याद आती है, कभी बालकों की पंक्ति में बैठकर सबको भोजन बाँट-बाँट कर खिलाना और गायें चराना याद आता है। विरह में स्मृतियां वृश्चिक दंशन का कार्य करती हैं। दुःख में सुखकी बातें शूल के समान चुभती हैं। केलि और विलास के स्थान खाने दौड़ते है। इन सबको सामने लाकर विरही के हृदय से जो हूक उठती है, उससे "अपिग्रावा रोदत्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्' पत्थर भी रोने लगते हैं और वज्र का भी हृदय विदीर्ण हो जाता है। (सूर की रचना में हृदय ही हृदय यहाँ से वहाँ तक दिखलाई दे रहा है। कभी वह पिघल कर बहने लगता है, तो समग्र विश्व का हृदय उस में डूबने उतराने लगता है और जब जमकर, आश्वस्त होकर स्थिर होता है, तो नवनीत की पुतली के समान कोमल एवं सुकुमार, मुग्ध एवं स्निग्ध रूप में जन-जन के लोचनों को आप्यायित करने लगता है। गजब की है सूर की यह हृदयानुभूति, यदि सूर को हृदय और हृदय को सूर कहें तो अत्युक्ति न होगी।)

संयोगावस्था में जो वस्तुयें सुखदायिनी होती हैं, वियोग में वे ही दुःखदायिनी बन जाती हैं। वर्षा की जो फुहारें कभी प्रेमोद्दीपक करती थीं, वे ही आज गोपियों के लिये, गोपी ही क्या समस्त व्रजवासियों के लिये, भाले और बाणों का कार्य कर रही हैं। बादल उमड़-घुमड़ कर अपने भयावने रूप से गोपियों को भयभीत कर रहे हैं। पावस ने विकराल आक्रान्ता का रूप धारण कर लिया है। वे काले-काले बादलों के दल के दल उन मतवाले हाथियों के समान हैं, जिन्होंने बन्धन तोड़ डाले हैं। अपने पैरों तले न जाने कितनों को रौंद कर, कुचल कर, सूंड में लपेट कर ये संहार की विभीषिका उत्पन्न करेंगे! सूर लिखते हैं:—

देखियत चहुँ दिसि ते घन घोरे।
मानों मत्त मदन के हथियन बल करि बन्धन तोरे॥
स्याम सुभग तनु, चुअत गण्ड मद, बरसत थोरे थोरे।
रुकत न पौन महावत हू पै मुरत न अंकुस मोरे॥
बिनु बेला जल निकसि नयन तैं कुच कंचुकि बंद बोरे।
मनों निकसि बग पाँति-दाँत उर-अवधि-सरोवर फोरे॥
तब तेहि समय आनि ऐरापति व्रजपति सों कर जोरे।
अब सुनि सूर कान्ह केहरि बिनु गरत गात जैसे ओरे॥ १८॥

पृष्ठ ४६३ (३८२१ ना० प्र० स०)

इस पद में सांगरूपक है। घोर गर्जना करते हुये बादल मद-मत्त हाथी हैं। पानी का बरसना हाथियों के गंडस्थल से मद-जल का टपकना है। पवन महावत बना हुआ है, परन्तु आज ये बादल रूपी वारण उसके अंकुश रूपी निवारण तक को नहीं मानते। बादलों में उड़ते हुए श्वेत बगुले मानों हाथियों के श्वेत दाँत हैं, जो हृदयरूपी सरोवर की अवधि रूपी सीमा को फोड़कर बाहर निकले हैं। तालाब का बाँध ही टूट गया, तो पानी कैसे रुक सकता है? तभी तो बाहर यह जलधार और गोपियों के हृदयों को फोड़कर निकली हुई कुच-कंचुकि-बन्धन सबको डुबोती हुई यह अश्रुधारा कितने उद्दाम वेग से प्रवाहित हो रही है। बेला अर्थात तट-भूमि रूपी अवधि की वेला (समय) के टूट जाने से जल रूपी आँसू बह चले हैं। कितना सुन्दर रूपक का निर्वाह है। चमत्कार-वादिता और रसात्मकता का एकत्र योग प्रायः असम्भव होता है, पर यहाँ दोनों एक साथ विद्यमान हैं। रूपक के निर्वाह और कल्पना पर दृष्टि डालिये, तो एक अद्भुत चमत्कार की सृष्टि दृष्टि के सम्मुख उपस्थित हो जाती है और गोपियों के हृदय, रोदन एवं अश्रुधार पर दृष्टि ले जाइये, तो आप करुणा-

सागर में मग्न हुये विना न रहेंगे। कृष्ण रूपी केहरी (सिंह) के बिना गोपियों के गात तो ओले के समान गल ही रहे हैं, आप भी उनकी वेदना के अनुभव से व्यथा-विगलित हो उठेंगे। ये बादल बादल नहीं, पूरे वधिक हैं, जो विरहिणी गोपियों का वध करने के लिये आये हैं। "बदरिया बधन हिरहिनी आई"— इन शब्दों में कितनी करुणा भरी पड़ी है।

वर्षा ऋतु में कभी कभी बादल हट जाते हैं और चन्द्र की ज्योत्स्ना दिखलाई देने लगती है, तो गोपियाँ समझती हैं कि यह रात्रि नहीं, काली नागिनी है। नागिनी की पीठ काली होती है, पर उसके नीचे का भाग श्वेत होता है। नागिन जब किसी को काटती है, तो नशे के कारण स्वयं उलटी हो जाती है। इस अवस्था में उसकी काली पीठ नीचे और नीचे का श्वेत भाग ऊपर आ जाता है। इस रात्रि ने भी वियोगिनी गोपियों को डसा है, तभी तो उलट जाने से अंधकार रूपी काली पीठ का भाग तो छिप गया, परन्तु चंद्रिका के रूप में नीचे का श्वेत भाग ऊपर आकर प्रकाश करने लगा है। सूर लिखते हैं:—

पिया विनु नागिनि कारी रात।
कबहुँक जामिनि उअत जुन्हैया, डसि उलटी ह्वै जाति॥
जंत्र न फुरत मंत्र नहिं लागत प्रीति सिरानी जात।
सूर स्याम विनु बिकल विरहिनी, मुरि मुरि लहरैं खात॥
(३८६० ना०प्र०स०)

नागिनी का काटा क्या कभी बच सका है? चाहे जितने यंत्र-मंत्र करलो, एक भी कारगर न होगा। यह दंशन मुड़-मुड़ कर लहरें देता हुआ, शरीर को ठण्डा करके ही छोड़ेगा।

गोपाल के वियोग में रात्रि नागिन है, तो कुंज वैरी बने हुये हैं। जो लतायें पहिले शीतल प्रतीत होती थीं, अब उनसे अग्नि की लपटें निकलती मालूम पड़ती हैं। क्या यमुना का जल इस अग्नि को बुझाने में समर्थ है? क्या ये कमल, जल, कपूर, चाँदनी इस दाह का उपचार कर सकेंगे? अरे व्यर्थ हैं ये सब:-

विनु गोपाल वैरिनि भई कुंजें।
तब ये लता लगति तन सीतल अब भई विषम अनल की पुंजें॥
वृथा बहति यमुना खग बोलत, वृथा कमल फूलें अलि गुंजें।
पवन पानि घनसार सुमन दै दधिसुत किरन भानु भईं भुंजें॥ २१॥
पृष्ठ ४८३ (४६८६ ना० प्र० स०)

कृष्ण अपने आगमन की जो अवधि बता गये थे, वह भी बीत गई। मार्ग जोहते-जोहते आँखें गुंजे के समान लाल हो गईं, पर गोपाल न लौटे। गोपियाँ सोचती हैं, जब जड़ प्रकृति तक एक निश्चित अवधि के व्यतीत हो जाने

पर लौट आती है, तो चेतन मानव अपनी प्रतिज्ञा को कैसे भूल जाता है? कृष्ण! देखो, ये बादल भी अपने बरसने का समय जान कर आगये!

बरु ये बदराऊ बरसन आये।
अपनी अवधि जान नँदनंदन, गरजि गगन घन छाये॥
कहियत है सुरलोक बसत सखि सेवक सदा पराये॥
चातक पिक की पीर जानि के तेउ तहाँ ते धाये।
तृण किये हरित, हरषि बेली मिलि, दादुर मृतक जिवाये।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि मधुबन बसि बिसराये॥ ८२॥

पृष्ठ ४६४ (३६२६ ना० प्र० स०)

चातक, पिक, दादुर, और तृणादि की पीड़ा का ज्ञान जब श्याम घन को है, पर हमारा चेतन घन-श्याम जान-बूझ कर भी अजान बन गया! अच्छा श्याम घन! तुम वीर हो, पथिक हो, यदि मथुरा की ओर जाओ, तो अपने नामराशि उस श्याम को हमारा संदेश ही पहुँचा देना—

वीर बटाऊ पंथी हो तुम कौन देश ते आये।
इह पाती हमरी लै दीजो जहाँ साँवरे छाये॥
दादुर मोर पपीहा बोलत सोवत मदन जगाये।
सूरदास गोकुल ते बिछुरे आपुन भये पराये॥ ८३॥ पृष्ठ ५००

(४००० ना० प्र० स०)

वर्षा में मोर और चातक गोपियों को दुःख देते थे। "हमारे माई मोरऊ बैर परे" ३६४७; मोर तो अपने पंखों को कृष्ण के मुकुट में लगा जान कर धृष्ट हो गये थे, पर 'सूरदास परदेश बसे हरि ये बन तें न टरे" कृष्ण के परदेश चले जाने पर ये भी वन से चले जाते, तो अच्छा था! ये तो "घन गरजत बरज्यों नहिं मानत, त्यों त्यों रटत खरे"—"मुओं मुओं करके चिल्लाते ही रहते हैं! मोर तो मोहन के विरह में जलाते ही हैं, पर इस पपीहे को क्या हो गया—

"हों तो मोहन के विरह जरी रे तू कत जारत।
रे पापी तू पंखि पपीहा पिउ-पिउ-पिउ अधराति पुकारत॥"

(३६५६ ना० प्र० स०)

अर्द्धरात्रि और प्रिय की पुकार! पपीहे? क्यों जलाता है?... पर अभी गोपियों की पीड़ा का अन्त नहीं। वर्षा बीती तो शरद आ गई। शरद के आगमन पर कहीं श्याम का भी आगमन होता! गोपियों की साध कदाचित् सफल होने वाली नहीं, तभी तो वे कहती हैं:—

"सरद समय हू स्याम न आये।
को जानें काहे तें सजनी कहुँ वैरिनि बिरमाये ।।" (३६६१ ना०प्र०स०)

शरद की चाँदनी प्रसिद्ध है। समस्त विश्व उसकी सुधा से सिक्त हो आनन्द मनाता है, पर वियोगिनी के लिए वह भी विषाक्त है। एक गोपी कहती है:—

"या बिनु होत कहा ह्यां सूनों।
लै किन प्रगट कियो प्राची दिसि बिरहिनि कों दुख दूनों ।।"

तथा

"चितै चंद तन सुरति स्याम की विकल भई ब्रजबाल"
(३६७३ ना० प्र० स०)

चन्द्र को देखकर श्याम की याद आते ही ब्रजबालायें व्याकुल हो गईं।

वियोग में प्रकृति के जो दृश्य अपने विरोधी प्रतीत होते हैं, वे ही कभी-कभी अपने सहायक के रूप में भी दिखलाई देने लगते है। जोवर्षा कृष्ण-विरह को उद्दीप्त करती है, उसी मे श्याम का श्यामल रूप भी दृष्टिगोचर होता है। एक गोपी कहती है:—

"आजु घनस्याम की अनुहारि।
आए उनइ सॉवरे सजनी देखि रूप की आरि ।।" (३६३३ ना०प्र०स०)

यहाँ काले बादल श्री कृष्ण के समान है। इन्द्र धनुष मानों पीताम्बर को छवि धारण किये हुये है। दामिनी उनकी दन्तावलि की भाँति चमक रही है और उड़ती हुई श्वेत वक-पंक्ति मोतियों की माला के समान है। इसी प्रकार जिस चातक का स्वर इतना कर्णकटु प्रतीत होता था, वही जीवनदान देने वाला भी बन जाता है:—

"सखीरी चातक मोहि जियावत।
जैसेहि रैनि रटति हों पिय-पिय तैसेहीं वह पुनि गावत ।।"
(३६५२ ना० प्र० स०)

पराये कार्य को साधने वाला समझ कर गोपियाँ उसे आशीर्वाद भी दे रही हैं:—

"बहुत दिन जीवौ पपीहा प्यारो।
बासर रैनि नाँव लै बोलत भयो बिरह ज्वर कारो ।।
आपु दुखित पर दुखित जानि जिय चातक नाँउ तिहारो।
देखौ सकल विचार सखी जिय, बिछुरन कौ दुख न्यारो ।।
जाहि लगै सोई पै जाने प्रेम बान अनियारो।
सूरदास प्रभु स्वाति बूँद लगि तज्यो सिंधु करि खारौ" ।। ४८ ।।
पृष्ठ ४६७ (३६५५ ना० प्र० स०)

इसी द्रवित अवस्था मे गोपियाँ कोकिल के द्वारा भी अपना संदेश कृष्ण के पास भेज रही हैं:—

"कोकिल हरि को बोल सुनाउ।
मधुवन ते उपठारि स्याम को इहि ब्रज लैकरि आउ॥"

(३६५८ ना० प्र० स०)

विरह की दशा भी कैसा सामञ्जस्य का विधान करने वाली है। मानव सामान्य अवस्था में जिन वस्तुओं का कुछ भी महत्व नही समझता, वे ही इस दशा में उसका दुख घटाने के लिए हाथ बढ़ाती प्रतीत होती हैं।

जैसे सावन के अन्धे को हरा ही हरा सूझता है, वैसे ही वियोगावस्था में प्रेम की तल्लीनता के कारण विरह-विदग्ध व्यक्ति को सर्वत्र अपना ही रूप दिखलाई देता है। तभी तो गोपियों को अपने समान यमुना भी विरह-ज्वर में जलती प्रतीत होती है। सूर लिखते हैं:—

देखियत कालिन्दी अति कारी।
अहो पथिक कहियो उन हरि सों भई विरह जुर जारी॥
गिरि पर्यंक ते गिरति धरनि धसि तरंग तलफ तन भारी।
तटवारू उपचार चूर जल पूर प्रसेद पनारी॥
विगलित कच कुस कांस पुलिन पर पंकजु काजल सारी।
भौंर भ्रमत अति फिरति भ्रमित गति दिसि दिसि दीन दुखारी॥
निसि दिन चकई व्याज बकति है प्रेम मनोहर हारी।
सूरदास प्रभु जोई जमुना गति सोई गति भई हमारी॥२८॥ पृष्ट ४८४

(३८०६ न० प्र० स०)

इस पद में भी रूपक अलंकार का सुन्दर निर्वाह है और जैसा पूर्व कहा जा चुका है, रूप चित्रण के साथ भावव्यञ्जना तो सूर की अपनी विशेषता है। इस पद मे भी जहाँ विरह-विदग्ध व्यक्ति का बाह्य वेष व्यक्त हो रहा है, वहाँ विरह भाव के अन्तर्गत मानसिक भ्रम, सन्निपात आदि की भी विशद व्यञ्जना हो रही है।

इसी प्रकार गोपियों को वर्षा मे अपनी अश्रुधारा का ही प्रतिबिम्ब पड़ता दृष्टिगोचर होता है। वे कहती हैं:—

"निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति वर्षा ऋतु हम पर जब तें स्याम सिधारे॥

दृग अञ्जन न रहत निसि वासर कर कपोल भये कारे।
कंचुकि पट सूखत नहिं कबहूँ उर विच बहत पनारे ॥"
(३८५४ ना० प्र० स०)

वर्षा भी इस अश्रुधारा की क्या समता करेगी? यह वह वर्षा है, जिसके प्रवाह मे समस्त ब्रज डूबा जा रहा है। एक गोपी कहती है—

सखी इन नैननु तें घन हारे।
बिनु ही ऋतु बरसत निसि वासर सदा मलिन दोउ तारे ॥
ऊरध स्वास समीर तेज अति सुख अनेक द्रुम डारे।
दसन सदन करि बसे बचन खग दुख पावस के मारे ॥
सुमिरि सुमिरि गरजत जल छाँड़त अश्रु सलिल के धारे।
बूड़त ब्रजहि सूर को राखै बिनु गिरिवरधर प्यारे ॥६१॥ —४८७
(३८५२ ना० प्र० स०)

स्वास-रूपी समीर, सुख-रूपी वृक्ष, दशन-रूपी सदन और वचन-रूपी पक्षी कैसे सार्थक रूपक हैं, जिनसे अश्रुधारा और वर्षा की पूर्ण समता प्रकट हो जाती है।

इसी समता के साथ गोपियों को प्रकृति मे जहाँ कहीं वैषम्य दृष्टिगोचर होता है, वहीं वे कृष्ण-वियोग को तीव्र रूप मे अनुभव करने लगती है। मधुवन यदि हरा है, तो उसे सहानुभूति के लिए अनवकाश हृदय वाला समझ कर गोपियाँ धिक्कारती हैं। व्यञ्जना से मधुवन को धिक्कारना ऐसे व्यक्तियों की निन्दा का सूचक है, जो भगवद्भक्ति से शून्य हैं, जिनके हृदय में प्रभु-प्रेम ने कभी प्रवेश ही नही किया। गोपियाँ कहती हैं—

मधुवन तुम कत रहत हरे।
विरह वियोग स्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे ॥
तुम हौ निलज न लज्जा तुमको फिर सिर पुहुप धरे।
सस सियार अरु बन के पखेरू धिग धिग सबन करे ॥
कौन काज ठाढ़े रहे बन मे काहे न उकठि परे ॥४१॥ —पृष्ठ ४८५
(३८२८ ना० प्र० स०)

(ना० प्र० स० वाले पद में पाठांतर बहुत अधिक है। मुझे उपर्युक्त पाठ शुद्ध प्रतीत होता है।)

एकादश अवस्थायें—आचार्यों ने वियोग के अन्तर्गत एकादश अवस्थाओं का वर्णन किया है—अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुण-कथन, उद्वेग,

प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मूर्छा और मरण ! सूरसागर मे भी इन समस्त अवस्थाओं का वर्णन पाया जाता है। कुछ उदाहरण लीजिये—

अभिलाषा—लै आवहु गोकुल गोपालहि।
पाँइन परि क्योंहू विनती करि छल बल बाहु विशालहि ॥
अब की बार नैंक देखरावहु नंद आपने लालहि ॥८७॥ पृष्ठ ४८१
(३७८२ ना० प्र० स०)

ऐसौ कोऊ नाहिन सजनी जो मोहनै मिलावै।
वारेक बहुरि नँदनन्दन को जो ह्वांलों लै आवै ॥४५॥ —पृष्ठ ४८६
(३८३३ ना० प्र० स०)

चिन्ता—पाछैं ही चितवत मेरे लोचन, आगे परत न पांय।
मन लै चली माधुरी मूरति, कहा करौं ब्रज जाय ॥
पवन्न न भई पताका अंबर, भई न रथ के अंग।
धूरि न भई चरन लपटाती, जाती उह लौं संग ॥
(३६१७ ना० प्र० स०)

स्मरण—एक दिन नवनीत चोरत हौं रही दुरि जाइ।
निरखि मम छाया भजे मैं दौरि पकरे धाइ ॥
पोंछि कर मुख लिये कनियाँ तब गई रिस भागि।
वह सुरति जिये जात नाहीं रही छाती लागि ॥४६॥, पृष्ठ ४८६
(३८३४ ना० प्र० स०)

गुण-कथन—कहा दिन ऐसे ही जैहैं।
सुनि सखि मदनगोपाल (अब किन) आँगन मे ग्वालन संग न ऐहै (रैहै)
कबहूँ जात पुलिन जमुना के बहु विहार विधि खेलत।
सुरति होत सुरभी संग आवत (बहुत कठिन) पुहुप गहे कर झेलत ॥
मृदु मुसुकानि आनि राखो जिय चलत कह्यो है आवन।
सूर सो दिन कबहूँ तो ह्वै है मुरली सब्द सुनावन ॥५२॥ पृष्ठ ४८६
(३८४१ ना० प्र० स०)

उद्वेग—कहाँ लौं मानौं अपनी चूक।
बिनु गोपाल सखी ये छतियाँ ह्वै न गईं द्वै टूक ॥
हृदय जरत है दावानल ज्यों कठिन विरह की हूक ॥४६॥ पृष्ठ ४८६
(३८३८ ना० प्र० स०)

प्रलाप—भलो ब्रज भयो धरनि ते स्वर्ग।
तब इन पर गिरि अब गिरि पर ये प्रीति किधौं यह दुर्ग ॥५०॥
—पृष्ठ ४८६ (३८३६ ना० प्र० स०)

गोपालहिं पावौं धौं केहि देस।
शृङ्गी मुद्रा कर खप्पर लै करि हौं जोगिनि भेष ॥५४॥—पृष्ठ ४८७
(३८४४ ना० प्र० स०)

उन्माद—एल ग्वाल गोसुत ह्वै रेंगै, एक लकुट कर लेत।
एक मण्डली करि बैठारे छाक बांटि इक देत॥
(३७६३ ना० प्र० स०)

सखि कर धनु लै चन्दहि मारि।
उठि हरुवाय जाइ मंदिर चढ़ि ससि सन्मुख दरपन विस्तारि।
याही भाँति बुलाइ, मुकुर महँ, अति बल खंड खंड करि डारि॥*
(३६७१ ना० प्र० स०)

व्याधि—चितवत ही मधुवन दिन जात।
नैननि नींद परति नाहिं सजनी सुनि सुनि बातनि मन अकुलात॥
अब ये भवन देखियत सूनों धाइ धाइ हमको व्रज खात।
अनुदिन नैन तपत दरसन कौं हरदि समान देखियत गात॥७६॥
पृष्ठ ४८६ (३८५६ ना० प्र० स०)

जड़ता—निसिदिन कलमलात सुन सजनी सिर पर गाजत मदन अर।
सूरदास प्रभु रही मौन ह्वै कहि नहिं सकति मैन के भर॥६४॥
पृष्ठ ४८८ (३८५६ ना० प्र० स०)

मूर्छा—जबहिं कह्यौ ये स्याम नही।
परी मुरछि धरनी व्रजबाला जो जहाँ रही सो तहीं॥६०॥
पृष्ठ ५०८ (४०८६ ना० प्र० स०)

मरण—जब हरि गमन कियो पूरब लौं तब लिखि जोग पठायो।
हम तौ जरि बरि भस्म भईं तुम आनि मसान जगायो॥
(४२२५ ना० प्र० स०)

इन एकादश अवस्थाओं के अतिरिक्त और भी अनेक दशाओं का वर्णन सूर ने किया है। कुछ का उल्लेख हम पहिले कर चुके हैं। यहाँ दो अवस्थाओं

---

* नैषध में इसी से मिलता जुलता यह श्लोक पाया जाता है—
कुरु करे गुरु मेक मयोघनं। बहिरितो मुकुरं च कुरुष्व मे।
विशति यत्र यदैव विधुस्तदा। सखि सुखादहितं जहितं द्रुतम् ४-५६
हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेष भीरुणा।
इदानीमावयोर्मध्ये सरित् सागर भूधराः॥
(तब हार पहार से लागत हे अब आनि के बीच पहार परे॥ घनानंद)

का दिग्दर्शन और करावेंगे ! विरह में नींद नहीं आती। इसी बात को लेकर सूर ने कई पद लिख डाले हैं। गोपियाँ सोने का उपक्रम करती भी है, तो दिन भर के चिंतन एवं मनन के स्वप्न चलने लगते हैं। जो कृष्ण जागृत अवस्था में हृदय, नेत्र और जिह्वा पर विराजमान रहते हैं, वही स्वप्न में भी मिलन का-सा सुख देते हुए प्रतीत होते हैं। एक गोपी कहती है—

सुपने हरि आए हौं किलकी।
नींद जो सौति भई रिपु हमकों सहि न सकी रति तिल की॥
जो जागूँ तो कोऊ नाहीं, रोके रहति न हिलकी।
तब फिरि जरनि भई नखसिख तें दिया बाति जनु मिलकी॥८६॥ पृष्ठ ४२०

(३८७६ ना० प्र० स०)

बहुर्‌यो भूलि न आँखि लगी।
सुपने हू के सुख न सहि सकी नींद जगाइ भगी॥
बहुत प्रकार निमेष लगाये छूटि नहीं सठगी।
जनु हीरा हरि लियो हाथ ते ढोल बजाइ ठगी॥
कर मींड़ति पछिताति विचारति इहि विधि निसा जगी।
वह मूरति वह सुख दिखरावै सोई सूर सगी॥९०॥

(३८८३ ना० प्र० स०)

हमकों सपने मे हू सोच।
जा दिन तें बिछुरे नन्दनन्दन ता दिन तें यह पोच॥
मनों गोपाल आये मेरे घर हँसि करि भुजा गही।
कहा करो वैरिनि भई निदिया निमिष न और रही॥
ज्यों चकई प्रतिबिम्ब देखिकें आनन्दै पिय जानि।
सूर पवन मिलि निठुर विधाता चपल कियो जल आनि॥९३॥

(३८८६ ना० प्र० स०)

गोपियों को नींद तो नहीं, हाँ, सपने आते हैं। इन स्वप्नों में उन्हें क्रीड़ा करते हुए कृष्ण ही दिखलाई देते हैं। पर, स्वप्न तो क्षणिक होते हैं, जगते ही पानी के बबूले की भाँति वे नष्ट और अनस्तित्व में परिवर्तित हो जाते हैं। इन स्वप्नों के लिये सूर ने चकई का दृष्टान्त दिया है। तालाब के जल में अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर चकई समझती है कि चकवा मिल गया। परन्तु उसी समय पवन से प्रेरित होकर जल में तरंगे उठने लगती हैं और वह प्रतिबिम्ब जल की चंचलता के कारण हिल जाता है, स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ता। इसी प्रकार

जगने पर स्वप्न की आती-जाती छाया का अनुभव मात्र रह जाता है, उसकी वास्तविकता जाती रहती है।

विरह में जो दुःख होता है उसका कारण क्या है? क्या प्रिय का परदेशी का-सा स्वभाव? भ्रमर की-सी बहु सुमन प्रियता और विश्वासघात? तोताचश्मी—जैसे ही अवसर मिला, भाग खड़े हुए? सम्भव है, ऐसा ही कुछ कारण हो। पर प्रेमी प्रेम में इतना अन्धा हो जाता है कि उसे प्रिय के दोषों का ज्ञान ही नहीं हो पाता। यदि कोई प्रिय में दोषोद्‌भावना करता है, तो प्रेमी उस दोष को अपने ऊपर ले लेता है। प्रेममग्न हृदय की यही पहचान है। इसीलिये सूर की राधा कहती है—

सखीरी हरिहिं दोष जनि देहु।*
ताते मन इतनों दुख पावत मेरोई कपट सनेहु॥
विद्यमान अपने इन नैननि सूनों देखति गेहु।
तदपि सखी ब्रजनाथ बिना उर फटि न होत वड़ वेहु॥
कहि कहि कथा पुरातन सजनी अब जिनि अन्तहि लेहु।
सूरदास तन यों बकरोंगी ज्यों फिरि फागुन मेहु॥ २३॥ पृष्ठ ५८४
(३८१४ ना० प्र० स०)

सखी, हरि को दोष क्यों दिया जाय? कदाचित् मेरे ही स्नेह मे कपट का कोई कण 'चिपटा रह गया होगा, इसी हेतु मेरा मन इतना दुखी हो रहा है। यदि हृदय में सच्चाई होती, तो कृष्ण के वियुक्त होते ही वह फट गया होता। कहाँ कृष्ण के प्रेम की पुरातन कथायें और कहाँ मेरा व्यवहार! स्मरण आते ही इस जीवन का अन्त कर देने को जी चाहता है। जैसे फाल्गुण की वर्षा (फगनौट) कृषि का विनाश कर देती है, उसी प्रकार मै भी इस शरीर को नष्ट कर दूँगी।

कपट से हटकर सत्य को प्राप्त करने के लिए प्रपंच से वियोग और प्रिय के साथ योग धारण करना पड़ता है। गोपियों ने यह योग धारण किया था और तभी से किया था जब से कृष्ण से वियोग हुआ। वियोग नहीं, तभी से कृष्ण के साथ ऐसा योग हुआ कि वे मन मे समा गये—

ऊधो जोग तबहिं ते जान्यो।
जा दिन ते सुफलक सुत के संग रथ ब्रजनाथ पलान्यों।
ता दिन ते सब छोह-मोह गयो सुत-पितु-हेतु भुलान्यों॥
तजि माया संसार सबन्हि कौ ब्रज जुवतिनु व्रत ठान्यौ।
(४३१४ ना० प्र० स०)

---

* है प्रभु मेरौई सब दोषु।
दीनबन्धु कृपालु नाथ, अनाथ आरत पोषु। (विनय पत्रिका १५९)

नैन मूँदि मुख मौन रही थकि तनु तप तेज भुरान्यो ।
नंदनंदन मुरली मुख नारैं उहै ध्यान उर आन्यो ॥२७॥ पृष्ठ ५२६
(४३१४ ना० प्र० स०)

नीचे लिखे पद मे गोपियों की अभिलाषा, आवेग, व्याधि, तड़पन आदि वियोग की कई मनोदशाओं का चित्रण है। पद की पंक्ति-पंक्ति से गोपियों के हृदय का हाहाकार ध्वनित हो रहा है। विरह-वर्णन मे ऐसी तीव्र एवं गम्भीर वेदना के दर्शन कदाचित् ही किसी काव्य मे उपलब्ध हों। गोपी कहती है—

नैन सलोने स्याम बहुरि कब आवैंगे।
वे जो देखत राते-राते फूलन फूली डार ।
हरि बिनु फूल झरी सी लागै झरि झरि परत अँगार ॥
फूल बिनन ना जाउँ सखीरी हरि बिन कैसे फूल ।
सुन री सखी मोहि राम दोहाई लागत फूल त्रिसूल ॥
जब ते पनघट जाउँ सखी री वा जमुना के तीर ।
भरि-भरि जमुना उमड़ि चलत है इन नैनन के नीर ॥
इन नैनन के नीर सखीरी सेज भई घरनाउ ।
चाहति हौं ताही पै चढ़ि कै हरि जू के ढिग जाउ ।
लाल पियारे प्राण हमारे रहे अधर पर आइ ।
सूरदास प्रभु कुञ्जविहारी मिलत नहीं क्यों धाइ ॥ ६८ ॥ पृष्ठ ४०१
(३८६३ ना० प्र० स०)

भ्रमरगीत—विप्रलंभ श्रृङ्गार के अन्तर्गत सूर ने भ्रमरगीत भी लिखा है, जो वाग्विदग्धता, हृदयस्पर्शिता, वचन-वक्रता (व्यंग्य) और उपालम्भ की दृष्टि से उच्चकोटि के काव्य मे परिगणित करने योग्य है। भ्रमरगीत की लीला सूर ने तीन बार लिखी है, जिनका उल्लेख हम रचनाओं पर प्रकाश डालते हुए पूर्व ही कर चुके हैं। "दूसरी भँवरगीत की लीला" भागवत का अनुवाद मालूम पड़ती है और चौपाई छन्द मे लिखी गई है। इसमे ज्ञान, योग और अद्वैतवाद का वर्णन करके अन्त मे भक्ति को मूर्धन्य स्थान दिया गया है। शेष दो लीलायें पदों में वर्णित हैं और मौलिक है। सूर ने इन पदों में गोपियों का एकनिष्ठ प्रेम और सगुण ब्रह्म की आराधना की उपयुक्तता भावुकता की पृष्ठ-भूमि पर प्रतिपादित की है। सगुण उपासना का भावमयी भाषा मे इतना सुन्दर निरूपण अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। इन पदों का भ्रमरगीत नाम एक भ्रमर के गोपियों के पैरों मे आकर लिपटने और गुंजन करने से पड़ा। गोपियाँ उद्धव से वार्तालाप कर रही थीं। उद्धव को छोड़ कर वे भ्रमर को सम्बोधन करती हुई

अपने हृदय के उद्गार प्रकट करने लगी। इन उद्गारों में आन्तरिक वेदना थी, वियोग का उत्ताप था, अनुताप की अग्नि थी और कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम था। वे जो कुछ कह रही थीं, उसमें भ्रमर तो उपलक्षण मात्र था। वास्तव में भ्रमर के बहाने वे अपनी बातें उद्धव को सुना रही थीं।)

(भक्ति के विकास में हम पीछे दिखा चुके हैं कि किस प्रकार मायामय अद्वैतवाद के निर्गुण ब्रह्म तथा ज्ञान एवं योग-धारा के स्थान पर सगुण ब्रह्म तथा वैष्णव भक्ति की प्रतिष्ठा हुई। सूर के समय में भी ज्ञान और भक्ति के उत्कर्ष पर विवाद चलता रहा होगा। स्वयं आचार्य वल्लभ को सगुण भक्ति की प्रतिष्ठा के लिये शास्त्रार्थ करने पड़े थे। सम्भवतः सूर ने भ्रमरगीत की लीला में इसी हेतु जान-बूझ कर भक्ति-सिद्धांत की प्रतिष्ठा की है।)

भ्रमरगीत के प्रसंग का प्रारम्भ उद्धव की अहंकार मयी, अद्वैत-साधिका एवं निर्गुण ब्रह्म मानने वाली प्रवृत्ति से होता है। कृष्ण की दृष्टि में उद्धव प्रेम-भजन की उपेक्षा करने वाला है। प्रेम-भजन वहीं सम्भव है, जहाँ प्रभु-विरह की अनुभूति विद्यमान हो। जिस हृदय ने विरह वेदना का कभी अनुभव नहीं किया, वह प्रेम का महत्व क्या समझेगा? कृष्ण उद्धव के सम्बन्ध में कहते हैं—

यह अद्वैत दरसी रंग।
प्रेम सुनि विपरीत भाषत होत है रस भङ्ग ॥ १० ॥ —पृष्ठ ५०२
(४०३२ ना० प्र० स०)

सङ्ग मिलि कहौं कासों बात।
यह तो कथत जोग की बातें जामे रस जरि जात ॥
(४०३३ ना० प्र० स०)

जो प्रेम का नाम सुनते ही चौंक पड़ता है, ज्ञान और योग की बातों में रस लेता है, उसे व्रज के राग-रंग की बातें क्यों अच्छी लगने लगीं? इसी हेतु कृष्ण ने उद्धव को व्रज भेजने का निश्चय किया, जिससे प्रेम के उस पारावार में पहुँच कर उनका पेम-संस्कार हो सके।

उद्धव व्रज में पहुँचे। उन्हें हरि का संदेश-ग्राहक समझ कर गोपियों ने घेर लिया। उद्धव कहने लगे—

गोपी सुनहु हरि संदेस।
कह्यौ पूरन ब्रह्म ध्यावहु त्रिगुन मिथ्या भेष ॥
ज्ञान बिनु नर मुक्ति नहीं यह विषय संसार।
रूप देख न नाम जल थल, वरन अवरन सार ॥ —पृष्ठ ५११
(४३०३ ना० प्र० स०)

सुनौ गोपी हरि कौ संदेस ।
करि समाधि अन्त गति ध्यावहु यह उनकौ उपदेस ॥
तत्व ज्ञान बिनु मुक्ति नहीं है, वेद पुरानि गाइ ।
सगुन रूप तजि निर्गुन ध्यावहु इक चित इक मन लाइ ॥

(४१२० ना० प्र० स०)

उद्धव के मुख से निर्गुण ब्रह्म का उपदेश सुन कर गोपियाँ व्याकुल हो उठीं । उन्हें विश्वास नहीं होता था कि कृष्ण इस प्रकार का संदेश भेजेंगे । इसलिये वे फिर कहती हैं:—"मधुकर जो हरि कहौ सो कहिये"—उद्धव ! इस संदेश को रहने दो । 'कृष्ण ने जो संदेश दिया है, उसे ही सुनाओ । पर उद्धव फिर अपनी वही निर्गुण और ज्ञान-योग की तान छेड़ने लगे, तो गोपियाँ कुछ झुंझला उठीं और कहने लगीं—

मधुप कहा यहाँ निर्गुण गावहि ।
ए प्रिय कथा नगर-नारिन सौं कहहि जहाँ कछु पावहि ।
जानति मर्म नन्दनन्दन को और प्रसंग चलावहि ॥
अति विचित्र लरिका की नाईं गुर दिखाइ बौरावहि ॥८६॥ —पृष्ठ ५११

(४११६ ना० प्र० स०)

उद्धव ! हम नन्दनन्दन को भली भाँति पहिचानती हैं ! तुम इस प्रसंग को छोड़ कर किसी अन्य प्रसंग को प्रारम्भ करो । हम बालक नहीं हैं, जिन्हें गुड़ दिखा कर बहका लोगे । फिर गोपियाँ सोचती हैं, कदाचित् उद्धव मार्ग भूल गये हैं । कृष्ण ने इनको यहाँ नहीं, किसी अन्य स्थान के लिए भेजा है । इस विचार के आते ही वे कहने लगती हैं—

'ऊधौ, जाहु तुमहि हम जाने ।
स्याम तुम्हें ह्याँको नहि पठयौ तुम हौ बीच भुलाने ।"

(४१३६ ना० प्र० स०)

और यदि वस्तुतः तुम हमारे ही पास भेजे गये हो, तो इसमें कुछ रहस्य छिपा हुआ है । अच्छा, जरा यह तो बताओः—

"साँच कहौ तुमको अपनी सौं बूझति बात निदाने ।
सूर स्याम जब तुमहिं पठायौ तब नेकहु मुसुकाने ॥" ६ ॥ —पृष्ठ ५१३

(४१३६ ना० प्र० स०)

"जब स्याम ने तुम्हें यहाँ भेजा, तब वे कुछ मुस्काने तो नहीं थे"—इस प्रश्न में कितना व्यंग्य भरा पड़ा है । कृष्ण ने उद्धव को गोपियों के पास भेज कर

उन्हें खूब बनाया। यही व्यंग्य निर्गुण ब्रह्म और ज्ञान-योग की साधना पर भी लगता है।

उद्धव की निर्गुण-शिक्षा-सम्बन्धी बातें गोपियों को सन्निपात में बड़बड़ाते हुए व्यक्ति की-सी बातें मालुम पड़ती हैं। इसीलिये वे कहती हैं—"आपुन को उपचार करौ कछु तब औरन सिख देहु"—उद्धव दूसरों को शिक्षा देने के पहले अपने रोग की औषध कर लो।

उद्धव जब ध्यान, धारणा और प्राणायाम का उपदेश देने लगे, तो गोपियाँ कहती हैं—

हम अलि गोकुलनाथ अराध्यो।
मन-वच-क्रम हरि सों धरि पतिव्रत प्रेम-जोग तप साध्यो ॥ १४ ॥

—पृष्ठ ५१४ (४१४८ ना० प्र० स०)

उद्धव! हमने अपने मन-वचन-कर्म से हरि को स्वामी समझ कर प्रेम के योग और तप की साधना की है। तुम्हारे योग से हमारा योग किसी भी प्रकार कम नहीं है। हमने दुख-सुख, मान-अपमान आदि समस्त द्वन्द्वों को सहन किया है। मन की अचल स्थिति कृष्ण में की है और उसे जगद्वंद्य समझ कर वन्दना की है। संकोच या लज्जा ही हमारा आसन और कुल-शील ही परसना, अर्थात् भेंट चढ़ाना है। मानापवाद का सहन करना ही प्राणायाम और हमारे प्रेम का क्रम ही काम-संयम है। हमने गुरुजनों की लज्जा रूपी अग्नि को तापा है और उपहास रूपी धूम्र का पान किया है। आकाश का सूर्य हमें ताप-रहित प्रतीत होता है। समाधि की एकतानता हमारी शारीरिक आत्मविस्मृति में है। कृष्ण की प्रतीक्षा में खुली हुई हमारी अनिमेष आँखें योगियों की अपलक दृष्टि के समान हैं और परम ज्योति का प्रकाश हमें कृष्ण के अंगमाधुर्य में दिखलाई देता है। योगी के समान हम भी रात्रि भर जागरण करती हैं। हमारे नेत्र कृष्ण के नेत्रों की ओर लगे हैं; यही हमारी त्रिकुटी और त्राटक की साधना है। कृष्ण के मुख पर खेलता हुआ हास्य ही हमारे लिये प्रकाश है। उनके कानों के दोनों कुण्डलों से हमारा अनुराग ही योगी का चन्द्र-सूर्य, इड़ा-पिंगला के प्रति अनुराग है। मुरली ध्वनि का श्रवण ही अनाहत नाद का श्रवण है। कृष्ण वचनों में रुचि ही रस-वर्षा है, कण्ठकूप का अमृत स्राव है। उनके संसर्ग से उत्पन्न सुख ही आनंद पद में समा जाना है। योगी गुरु से मंत्र पाता है, हमने अपने मनोभव, काम अर्थात् प्रेम के प्रतीक कृष्ण से ही ज्ञान, ध्यान और भजन की शिक्षा ग्रहण की है। कृष्ण को गुरु बना कर अब हमें फीका मत सुनने के लिए अन्य किसी को गुरु बनाने की आवश्यकता नहीं है।

और उद्धव ! यदि तुम अपने कष्टसाध्य, कृच्छ-साधन-प्रधान योग का ही उपदेश देना चाहते हो, तो उसे तो हम तभी से कर रही हैं, जबसे कृष्ण मथुरा गये। हमारे शरीर का चन्दन लेप ही भस्म मलना है। कृष्ण-गमन की अवधि ही अधारी है। लोचन रूपी खप्पर फैला कर हम कृष्ण-दर्शन की भीख माँगती फिरती है।

नीचे लिखे पद मे रूपक अलंकार द्वारा गोपियों की विरहावस्था का योगी की मुद्रा के साथ कितना सुन्दर साम्य स्थापित किया गया है। 'देव' का 'योगिनि ह्वै बैठी ये वियोगिनि की अखियाँ' वाला छन्द संभवतः इसी पद के आधार पर लिखा गया है:—

ऊधो, करि रहीं हम जोग।
कहा एतो वाद ठान्यों देखि गोपी भोग ॥
सीस-सेली केस, मुद्रा-कनक वीरो वीर।
विरह भस्म चढ़ाइ बैठी सहज कंथा चीर ॥
हृदय सीगी, टेर मुरली, नैन खप्पर हाथ ॥
चाहते हरि दरस-भिक्षा देहिं दीनानाथ ॥
योग की गति जुगति हम पै सूर देखो जोय।
कहत हमको करन जोग सो जोग कैसो होय ॥ २६ पृष्ठ ५२६
(४३१२ ना० प्र० सं०)

गोपियों के इस योग मे उनके शिर के केश ही सेली, कान के स्वर्ण निर्मित ऐरन ही मुद्रा (कनफटे योगियों के कर्ण-कुण्डल), चीर गुदड़ी, विरह भस्म, हृदय श्रृंगी, शब्द मुरली-ध्वनि और नेत्र खप्पर हैं। गोपियों ने कृष्ण के वियोग में जो कष्ट सहन किये हे उनके सामने योग की कृच्छ् साधना और तपश्चर्या क्या महत्व रखती है ? इसीलिये गोपियाँ "कायर बकै लोह ते भागे लड़ै ते सूर बखानैं"- उद्धव के ज्ञान को कायरों की बकवाद और भक्ति को शूरवीर का वीरत्व-व्यंजक लड़ना मानती हैं। वे उद्धव के अटपटे योग को काग की कर्कश बोली और ज्ञानी वैरागियों को दादुर के समान अरसिक कहती हैं। "दादुर बसै निकट कमलन के जन्म न रस पहिचाने"—जो स्वयं रसिक नही है, वह रसमयी वस्तुओं के पास रहकर भी रस का आस्वादन नहीं कर सकता।

गोपियाँ उद्धव को बुरा-भला कहती हुईं उनके मन का समाधान भी करती हैं "नासा कर गहि जोग सिखावत वेसरि कहाँ धरों"—इस प्रकार के वाक्यों द्वारा जहाँ वे उद्धव की ज्ञान-चर्चा का मखौल उड़ाती हैं, वहाँ 'मधुकर हम अयान अति भोरी। जानै कहा जोग की बातें हम अबला मति थोरी"—ऐसे वाक्य कहकर योगसाधना मे अपनी असमर्थता भी प्रकट कर रही है।

नीचे लिखे पद में तो गोपियों ने अपना हृदय निकाल कर रख दिया है। आये हुए अतिथि की बातें न मानने में वे कितनी विवश हैं! गोपियाँ कहती हैं—

ऊधौ जो तुम हमहिं सुनायौ।
सो हम निपट कठिनई करि-करि या मन कों समुझायो।
जुक्ति जतन करि जोग अगह गहि, अपथ पंथ लौं लायौ।
भटकि फिर्यो बोहित के खग ज्यों फिरि हरि ही पै आयौ।
अब सोई उपाय उपदेसो जेहि जिय जाइ जिआयौ।
बारक मिलहिं सूर के प्रभु तो करो अपनो भायो ॥८५॥—पृष्ठ५५४
(४३६२—ना० प्र० स०)

उद्धव! योग का जो उपदेश तुमने हमें दिया है, उसे हमने अत्यन्त कठिनता-पूर्वक इस मन को समझाने का प्रयत्न किया है। पर, वह तो मानता ही नहीं। योग इसके लिये 'अगह' ग्रहण करने के अयोग्य है। जहाज के पक्षी की भांति योग, ज्ञान आदि की दिशाओं में घूम कर यह पुनः हरि रूपी जहाज पर ही जाकर आश्रय ग्रहण करता है।

छिन न रहै इहाँ नन्दलाल बिनु, जो कोऊ कोटि सिखावै।
सूरदास ज्यों मन ते मनसा अनत कहूँ नहि धावै ॥१०॥—पृष्ठ ५५७
(४६६६ ना० प्र० स०)

मेरो मन अनत कहाँ सचु पावै ॥
जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिरि जहाज पै आवै ॥ ३६ ॥ —पृष्ठ ५२८
(१६८ ना० प्र० स०)

अतः अब तो ऐसा उपदेश करो जिससे नंदनन्दन कृष्ण के एक बार दर्शन हो सकें और यह प्राण जीवित हो उठें।

उद्धव फिर भी ज्ञान की प्रशंसा करने लगे। वे कहते हैं—

जब लगि ज्ञान हृदय नहि आवै।
तौ लगि कोटि जतन करै कोऊ बिनु बिवेक नहिं पावै ॥
बिना बिचार सबै सपने सो, मैं देख्यो सो जोई।
नाना दारु बसै ज्यों पावक प्रगट मथे ते होई॥ (४४०६ ना० प्र० स०)

गोपियाँ उद्धव की इस ज्ञान-चर्चा को अपने लिये अयोग्य समझती हैं। वे कहती हैं—

"ऊधौ, जोग-जोग हम नाहीं।
अबला सार ज्ञान कहा जानें कैसे ध्यान धराहीं॥" (४५४२ ना० प्र० स०)

उद्धव! हम तुम्हारे ज्ञान को कैसे समझें? हम हैं हृदय रखने वाली

अबला नारी ! तुम्हारे ज्ञान को तो वे मस्तिष्क रखने वाले साधक समझ सकेंगे, जो काशी में मूँड़-मुड़ाये, आँखें बन्द किये ज्ञान-ध्यान में निरत रहते हैं। व्रज में तो सब गोपाल के उपासक हैं।

गोपियों को ज्ञान-ध्यान की बातें व्रज की प्रकृति के विपरीत भी प्रतीत होती हैं। वे कहती हैं:—

"ऊधो कोकिल कूजत कानन।
तुम हमको उपदेश करत हौ भस्म लगावन आनन।"

(४५६४ ना० प्र० स०)

कहाँ कोकिल का कलित कूजन और कहाँ भस्म का मलना ! दोनों दशाओं में कितना वैपरीत्य है। कहाँ हमारे कृष्ण की लीला और कहाँ तुम्हारी मुक्ति ! कहाँ मुरली का मधुर स्वर और कहाँ निर्वाण का शून्य निवात वायुमण्डल ! भला तुम्हारे ज्ञानयोग-रूपी मूली के पत्तों के बदले[1] हम अपना कृष्ण-भक्ति के मुक्ता फल को कैसे खो दें ? कामधेनु को छोड़कर छेरी दूहने जावें ? असम्भव है ! एकदम असम्भव है।

उद्धव की समझ में यह प्रेम-चर्चा नहीं आई, तो गोपियाँ निर्गुण ब्रह्म की खिल्ली उड़ाने लगीं। वे उद्धव से कहती हैं—"अच्छा तुम्हारा निर्गुण ब्रह्म कौन है ? उसके माता-पिता कौन हैं ? वह कहाँ रहता है ? क्या वह कोई ऐसी वस्तु है जिसे हम ओढ़ और बिछा सकें ? क्या वह हमारे किसी काम आ सकता है ? यदि नहीं, तो 'कहा करें निर्गुण हम लैकें ?' हमारे तो कृष्ण ही करोड़ों वर्षों तक जीवित रहें—वही हमारे सर्वस्व हैं। और योग ? वह तो व्यर्थ का झमेला है। योग द्वारा कोई आज तक कुछ की प्राप्ति कर भी सका है ? भक्ति-विहीन योग चमत्कार के अतिरिक्त अन्य कुछ भी महत्व नहीं रखता और फिर, उद्धव ! यह भी अपनी-अपनी मनमानी बात है। तुम्हें योग अच्छा लगता है, हमें भक्ति श्रेष्ठ जान पड़ती है—

"ऊधो, मनमाने की बात।
दाख छुहारा छाँड़ि अमृत फल विष कोरा विष खात ।।

(४६२६ ना० प्र० स०)

*तुलसी ने भक्ति का उत्कर्ष दिखाने के लिये रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में ज्ञान-दीपक का लम्बा रूपक बाँधा है। सूर ने निर्गुण भक्ति पर सगुण भक्ति की प्रतिष्ठा के लिये भ्रमरगीत के अन्तर्गत 'सगुन दीप' का हृदयहारी वृहत् रूपक लिखा है। यह रूपक 'भ्रमरगीतसार' पद संख्या ३४१ में है।

[1] कैना = सौदा, मूल्य, बदला।

जिसका जैसा स्वभाव बन गया है, वह उसीके अनुकूल कार्य करेगा। विष का कीड़ा मारात्मक विष को छोड़ कर द्राक्षा आदि मधुर एवं पोषक द्रव्यों की ओर कभी नहीं जाता। चकोर अंगार को छोड़कर कपूर की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता। और सौ बात की एक बात—

"सूरदास जाको मन जासों सोई ताहि सुहात"॥ ८६॥ —पृष्ठ ५५४

हमारा मन भी एक गोपाल से लगा है। उन्हें छोड़कर वह अन्य किसी की भी ओर नहीं जाना चाहता।

"ऊधो मन न भये दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम संग को आराधै ईस ?"

(४३४४ ना० प्र० स०)

एक मन था, वह कृष्ण में फँस गया और कृष्ण भी तिरछा होकर इस मन में फँसा पड़ा है। निकले भी तो कैसे ?

"इहि उर माखन चोर गड़े।
अब कैसेउ निकसत नाहिं ऊधो तिरछे ह्वै जु अड़े॥"५१॥ —पृष्ठ ५२६

(४३४६ ना० प्र० स०)

कृष्ण की यह त्रिभंगी मुद्रा मन में और मन इस त्रिभंगी छवि में छिपा पड़ा है। एक दूसरे से पृथक नहीं हो सकता।

उद्धव को निर्गुण शिक्षा की रूखी बातें गोपियों को किसी प्रकार सांत्वना प्रदान न कर सकी। जो आँखें हरि-दर्शन की भूखी थीं, जो कृष्ण के रूप-रस में अनुरक्त थीं, वे इन शुष्क ज्ञान की बातों से कैसे तृप्त हो सकती थीं ? उद्धव की बातें उन्हे कलंक लगाने वाली भी प्रतीत हुई, क्योंकि वे उनकी एकनिष्ठा को छुड़ा कर भ्रान्त एवं अपरिचित पथ मे डालने वाली थीं। मथुरा उन्हें काजल की कोठरी मालूम पड़ने लगी, जहाँ से आने वाला प्रत्येक व्यक्ति काला है और दूसरो को भी कालिमावृत करना चाहता है। इस स्थल पर गोपियो की हृदय-भूमि को फोड़ कर जो प्रेमाश्रुधारा प्रवाहित हुई है. उसमें उद्धव की ज्ञान-योग की समस्त बातें बहती, डूबती, उतराती नजर आती हैं। उद्धव अपने भक्ति-विरोधी ज्ञान की निस्सारता अनुभव करते हैं और कहते हैं—

अब अति चकितवन्त मन मेरो।
आयो हो निर्गुन उपदेसन भयो सगुन को चेरो॥३१॥ —पृष्ठ ५५६

(४६६७ ना० प्र० स०)

उद्धव मौन धारण किये हुए मन में पश्चात्ताप करने लगे। सूर ने उद्धव की इस समय की दशा का वर्णन नीचे लिखे पद में किया है—

ऊधो मौन साधि रहे।

योग कहि पछितात मन मन बहुरि कछु न कहे ॥७२॥ —पृष्ठ ५४२

(४५०० ना० प्र० स०)

गोपियों ने ठीक ही कहा था—

"मधुकर भलेहि आये वीर।

दुर्लभ दरसन सुलभ पाये जानि हौ पर पीर।"(४५०३ ना० प्र० स०)

उद्धव ने इस पराई पीड़ा को अनुभव किया। गोपियों की गोपाल-विरह-वेदना ने उन्हें प्रेम का परिचारक बना दिया। निर्गुण पथ उन्हें कंटकित समझ पड़ा। वे सरल सगुण मार्ग के पथिक बन गये।

उद्धव जब लौटकर मथुरा चलने लगे तो गोपियों ने कहा—

हम पर हेतु किये रहिबौ।
या ब्रज को व्यौहार सखा तुम हरि सौं सब कहिबौ॥
देखे जात आपनी अँखियनु या तनकौ दहिबौ।
बरनौं कहा कथा या तनु की हिरदे को सहिबौ॥
तब न कियो प्रहार प्राननि को फिर फिर क्यों चहिबौ।
अब न देह जरि जाइ सूर इन नैननि को बहिबौ ॥१४॥ —पृष्ठ ५५७

(४६७४ ना० प्र० स०)

जो बात मस्तिष्क द्वारा सिद्ध नहीं होती, वह हृदय से पिघल कर निकले हुए आँसुओं की रस्सी में बँधी-खिंची चली आती है। नेत्रों के इस प्रवाह में पाप इसी प्रकार डूब जाते हैं, जैसे जल में पत्थर। ज्ञान से भक्ति इसीलिए सुगम और श्रेष्ठ कही जाती है।

नीचे लिखे पद में गोपियों ने कृष्ण से कहने के लिए जो संदेश उद्धव को दिया है, उसमें एक ओर ब्रज की व्याकुल दशा का वर्णन है और दूसरी ओर प्रेमी के हृदय में सतत वर्तमान प्रिय के कुशल क्षेम की भावना। प्रेमी प्रिय के स्थान पर स्वयं विपत्तियों का आलिंगन करना चाहता है। प्रिय को विपत्तियों से बचाने के लिए उसका रोम-रोम उद्यत हो जाता है। तभी तो गोपियाँ कहती हैं—

ऊधो, इतनों जाइ कहौ।
सबै विरहिनी पाँइ लगति हैं मथुरा कान्ह रहौ।
भूलिहु जिनि आवहि यहि गोकुल तप्त रैनि ज्यों चन्द।
सुन्दर बदन स्याम कोमल तनु क्यों सहि हैं नंदनंद ॥२०॥ —पृष्ठ ५५८

(४६८५ ना० प्र० स०)

कृष्ण के विरह मे समस्त गोकुल विह्वल, आत्मविस्मृत और मुरझाया-सा हो रहा था। नंद और यशोदा उद्धव से संदेश कहने के समय मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। राधा की दृष्टि ऊपर नहीं उठती थी।* साड़ी उसकी मलीन और बिना धुली, केश बिखरे हुए, हरि हरि की रट लगाये इकटक दृष्टि से कृष्ण का मार्ग जोहती रहती थीं।× गायें कृष्ण का नाम सुनते ही हूँकने लगतीं, गो-दोहन वाले स्थानों को सूँघती और क्षण-क्षण मे आतुर हो उठती थीं। सबकी निद्रा नष्ट हो चुकी थी, भूख लगती नहीं थी। गोपी, ग्वाल, बाल, वृन्दाबन, खग मृग" सब उदास घूम रहे थे। काशी की करवत-क्रिया का कष्ट भी इस दुख के सामने तुच्छ जान पड़ता था। सबने उद्धव से यही कहा—

"ऊधो हरि बेगहि देहु पठाइ।
नँदनंदन दरसन बिनु रटि-रटि मरौं व्रज अकुलाइ।"

और

"अंचल जोरे करत बीनती मिलिवे को सब दासी।" (४६६० ना० प्र० स०)

उद्धव जब मथुरा पहुँचे तो उन्होंने कृष्ण के सम्मुख व्रज की हृदयद्रावक दशा का अतीव मर्मस्पर्शी शब्दों में वर्णन किया। राधा की करुणा-विगलित अवस्था का उल्लेख करते हुए उद्धव कहते हैं—

तुम्हरे विरह व्रजनाथ राधिका नैनन नदी बढ़ी।
लीने जात निमेष कूल दोउ एते मान चढ़ी।
गोलक नाव निमेष न लागत सींव पलक वर बोरति।
ऊरध स्वास समीर तरंगिनि तेज तिलक तरु तोरति॥
कज्जल कीच कुचील किये तट अम्बर अधर कपोल।
रहें पथिक जु जहाँ सु तहाँ थकि, हस्त चरन मुख बोल॥
नाहिंन और उपाय रमापति बिन दरसन क्यों जीजै।
अश्रु-सलिल बूड़त सब गोकुल सूर सुकर गहि लीजै॥५४॥ पृष्ठ ५६४
(४७३१ ना० प्र० स०)

राधा के नेत्रों से जो अश्रु-सरिता प्रवाहित हुई उसमें आकुल भावावेश की वह बाढ़ आई जिसमें न गोलक की नाव लगती थी, न हस्तचरणादि रूपी पथिक डूबने से बचते थे। अद्भुत और भयंकर थी यह अश्रु-सरिता की धारा। इसीके साथ था हृदय का उत्ताप। वर्षा और ग्रीष्म—यही तो थीं दो ऋतुयें, जो परस्पर विरोधी होते हुए भी व्रज में एक साथ आकर बस गईं थीं। उद्धव कृष्ण से कहते हैं—

---

* पद २५, पृष्ठ ५५६ (४६६१ ना० प्र० स०)

× पद ६२, पृष्ठ ५६५ (४६८८ ना० प्र० स०)

ब्रज ते द्वै ऋतु पै न गई।
ग्रीषम अरु पावस प्रवीन हरि तुम बिनु अधिक भई॥
ऊरध उसाँस समीर नैन घन सब जल जोग जुरे।
बरषि प्रगट कीन्हे दुख दादुर हुते जु दूरि दुरे॥
विषम वियोग जु वृष दिनकर सम हिये अति उदौ करै।
हरि पद विमुख भये सुनु सूरज को तनु ताप हरे॥५८॥—पृष्ठ ५६५
४७३५ (ना० प्र० स०)

सूर ने राधा के वियोग का वर्णन अधिकतर उद्धव के उस संदेश में किया है, जो उन्होंने कृष्ण को सुनाया। राधा स्वयं उद्धव से कुछ भी न कह सकी थी। हरि-संदेश पाते ही वह मूर्छित होकर गिर पड़ी थी।* उद्धव ने उसे अचेत अवस्था में आँखों से आँसू गिराते हुए देखा था।× राधा की गम्भीर वेदना उसकी अभि-व्यंजन शक्ति से बहुत दूर थी। सूर ने राधा को स्वकीया रूप में उपस्थित करके आर्य ललना की एकपतिनिष्ठा और सहज स्नेह का परम पुनीत चित्रण किया है।

भ्रमरगीत सूर की सर्वोत्कृष्ट रचना है, जिसमें विप्रलंभ शृंगार तथा सगुण भक्ति का प्रतिपादन व्यंग्यमयी, भावभरित, मार्मिक शैली में किया गया है। कतिपय समालोचकों ने सूर के विप्रलंभ शृंगार को मखौल समझा है। एक विद्वान के शब्दों में सूर का वियोग-वर्णन केवल वियोग-वर्णन करने के लिये है, परिस्थिति के अनुरोध से नहीं। ऊपरी दृष्टि से यह कथन सत्य-सा भासित होता है, परन्तु सूर के वियोग-वर्णन को पढ़ कर इस कथन की निस्सारता एकदम प्रकट हो जाती है। वियोग में जिन मानसिक दशाओं का होना सम्भव है तथा आचार्यों ने जिनका वर्णन किया है, उन सबका तीव्रता एवं मर्मस्पर्शिता के साथ सूरसागर में चित्रण हुआ है। सूर की अन्तर्दृष्टि इस क्षेत्र में बड़ी गहरी और दूर तक पहुँची है। उसमें विस्तार और गम्भीरता दोनों दिखलाई देते हैं। जिस चमत्कार-मयी ऊहात्मक शैली में गंग, बिहारी, मतिराम, देव आदि ने वियोग-ताप में भून कर कमल के पत्तों को पापड़, शैवाल को भस्म, उशीर को दहकते अंगार और संताप को मांस सेकने की भट्टी बना दिया है, वह सूरसागर में कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती। सूर ने सर्वत्र अपनी व्यंजना-प्रधान चित्रमयी शैली में अन्तर्हृदय का उद्घाटन किया है। सूरसागर भाव-प्रधान काव्य है। विप्रलंभ शृंगार के वर्णन में तो भाव-विभव की और भी अधिक अद्भुत छटा प्रस्फुटित हुई है।

---

* पद ८०, पृष्ठ ५६७ (४७५६ ना० प्र० स०)
× पद ५६, पृष्ठ ५६४ (४७३३ ना० प्र० स०)

परिस्थिति के अनुरोध और देश की दृष्टि से सूर पर यह लांछन लगाया जाता है कि उनका विरह केवल तीन कोस के अन्तर का है और कभी-कभी तो एक कुंज में अन्तर्हित होनेतक ही सीमित है। इस प्रकार के समालोचकों को सोचना चाहिये कि वियोग शुद्ध रूप से भाव-जगत् की वस्तु है। देश-काल का व्यवधान अतीव स्थूल दृष्टि से सम्बन्ध रखता है। पतिपरायणा आर्यललना एक क्षण के लिए भी अपने पति से वियुक्त नहीं होना चाहती। उसका स्वल्प देश-काल सम्बन्धित वियोग भी उसके लिये असह्य हो जाता है। फिर तात्त्विक दृष्टि से राधा और कृष्ण जीवात्मा और परमात्मा के ही प्रतीक हैं। वैष्णव भक्ति के क्षेत्र में तो कृष्ण साक्षात् भगवान हैं। अतः सूर ने जो गोपियों के विरह का वर्णन किया है, वह वस्तुतः जीवात्मा का परमात्मा से वियुक्त होने का वर्णन है। कबीर, जायसी प्रभृति प्रायः सभी रहस्यवादी कवियों ने भावुकता की दृष्टि से इस विरह का अतीव कातर शब्दों में वर्णन किया है। उन्होंने भक्ति के क्षेत्र में विरहातुर आत्मा को प्रभु से मिलने के लिये जल-विहीन मछली की भाँति तड़पते, छटपटाते हुए दिखलाया है। अध्यात्म जगत् मे गोपिकाओं और कृष्ण में, आत्मा और परमात्मा मे देश और काल की दृष्टि से कुछ अन्तर नहीं है। पर, निकट से निकट होते हुए भी वे एक दूसरे से कितने दूर हो जाते हैं। प्रभु को जो "तद् दूरे तद्वन्तिके" और "तदन्तरस्य सर्वस्य तदुसर्वस्यास्य वाह्यतः" कहा गया है, वह इसी दृष्टि से। देश और काल का व्यवधान न रहने पर भी कबीर की विरहिणी दिन-रात रोया करती है। अतः भाव की दृष्टि से दोनों मे अन्तर है, पार्थक्य है, इसे सभी दार्शनिक मानते हैं। इस अन्तर को दूर करने के लिये इसी पार्थक्य को पृथक करने के लिये आत्मा तड़प रहा है।

साधारण लौकिक वातावरण में भी यदि पति और पत्नी भावनाओं मे मेल नहीं खाते, तो पास-पास रहते हुये भी वे एक दूसरे के वियोग मे, भाव-वियोग में, दुखी और व्याकुल रहते हैं। अतः वियोग में मुख्यता भाव दृष्टि की है, देश और काल की नहीं। इस दृष्टि से सूर का वियोग-वर्णन वास्तविक और तात्त्विक रूप में सत्य ही माना जायगा। वह निठल्ले बैठे का काम नहीं है, विरह-विदग्धा अश्रुविगलिता, कृष्णकातरा भक्ति-भाव-मग्ना गोपियों के सच्चे हृदय का प्रदर्शन है। सूर के वियोग-वर्णन में प्रतीक रूप से भी परमात्मा से वियुक्त जीवात्मा की क्रन्दनध्वनि और हृदय का हाहाकार अतीव तीव्र भाव-तरंगों में अभिव्यंजित हुआ है।

इस प्रकार 'लरिकाई को प्रेम कहो अलि कैसे छूटै'—बाल्यावस्था से प्रेम का विकास दिखाकर सूर ने उसके संयोग और वियोग दोनों पक्षों का

अतीव स्वाभाविक चित्रण किया है। उसने एक ओर जीवन के सौंदर्य एवं माधुर्य-प्रधान अंश का चित्रण करके खिन्न हृदयों को सान्त्वना तथा जीवन से उदासीन और विरक्त व्यक्तियों को आशा प्रदान की है, तो दूसरी ओर अन्तर्हृदय के चित्रण से वियोग-व्यथा का व्यापक वर्णन करके एकनिष्ठ प्रेम द्वारा मानव के लिये जीवन की जटिल पहेलियों को सुलझाने का मार्ग भी प्रदर्शित किया है। व्यावहारिकता और आध्यात्मिकता दोनों क्षेत्रों में उसने अभूतपूर्व कार्य किया है।

अन्य रस

सूर ने वात्सल्य रस और शृंगार रस का ही मुख्य रूप से वर्णन किया है, पर उनकी क्रान्त कविदृष्टि से अन्य रस भी ओझल नहीं रह सके। उनकी रचना में प्रसङ्ग के अनुकूल वीर, रौद्र, भयानक, करुण, हास्य आदि सभी रसों का परिपाक हुआ है। नीचे इनमें से हम प्रत्येक रस के कुछ उदाहरण देंगे।

वीर रस—सूरसागर मे वीर रस का वर्णन कई स्थानों पर है। बलराम और कृष्ण के मथुरा पहुँचने पर उनका चाणूर, मुष्टिक आदि कई मल्लों के साथ युद्ध हुआ। इस प्रसंग के वर्णन मे सूरदास ने वीर रस के पद वीरोचित, ओजमयी एवं फड़कती हुई भाषा में लिखे हैं। वृत्ति, शक्ति, गुण, और भाव का सुन्दर सामंजस्य इन पदों मे दिखलाई देता है। निम्नांकित पद पर विचार कीजियेः—

देखि नृप तमकि हरि चमकि तहाँई गये।
दमकि लीन्हों गिरह बाज जैसे।
धमकि मार्‌यौ, घाउ गुमकि हृदय रह्यो।
झमकि गहि केस लै चले ऐसे॥
ठेलि हलधर दियो, झेलि तब हरि लियो।
मल्ल के तरे धरणी गिरायो।
अमर जय ध्वनि भई, धाक त्रिभुवन गई।
कंस मार्‌यो निदरि देवरायो॥
धन्य बानी गगन, धरनि, पाताल धनि।
धन्य हो धन्य वसुदेव ताता।
धन्य अवतार सुर धरनि उपकार को। पद १५ पृष्ठ ४१७
सूर प्रभू धन्य बलराम भ्रता (३६६७ ना० प्र० स०)

पद मे आये हुये चमकि, दमकि, धमकि, गुमकि, झमकि आदि शब्दों द्वारा उत्साह नाम का स्थायी भाव स्पष्ट रूप से प्रकट हो रहा है।

कंस को मारने के समय का पूरा चित्र भी आँखों के सामने झलकने लगता है। दृश्यचित्र एवं भावचित्र के निर्माण में सूर की दक्षता का उल्लेख हम पूर्व ही कर चुके हैं। केशों को पकड़ना, क्रोध में भर जाना आदि अनुभावों का भी पद में समावेश है। मुष्टिक-मर्दन तथा चाणूर को चुरकुट करने के प्रसंग में भी सूर ने वीर रस का अच्छा चित्र खींचा है। गोवर्धन पूजा के समय इन्द्र का जलवर्त, वारिवर्त, अग्निवर्त आदि मेघों की सेना सजाने और ब्रज पर आक्रमण करने का भी सूर ने विशद वीररसात्मक वर्णन किया है। एक पद देखिए—

सैन साजि ब्रज पर चढ़ि धावहि।
प्रथम बहाइ देउँ गोवर्धन ता पीछे ब्रज खोदि बहावहि।
अहिरन करी अवज्ञा प्रभु की सो फल उन कहँ तुरत देखावहिं॥
इन्द्रहि पेलि करी गिरि पूजा सलिल बरषि ब्रज नाउँ मिटावहिं।
बल समेत निसिबासर बरसहि गोकुल बोरि पताल पठावहि॥ ४७॥

पृष्ठ २१५ (१४७४ ना० प्र० स०)

विशुद्ध वीर रस के ऐसे उदाहरण हिन्दी साहित्य में अल्प मात्रा में ही मिल सकेंगे क्योंकि उत्साह के पश्चात् क्रोध के स्थायी भाव रूप में उपस्थित होते ही रौद्र रस का संचार होने लगता है, विशुद्ध वीर रस नहीं रहता।

रौद्र रस—नीचे लिखे पद में इन्द्र के क्रोध का वर्णन है—

प्रथमहिं देउँ गिरिहि बहाइ।
बज्र घातनि करौं चूरन देउँ धरनि मिलाइ॥
मेरी इन महिमा न जानी प्रगट देउँ दिखाइ।
जल बरसि ब्रज धोइ डारौं लोग देउँ बहाइ॥
खात खेलत रहैं नीके करि उपाधि बनाइ।
बरस दिवस मोहिं देत पूजा दई सोउ मिटाइ॥
रिस सहित सुरराज लीन्हें प्रबल मेघ बुलाइ।
सूर सुरपति कहत पुनि-पुनि परौ ब्रज पर धाइ॥ ४३॥

पृष्ठ २१५ (१४७० ना० प्र० स०)

इस पद में इन्द्र नायक (आश्रय) ब्रजवासी प्रतिनायक (आलम्बन) क्रोध स्थायी भाव, पूजा का मिटा देना उद्दीपक, गोवर्धन को वज्राघातों से चूर्ण करना, मेघों को बुलाकर ब्रज पर धावा करना आदि अनुभाव और विगत पूजा की स्मृति तथा अमर्षगर्भित वीरत्व का भाव संचारी हैं।

भयानक रस—मेघों की घनघोर वर्षा से ब्रजवासी भयभीत हो उठे। उस समय का वर्णन करते हुये सूर लिखते हैं—

मेघ दल प्रबल ब्रज लोग देखे।
चकित जहँ तहँ भये निरखि बादर नये ग्वाल गोपाल डरि गगन पेखे ॥
ऐसे बादर सजल करत अति महाबल चलत घहरात करि अंध काला।
चकृत भये नन्द, सब महर चकृत भये, चकृत नर नारि, हरि करत ख्याला ॥
घटा घनघोर घहरात, अररात, दररात, थररात ब्रज लोग डरपें।
तड़ित आघात, तररात, उतपात सुनि, नरनारि सकुचि तनु प्राण अरपें ॥
कहा चाहत हौन, भई न कबहूं जौन कबहुँ आँगन भौन बिकल डोलें ॥४६॥

पृष्ठ २१५ (१४७३ ना० प्र० स०)

इस पद मे ब्रजवासियों के हृदयों मे भयंकर वर्षा के कारण उत्पन्न हुआ भय स्थायी भाव है। अन्धकार का फैलना, बिजली का कड़कना आदि उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत हैं। ब्रजवासियों का व्याकुल होना, चकित होना, शंकाकुल होना आदि अनुभाव हैं और इधर-उधर दृष्टि-विक्षेप, 'क्या होना चाहता है' आदि उक्तियों से चिन्ता आदि का प्रकट करना संचारी भाव हैं।

नीचे के पद मे भयभीत व्यक्ति की चेष्टाओं का कितना स्पष्ट चित्र अंकित किया गया है—

ब्रज के लोग फिरत बितताने।
गैयन लै बन ग्वाल गये ते धाये आवत ब्रजहि पराने ॥
कोउ चितवत नभ तन चकृत ह्वै कोउ गिरि परत धरनि अकुलाने।
कोउ लै ओट रहत वृच्छन की अंधु धुन्ध दिसि बिदिसि भुलाने ॥
कोउ पहुँचे जैसे तैसे गृह कोउ ढूँढ़त गृह नहिं पहिचाने ॥ ५१ ॥

पृष्ठ २१६ (१४७८ ना० प्र० स०)

करुण रस--घनघोर वर्षा से ब्रजवासी शोकमग्न हो गये और पराजित एवं पददलित अवस्था मे सहायता के लिये कृष्ण को पुकारने लगे। नीचे के पद में ब्रजवासियों की असहनीय पीड़ा एवं विवशता का वर्णन है—

राखि लेहु गोकुल के नायक।
भीजत ग्वाल, गाइ, गोसुत सब, विषम बूंद लागत जनु सायक।
बरसत मुसलधार सैनापति महामेघ मघवा के पायक ॥
तुम बिनु ऐसो कौन नंद सुत यह दुख दुसह मिटावन लायक।
अघमरदन, बक-बदन बिदारन, बकी बिनासन, सब सुखदायक।
सूरदास प्रभु ताको यह गति जाके तुम से सदा सहायक ॥ ५४ ॥

पृष्ठ २१६ (१४८१ ना० प्र० स०)

इस पद में शोक एवं दुःख स्थायी भाव है। गाय, बछड़े आदि का भागना, वाणों के समान तीखी बूँदों का ऊपर पड़ना उद्दीपन एवं आलम्बन विभाव हैं। कृष्ण को पुकारना, विवशता प्रकट करना आदि अनुभाव हैं और कृष्ण के रक्षक रूप की स्मृति संचारी है। सूर के वर्षा-वर्णन को पढ़कर तुलसी रचित कवितावली के लंकादहन का वर्णन स्मरण हो आता है। दोनों महाकवियों के ये दो वर्णन हिन्दी साहित्य में अद्वितीय हैं।

दावानल के वर्णन में भी करुण रस का चित्र अंकित हुआ है—

अब कै राखि लेहु गोपाल।
दसहु दिसा ते दुसह दवागिनि उपजी है यहि काल।
पटकत बाँस काँस कुस चटकत लटकत ताल तमाल॥
उचटत अति अंगार फुटत झर झपटत लपट कराल।
धूम धुन्धि बाढ़ी घर अंबर चमकत बिच बिच ज्वाल।
हरिन वराह मोर चातक पिक जरत जीव बेहाल॥ ८३॥

पृष्ठ १८३ (१२३३ ना० प्र० स०)

राधा और यशोदा के विरह-वर्णन में भी करुण मनोभाव के कई सुन्दर चित्र हैं। उदाहरण-स्वरूप कुछ पद नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

जसोदा कान्ह कान्ह कै, बूझै।
फूटि न गई तिहारी चारौ, कैसे मारग सूझै॥
इक तन जरौ जात बिनु देखे, अब तुम दीने फूक।
यह छतिया मेरे कुँवर कान्ह बिनु फटि न भई द्वै टूक॥ ६६॥

पृष्ठ ४७८ (३७५२ ना० प्र० स०)

गदगद कंठ हियो भरि आयो बचन कहे न दियो।
सूर स्याम अभिराम ध्यान मन भरि-भरि लेत हियो॥ २५॥

पृष्ठ ४८३

यह करुण मनोभाव वात्सल्य वियोग की एक दशा है। इससे करुण रस की निष्पत्ति नहीं होती, यद्यपि पंडित राज जगन्नाथ ऐसी भावदशाओं में करुण रस की ही स्थिति स्वीकार करते हैं।

राधा का एक करुण चित्र देखिये—

देखी मैं लोचन चुअत अचेत।
द्वार खड़ी इकटक मग जोवत ऊरध स्वास न लेत॥
श्रवण न सुनत चित्र पुतरी लौं समुझावत जितनेत।

कहुँ कंकन, कहुँ गिरी मुद्रिका, कहुँ तांटंक कहुँ नेत ॥
भुज होड सूखि रही सूरज प्रभु बँधी तुम्हारे हेत ॥ ५६ ॥
पृष्ठ ५६५ (४७३३ ना० प्र० स०)

यह करुण चित्र भी विप्रलम्भ शृङ्गार के अन्तर्गत आता है।

हास्य रस—रसिक सूर की विनोदी वृत्ति का कुछ उल्लेख हम शैली के अन्तर्गत कर चुके हैं। बालकों की निश्छल तोतली वाणी सुनकर और कलित क्रीड़ाओं को देखकर किस सहृदय के मुख पर हास्य की छटा नही छा जाती। सूर तो बाल-विनोद का गंभीर दार्शनिक पंडित था। उसने हास्य रस की उद्भावना करने वाले बाल क्रीडा के ऐसे प्रसंग सूरसागर में रख दिये हैं, जो अपनी स्वाभाविकता मे ही स्मित हास्य की सृष्टि करने वाले हैं। वात्सल्य रस के वर्णन में ऐसे कुछ पदों को हम उद्धृत कर चुके है, जिनमे हास्य कहीं अनुभाव और कही संचारी के रूप मे आया है। परन्तु कहीं-कहीं हास्य स्वतन्त्र रूप से रस की कोटि तक भी पहुँच गया है। ऐसे स्थलों पर बाल वृत्तियाँ उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत परिगणित होंगी। एक उदाहरण लीजिये—

मैया मैं नाहीं दधि खायो।
ख्याल परै ये सखा सबै मिलि मेरे मुँह लपटायो।
देखि तुही सीके पर भाजन ऊँचे घर लटकायो॥
तुही निरखि नान्हे कर अपने मैं कैसे करि पायो।
मुख दधि पोंछि कहत नँदनंदन दोना पीठि दुरायो॥
(६५२ ना० प्र० स०)

इस पद मे मुख से चिपटा हुआ दही पोंछना, पीठ पीछे दोने को छिपाना तथा छोटे हाथों की दुहाई देना उद्दीपन विभाव की सामग्री है। स्थायी भाव हास्य है, जो पद में वर्णित संपूर्ण परिस्थिति के सामने आते ही खिल उठता है। ऐसे पदों में भाव व्यंजित होकर आस्वाद्यमान कोटि तक पहुँच जाता है और इसी हेतु उसकी रस संज्ञा होती है। सूरसागर में हास्य रस अधिकतर वात्सल्य और शृङ्गार का सहायक होकर आया है। वात्सल्य रस में कृष्ण के चातुर्य-पूर्ण उत्तर, बालोचित अभियोग और विनोदी वृत्ति, संयोग शृङ्गार में उनका पर्याय से कार्य सिद्ध करना, राधा की नीली साड़ी ओढ़ लेना तथा शृङ्गार मे भ्रमर को सम्बोधन कर उद्धव के निर्गुण ज्ञान की खिल्ली उडाना हास्य का उद्रेक करने वाले प्रसंग हैं। और भी कतिपय स्थलों पर सूर की रसिक वृत्ति ने हासपरिहास के प्रसंगों की उद्भावना की है। सुकुमार एवं सरस भावों की व्यंजना में तो हिन्दी का कोई भी कवि सूर की समता नहीं कर सकता। हास्य

की गणना ऐसे ही भावों में है, पर यह भाव रस की कोटि तक प्रत्येक स्थल पर नहीं पहुँच सका है।

अद्भुत रस—अद्भुत रस के प्रसङ्ग सूरसागर में कई स्थानों पर हैं। बाल-लीला के अन्तर्गत कृष्ण के माटी खाने का वर्णन है। एक गोपी ने आकर यशोदा से शिकायत कर दी कि तेरे लड़के ने मिट्टी खाई है। यशोदा ने कृष्ण को मुख खोल कर मिट्टी दिखाने के लिये कहा। सूर को अवसर मिल गया और उन्होंने कृष्ण के मुखव्यादान से समग्र ब्रह्माण्ड को दिखा कर अद्भुत रस की सृष्टि कर दी। सूर लिखते हैं—

अखिल ब्रह्माण्ड खण्ड की महिमा दिखरायो मुख माहीं।
सिन्धु, सुमेरु, नदी, वन, पर्वत चकृत भई मन माहीं ॥ २८ ॥
(८७३ ना० प्र० स०)

यशोदा कृष्ण के मुख में अखिल ब्रह्माण्ड को देखकर विस्मय-विमुग्ध हो गईं। मुरली के विस्मयावह प्रभाव के चित्रण में भी सूर ने अद्भुत रस का समावेश किया है। नीचे लिखे पद में मुरली-ध्वनि को सुनते ही आश्चर्यजनक घटनाओं के घटित होने का उल्लेख किया गया है—

मुरली सुनत अचल चले।
थके चर जल झरत पाहन विफल वृक्ष फले।
पय स्रवत गोधननि थन ते प्रेम पुलकित गात॥
झुरे द्रुम अंकुरित पल्लव विटप चंचल पात।
सुनत खग मृग मौन साध्यो चित्र की अनुहारि।
धरनि उमंगि न माति उर में यती योग विसारि।
ग्वाल गृह-गृह सहज सोवत उहै सहज सुभाइ।
सूर प्रभु रसरास के हित सुखद रैनि बढ़ाइ ॥ ५४ ॥
(१६८६ ना० प्र० स०)

एक उदाहरण और लीजिये। यशोदा कृष्ण के नटखट पन से ऊब गई है। उसने कृष्ण को पकड़ लिया और रस्सी लेकर बाँधने लगी। सूर लिखते हैं—

बाँह गहे ढूँढ़ति फिरै डोरी। बाँधों तोहि सकै को छोरी।
बाँधि पची डोरी नहिं पूरै। बार-बार खीझति रिस-भूरै।
घर-घर ते जेंवरि लै आई। मिस ही, मिस देखन कों धाई।
चकित भई देखे ढिंग ठाढ़ी। मनो चितेरे लिखि-लिखि काढ़ी।
जसुमति जोर जोर रजु बाँधे। आँगुर द्वै-द्वै जेंवरि साधै।
मुख जँभात त्रिभुवन दिखरायो। चकित कियो तुरतहिं विसरायो।
पृष्ठ १४६ (१,००६ ना० प्र० स०)

कृष्ण के बाँधने के लिये रस्सी पूरी ही नहीं पड़ती—इसे देख कर सब गोपियाँ आश्चर्य में मग्न हो गईं।

शान्त रसः—शान्तरस का स्थायीभाव निर्वेद है। संसार से ग्लानि एवं विरक्ति की भावना इस रस के मूल में निवास करती है। शान्त रस के अनुभावों में संसार की अनित्यता, अवधूत जैसी चेष्टायें, निर्वेद, निर्ममता, अश्रु पात, प्रभु-विरह की व्याकुलता, भगवान की दयालुता तथा अपनी अधमता का अनुभव आदि आते हैं और संचारी भावों में आत्म-ग्लानि, अमर्ष, हर्ष, निर्वेद, धृति, वितर्क, स्मृति, विषाद आदि की गणना होती है।

शान्तरस में विषय वासनाओं की उपरामता, मन को संसार की विनश्वरता, हेयता तथा दुःखरूपता दिखा कर तटस्थ वृत्ति ग्रहण करना अर्थात् दुख-सुख में साम्य भावना रखना, प्रभु-आश्रित रह कर कर्मकाण्ड से या तो हाथ खींच लेना अथवा अन्यमनस्क भाव से यंत्रवत् उसके संचालन में लगे रहना और आसक्ति एवं फलाकांक्षा का परित्याग कर देना आदि की प्रमुखता है। यथा—

रे मन गोविंद के ह्वै रहियै।
इहि संसार अपार विरत ह्वै, जम की त्रास न सहियै।
दुख-सुख कीरति भाग आपनैं, आइ परै सो गहियै।
सूरदास भगवंत भजन करि अंत बार कछु लहियै॥ (६२ ना० प्र० स०)

नीचे लिखे पद भी शान्तरस के अच्छे उदाहरण हैं—

जादिन मन पंछी उडि जैहै।
ता दिन तेरे तन तरुवर के सबै पात झरि जैहै।
या देही को गरब न करियै, स्यार-काग-गिध खैहै।
तीननि मैं तन कृमि, कै बिष्टा, कै ह्वै खाक उड़ैहैं।
(८६ ना० प्र० स०)

सुवा, चलि ता बन को रस पीजै।
जा बन राम-नाम अम्रित-रस, स्रवन-पात्र भरि लीजै।
को तेरौ पुत्र, पिता तू काकौ घरनी, घर कौ तेरौ।
काग-सृगाल-स्वान कौ भोजन, तू कहै मेरौ-मेरौ।
(३४० ना० प्र० स०)

भक्ति रस—सूर की भक्ति का विवेचन सिद्ध करता है कि उसमे वात्सल्य माधुर्य, तथा सख्य भावों की प्रधानता है। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' के रचयिता ने इन सबका समावेश भक्तिरस में कर दिया है। उसके अनुसार भक्ति रस के पाँच भेद हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, और शृङ्गार। शृङ्गार को ही उस मे मधुर अथवा उज्ज्वल रस की संज्ञा दी है। दास्यभक्ति उसके मत मे प्रीतभक्ति

है और सख्य भक्ति को प्रेयोभक्ति लिखा गया है। शान्त भक्ति मे भगवान के शान्त चतुर्भुज स्वरूप का ध्यान किया जाता है। वेदादि का पठन, विविक्त स्थान का सेवन, अन्तर्मुखी मनोवृत्ति, ज्ञानीभक्तों का संसर्ग, मौन, निरहंकारिता, नैरपेक्ष्य, निर्ममता आदि इसके विशिष्ट अंग माने जाते हैं। प्रेयोभक्ति में हरि के साथ श्रीदामा, वसुदामा आदि सखा रहते हैं तथा कौमारादि वय के अनुरूप वेष होता है। पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा, क्रीड़ा आदि इसमे विशेष रूप से दिखाई देते है।)

वत्सल भक्ति मे गुरु, माता-पिता आदि का प्रेम स्थायी भाव का कार्य करता है। शैशव चापल्य, जल्पित, स्मित, लीला आदि उद्दीपन विभाव होते हैं। मधुरा भक्ति में कृष्ण का अनुपम सौंदर्य रतिभाव को जागृत करता है। राधा, गोपी आदि के साथ प्रेमक्रीड़ा, रास आदि द्वारा इसकी अभिव्यक्ति होती है। मुरलीवादन विभाव का एक अंग बनता है। (सूर की रचनाओं मे आये हुए रसों का जो वर्णन हमने पीछे किया है, वह महापात्र विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण' के आधार पर है। 'साहित्य दर्पण' में वात्सल्य रस के अंग-उपांगों का भी उल्लेख है, परन्तु उसकी सोदाहरण विस्तृत व्याख्या नहीं की गई है। वात्सल्य रस का उसके भेदों के साथ पूर्ण कल्पना और प्रतिपत्ति हम इस ग्रंथ में सर्व प्रथम उपस्थित कर सके हैं। आशा है विद्वान् इसकी उपयुक्तता पर विचार करेंगे) 'भक्ति रसामृत सिंधु' के आधार पर भक्ति रस के जो पाँच भेद ऊपर वर्णित हुए हैं उनमें वत्सल भक्ति और मधुरा भक्ति का विवेचन वात्सल्य और शृङ्गार रसों के रूप से पीछे हो चुका है। शान्त भक्ति शान्त रस में अंतर्भुक्त हो जाती है जिसके उदाहरण ऊपर दिए जा चुके हैं। सख्य रस के उदाहरण श्रीदामा और कृष्ण के खेलों में उपलब्ध होते हैं। यथा—

खेलत मै को काको गोसैयाँ।
हरि हारे जीते श्रीदामा बरबस ही कत करत रिसैयाँ॥
जाति-पाँति तुमते कछु नाहिन, नाहिन रहत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत याते अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ॥
(८६३ ना० प्र० स०)

प्रीतभक्ति दास्यभक्ति है, जिसमें द्विभुज अथवा चतुर्भुज गोकुलवासी कृष्ण ईश्वर हैं, स्वामी हैं, परमाराध्य हैं। वे सर्वज्ञ, दृढ़व्रत, समृद्ध, क्षमाशील, शरणागत-पालक और प्रेमवश्य हैं। उनके सेवक चार प्रकार के हैं—(१) अधिकृत—जैसे ब्रह्मा, शंकर आदि। (२) आश्रित-जैसे कालिय, जरासंध, बद्ध-भूपाल आदि। ये भी शरण्य, ज्ञानचर और सेवा निष्ठ रूप से तीन प्रकार के हैं। (३) पारिषद—जैसे उद्धव, दारुक आदि। (४) अनुग-जिनमें ब्रज एवं नगर के निवासियों की गणना की जाती है।

दास्य भक्ति में प्रभु आलम्बन, भक्त आश्रय, श्रद्धा स्थायी भाव, प्रभु का ऐश्वर्य, दया-दाक्षिण्य, उदारता, शरणागत-वत्सलता आदि उद्दीपन, अपना दोष-दर्शन, पश्चात्ताप, अश्रुपात आदि अनुभाव तथा ग्लानि, स्मृति, क्रीडा आदि संचारी भाव होते हैं। यथा—

जब जब दीननि कठिन परी।
जानत हौं, करुनामय जन कौं, तब तब सुगम करी॥
सभा मंझार दुष्ट दुस्सासन द्रौपदि आनि धरी।
सुमिरत पट कौ कोट बढ्यौ तब दुख सागर उबरी॥
तब तब रच्छा करी भगत पर जब जब विपति परी।
महा मोह में पर्यौ सूर प्रभु काहैं सुधि विसरी॥
(१६ ना० प्र० स०)

प्रभु कौं देखौ एक सुभाउ।
अति गंभीर उदार उदधि हरि, जानि सिरोमनि राउ॥
तिनका सौं अपने जन कौ गुन मानत मेरु समान।
सकुचि गनत अपराध समुद्रहि बूँद तुल्य भगवान॥
भक्त विरह कातर करुनामय डोलत पाछैं लागे।
सूरदास ऐसे स्वामी कौं देंहि पीठि सो अभागे॥
(८ ना० प्र० स०)

मेरी कौन गति व्रजनाथ।
भजन विमुखऽरु सरन नाहीं, फिरत विषयनि साथ॥
हौं पतित अपराध पूरन, भर्यौ कर्म विकार।
काम क्रोधऽरु लोभ चितवौं, नाथ तुमहि विसार॥
जबहिं अपनी कृपा करि हौ, तबहिं तो बन जाइ।
सोइ करहु जिहिं चरन सेवै सूर जूठनि खाइ॥
(१२६ ना० प्र० स०)

उपसंहार—सूर की भक्ति का विवेचन करते हुए हमने लिखा है कि उनकी भक्ति सख्य भाव की है। इस प्रकार की भक्ति का विकास सूर के अन्तस्तल में आचार्य वल्लभ से भेंट करने के पश्चात् हुआ। इसके पूर्व वे प्रभु-विनय के पद बना कर गाया करते थे। इन पदों में वैराग्य-भावना की प्रधानता थी। ज्ञान की महत्ता माया, अविद्या तृष्णादि से मुक्त होना, निवृत्तिमूलक साधुवृत्ति से रहना, कर्म-प्रवृत्ति का तिरस्कार करना आदि बातों का वर्णन इस भक्ति की विशेषताओं के

अन्तर्गत था। सूर-रचित इस प्रकार के पदों की संख्या अधिक रही होगी, पर कालचक्र में पड़कर ये समस्त पद अपनी प्रभूत मात्रा में सुरक्षित न रह सके। इनमें से कुछ पदों का समावेश सूरसागर के प्रारम्भिक स्कन्धों में है। इन पदों में दास्य भक्ति एवं शान्तरस की कविता है—अलंकार-आडम्बर-विहीन, सीधी सादी हृदय से निकली हुई पुकार-जिसमें कहीं रुदन है, कहीं पश्चात्ताप है, कहीं आत्मनिवेदन है और कहीं प्रभु के गुणों का कीर्तन है। कुछ उदाहरण लीजियेः—

माधव जू जो जन ते बिगरै।
तऊ कृपालु करुनामय केसव प्रभु नहिं जीय धरै॥
जैसे जननि जठर अन्तर्गत सुत अपराध करै।
तऊ पुनि जतन करै अरु पोषै निकसे अङ्क भरै॥
यद्यपि मलय वृच्छ जड़ काटत कर कुठार पकरै।
तऊ सुभाव सुगन्ध सुसीतल रिपु तन ताप हरै॥
ज्यों हल गहि धर धरत कृषी बल वारि बीज बिथुरै।
सहि सन्मुख त्यों सीत उष्ण को सोई सुफल करै॥
द्विज रसना जो दुखित होइ बहु तौ रिस कहा करै।
यद्यपि अङ्ग विभङ्ग होत है लै समीप संचरै॥
कारन करन दयालु दयानिधि निज भय दीन डरै।
इहि कलिकाल व्याल मुख ग्रासित सूर सरन उबरै॥ ५८॥ पृ० १०
(११७ ना० प्र० स०)

माधव जू और न मो ते पापी।
घातक कुटिल, चवाई, कपटी, महा क्रूर सन्तापी॥
लम्पट, धूत, पूत दमरी को विषय जाप को जापी।
भच्छ अभच्छ अपेय पान करि कबहुँ न मनसा धापी॥
कामी विवस कामिनी के रस लोभ लालसा थापी।
मन क्रम-वचन दुसह सबहिनु सों कटुक वचन आलापी॥
जेतिक अधम उधारे तुम प्रभु तिनकी गति मैं नापी।
सागर सूर भर्‌यौ विकार जल पतित अजामिल बापी॥८१॥
—पृष्ठ १३ (१४० ना० प्र० स०)

सूरसागर के ये पद आत्मनिवेदन के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। ऐसे ही पदों को गा-गाकर, प्रभु को सुना-सुनाकर सूर ने अपनी हृदय-भूमि को इतना निर्मल बना लिया था कि आचार्य वल्लभ का बीजमन्त्र पड़ते ही उसमें से

राधाकृष्ण लीला के सहस्रदल पद-पारिजात अंकुरित हो उठे। अंकुरित ही नहीं, वे इतने सघन, पुष्पित और फलित हुए कि उनके रसास्वादन से भगवद्भक्तों के समुदाय के समुदाय तृप्त हो गये।

आचार्य वल्लभ से मिलने के पश्चात् वृद्ध सूर का कायाकल्प हो गया। राधा-कृष्ण-लीला के गायन में कृष्णभक्ति का जो नवीन रूप दिखलाई पड़ा, उसे उज्ज्वल रस और मधुर रस का नाम दिया गया है। व्रज एवं व्रजपति के अनन्य अनुरागी सूर की इस भक्ति को सख्य भक्ति कहा जाता है। भविष्य पुराण के शब्दों में 'हरिप्रिय' एवं 'कृष्णलीलाकर कवि सूर अपनी कोमलता एवं रसिकता के कारण उस छबीले के मुरलीवादन पर मुग्ध हो गया। उसके रोम-रोम से सख्य भाव की भक्ति स्फुरित हो उठी। वह गाने लगा—

छबीले मुरली नेक बजाउ।
बलि-बलि जात सखा यह कहि-कहि अधर सुधारस प्याउ॥
दुर्लभ जन्म, दुर्लभ वृन्दावन, दुर्लभ प्रेम तरङ्ग।
ना जानिये बहुरि कब ह्वै है स्याम तुम्हारो सङ्ग॥

× × ×

सुनि-सुनि दीन गिरा मुरलीधर चितए मुख मुसकाइ।
गुन गम्भीर गोपाल मुरलि कर लीन्हीं तबहिं उठाइ॥
धरि कर वेनु अधर मन मोहन कियो मधुर ध्वनि गान।
मोहे सकल जीव जल-थल के सुनि वार्‌यौ तन-प्रान॥ २४॥ पृ० ४२२

(१८३४ ना० प्र० स०)

सूरसागर के इस पद में आचार्य वल्लभ द्वारा प्रवर्तित पुष्टि भक्ति के सम्पूर्ण रूप मे दर्शन होते हैं। इसमें राधाकृष्ण की लीला भूमि, प्रेम की क्रीडा-स्थली, शाश्वत वृन्दावन का वर्णन है, रागानुगा भक्ति की प्रेम तरंगे हैं, श्याम-रस में डूब कर भगवान की लीला मे भाग लेने वाले भक्त के उज्ज्वल, हृदय का निदर्शन है, भक्तों की पीड़ा से पिघलने वाले प्रभु के अनुराग एवं अनुग्रह का प्रदर्शन है; और है अन्त मे अणु-अणु में खेल खेलने वाली, अन्तर के तार-तार को झंकृत कर देने वाली, जल-थल के जीवमात्र को मोहित करने वाली मुरली ध्वनि! न जाने किस पवित्र मुहूर्त मे, किन पुण्यों के फल स्वरूप सूर को सरसठ वर्ष की परिपक्व आयु में आचार्य वल्लभ की कृपा से इस मोहक छवि के दर्शन हुए थे, जिसने उनकी नस नस में नवीन स्फूर्ति भर दी। यह भक्ति सूर का तो पाथेय बनी ही और भी न जाने कितने सन्तों के हृदय की भूख को इसने तृप्त किया होगा।

प्रकृति वर्णन

सूरसागर मे उस नटनागर की लीला है, जिसने व्रज की उन्मुक्त प्रकृति को अपनी क्रीड़ा भूमि बना रखा था। कृष्ण की बालकेलि प्रकृति के इसी प्राङ्गण में हुई थी। द्वादश-वर्ष तक वे व्रजभूमि के निकट बहती हुई यमुना के पावन पुलिन, करील कुंज, कदम्ब और लतावृक्षों के पास खेलते रहे। इसी भूमि की मिट्टी खाकर बाल्यावस्था मे ही उन्होंने अपने उस विराट् रूप का माता यशोदा के सम्मुख प्रदर्शन किया, जो विस्मयावह होते हुए भी कितना सत्य, कितना वास्तविक था। गौओं को चराते हुए विकट राक्षसों तक का वध करने में उनका जो बल प्रकट हुआ, उसके मूल में महिमामयी, माखनमयी, धन-धान्यमयी व्रज-धरा के जलवायु के परमाणु ही कार्य कर रहे थे। व्रज के वे बारह बन बालकृष्ण के पाद-पद्मों के चिह्नों से विभूषित हो गये। अनन्त आकाश के नीचे प्रकृति के उस विशाल क्षेत्र में विचरण करते हुए वे प्रकृति में और प्रकृति उनमें घुलमिल गई। कृष्ण की याद आते ही करील और कदम्ब की याद आ जाती है और यमुना-तट के उन भरकों एवं निकुंजों को देखते ही वंशीवाला व्रजविहारी मानसचक्षुओं के सम्मुख नवल नृत्य करने लगता है।

सूरकाव्य का कृष्ण के इसी बालरूप से विशेष सम्बन्ध है और इसी हेतु, उनके बालरूप से सम्बन्धित सभी प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में सूर ने अपना अनुराग प्रदर्शित किया है। वैसे तो वल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार कृष्णलीला का निकेतन वृन्दाबन धाम नित्य एवं शाश्वत है। सूर ने भी अनेक बार इस बात का उल्लेख किया है, पर अपने अस्थायी रूप में भी उसकी रमणीयता मनोमुग्धकारी है। सूर स्वयं व्रजवासी बाबा रामदास के पुत्र थे। व्रजभूमि ने ही उनके शारीरिक परमाणु सङ्गठित किये थे। फिर आचार्य वल्लभ से दीक्षित होकर वे व्रजवल्लभ के वल्लभ बन चुके थे। अतः गोकुल और वृन्दावन* की निसर्ग सुषमा से उनका नैसर्गिक प्रेम था। जहाँ कहीं वे व्रजभूमि का वर्णन करते हैं, ऐसा प्रतीत होता है, जैसे उनकी मनोवृत्ति तन्मय होकर क्षण-क्षण में अभिनवरूप धारण करने

* गोकुल तथा गोवर्धन पर्वत के आसपास की वन-भूमि को आदि वृन्दावन कहा जाता है।

वाली उस रूपरमणीयता का दर्शन-सुख लूट रही है। गोपियाँ कहती हैं—

गोपी कहति धन्य हम नारि।
धनि धनि ग्वाल, धन्य वृन्दावन, धन्य भूमि यह अति सुखकारि।
धन्य दान धनि कान्ह सँगैया, धन्य सूर तृण, द्रुम वन, डारि ।।८१।।
—पृ० २५० (२२२० ना० प्र० स०)

इह सुनि ब्रह्मा चल्यौ तुरत वृन्दावन आयौ।
देखि सरोवर सलिल कमल तिहि मध्य सुहायौ।।
परम सुभग जमुना बहै, बहै तहाँ त्रिविध समीर।
पुहुप लता द्रुम देखि के, चकित भयौ मति धीर।।
अति रमणीक कदम्ब छाँह रुचि परम सुहाई।
राजत मोहन मध्य अवलि-बालक छवि पाई।। पृष्ठ १५७
(१११० ना० प्र० स०)

मनोरम व्रजभूमि में व्रज के मन मोहन श्रीकृष्ण की क्रीड़ायें सूर के लिये द्विगुणित आनन्द की हेतु बन गई। प्रकृति के साथ जब साक्षात पुरुष भी दिखाई देने लगे तो प्रकृति के लावण्य का कहना ही क्या?

सूर ने प्रकृति के इस लावण्य का वर्णन निम्नांकित रूपों में किया है—

(१) प्रकृति का विषयात्मक चित्रण।
(२) प्रकृति का अलंकृत चित्रण।
(३) कोमल और भयंकर रूप।
(४) प्रकृति मानव-क्रियाकलाप की पृष्ठभूमि।
(५) अलंकारों के रूप में प्राकृतिक दृश्यों का प्रयोग।

(१) प्रकृति का विषयात्मक चित्रण—इस रूप में सूर ने प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन अन्य बातों से असम्बद्ध होकर किया है। प्रकृति ऐसे स्थलों पर अपने स्वाभाविक रूप में प्रकट हुई है। नीचे के पदों में प्रभात का वर्णन देखिए—

राग ललित—

बोले तमचुर, चारों याम कौ गजर मार्‌यौ,
पौन भयौ सीतल, रु तम-तमता गई।
प्राची अरुनारी, धनि किरिन उज्यारी नभ,
छाई, उडुगन चन्द्रमा मलिनता लई।।
मुकुले कमल, वच्छ बंधन बिछोहि ग्वाल,
चरै चलीं गाय, द्विज पैंती करको दई।
सूरदास राधिका सरस बानी बोलि कहै,
जागौ प्रान प्यारे जू सवारे की समै भई ।।८।।
(२६५६ ना० प्र० स०)

चिरई चुहचुहानी, चंद की ज्योति परानी,
रजनी विहानी, प्राची पियरी प्रमान की।
तारका दुरानी, तम घटे, तमचुर बोले,
श्रवण भनक परी ललित के तान की॥
भृङ्ग मिले भारजा, बिछुरी जोरी कोक मिले,
उतरी पनच अब काम के कमान की।
अथवत आयें गृह बहुरि उवत भान,
उठौ प्राणनाथ महा जान-मणि जानकी ॥६॥ पृष्ट३००
(२६५७ ना० प्र० स०)

उपर्युक्त दोनों पदों में प्रातःकाल के दृश्य का दिग्दर्शन कराया गया है। ब्राह्मयाम में मुर्गा बॉग देता है, शीतल पवन चलने लगता है, अंधकार हो जाता है, पौ फटने के पश्चात् सूर्य का उदय होता है, नक्षत्र और चन्द्रमा निष्प्रभ हो जाते हैं, गायें चरने के लिये जङ्गल में चली जाती हैं, ब्राह्मण हाथ में पेंती बॉध नित्य कर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं, चिड़ियॉ चहचहाने लगती हैं और चकवा-चकवी की बिछुड़ी जोड़ी मिल जाती है। पदों में इन बातों का वर्णन अलंकार आदि का बिना आश्रय लिये किया गया है। इसी सम्बन्ध में नीचे लिखा पद भी दर्शनीय है—

जागिये ब्रजराज कुंवर, कमल कुसुम फूले।
कुमुद वृन्द सकुचित भये भृंगलता भूले॥
तमचुर खग रौर सुनहु बोलत बन राई।
राँभति गौ खिरकन में बछरा हित धाई॥
विधु मलीन, रवि प्रकास गावत नर-नारी।
सूर स्याम प्रात उठौ अम्बुज कर-धारी ॥ ७६ ॥ पृष्ठ १२५
(८२० ना० प्र० स०)

नीचे के पदों मे वर्षा का वर्णन भी इसी प्रकार का है—

माधव महा मेघ घिरि आयौ।
घर कौं गाय बहोरौ मोहन ग्वालनि टेर सुनायौ॥
कारी घटा सधूम देखियति अति गति पवन चलायौ।
चारों दिसा चितै किन देखो, दामिनि कौंधा लायो ॥५८॥
—पृष्ठ २१६ (१४८६ ना० प्र० स०)

गगन गरजि घहराई जुरी घटा कारी।
पौन झकझोर, चपला चमकि चहुँ ओर,
सुवन तन चितै नन्द डर भारी ॥७३॥ पृष्ठ १६२
(१३०२ ना० प्र० स०)

नीचे के पद से दावाग्नि का वर्णन भी स्वाभाविक रूप में हुआ है—

ब्रज के लोग उठे अकुलाइ।
ज्वाला देखि अकास बराबरि दसहूँ दिसा कहूँ पार न पाइ॥
झरहरात बन पात गिरत तरु, धरनी तरकि तराकि सुनाइ।
जल बरसत गिरिवर तर बाँचे, अब कैसे गिरि होत सहाइ॥
लटकि जात जरि-जरि द्रुम बेली, पटकत बांस कांस, कुस, ताल।
उचटत भरि अंगार गगन लौं, सूर निरखि ब्रजजन बेहाल॥८३॥

—पृष्ठ १८३ (१२१२ ना० प्र० स०)

नीचे लिखी पंक्तियो मे वसन्त ऋतु का वर्णन अन्य वस्तुओं से कितना असम्बद्ध और अपने शुद्ध रूप में हुआ है—

सरिता सीतल बहत मन्द गति रवि उत्तर दिसि आयो।
अति रस भरी कोकिला बोली बिरहिन बिरह जगायो॥
द्वादस बन रतनारे देखियत चहुँ दिसि टेसू फूले।
मौरे अँबुआ अरु द्रुम बेली मधुकर परिमल भूले॥६१॥

—पृष्ठ ४३१ (३४७२ ना० प्र० स०)

इसके पश्चात् ताल, पखावज, बीन, बाँसुरी और डफ बजाकर झूमक गाते हुये गोप-गोपियों का वर्णन है। फाग खेलते हुए एक दूसरे पर पिचकारी में केशर का रंग भर कर डालना, गुलाल और अबीर का लगाना आज भी देहात के वासन्ती दृश्यों की याद दिला देता है। प्रकृति का ऐसा शुद्ध वर्णन अन्य कवियों की रचनाओं में उपलब्ध नही होता। सेनापति का ऋतु-वर्णन अच्छा है, पर वह भी अधिकांश रूप मे यमक और श्लेष से आच्छादित है। गोस्वामी तुलसीदास तो ऋतुवर्णन की ओर ध्यान ही नही देते। प्रकृति का चित्रण करते हुए वे उपदेशक बन जाते हैं। शरद और वर्षा के वर्णन रामचरितमानस में भागवत के अनुवाद मात्र हैं। स्वर्गीय शुक्ल जी ने इस सम्बन्ध में हिन्दी कवियों को बहुत कोसा है, पर न जाने सूर के ये पद उनकी दृष्टि के सामने क्यों न आ सके?

(२) प्रकृति का अलकृत चित्रण—इस रूप में प्राकृतिक दृश्यों को आलंकारिक शैली मे प्रकट किया गया है। प्रभातकाल में दही बिलोने की घर्रघर्र ध्वनि मेघ-ध्वनि का अनुकरण करती हुई ब्रज के ग्राम-ग्राम और घर-घर में फैल जाती है। सूर इस दृश्य का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

घूमि रहे जित तित दधि मथना सुनत मेघध्वनि लाजै री॥२५॥

—पृष्ठ ११८ (७५७ ना० प्र० स०)

किरातार्जुनीय (४-१६) में भारवि ने भी इसी प्रकार का वर्णन किया है। नीचे लिखे पद मे प्रभात का वर्णन भी आलङ्कारिक रूप में किया गया है—

जागिये गुपाल लाल, आनन्द निधि नन्दबाल,
जसुमति कहै बार-बार भोर भयो प्यारे ॥
नैन कमल दल बिसाल, प्रीति बापिका मराल,
मदन ललित बदन ऊपर कोटि वारि डारे ॥
उगत अरुन, बिगत सर्वरी ससांक किरन-हीन,
दीन दीप, मलिन छीन-दुति समूह तारे ॥
मनहु ज्ञान घन-प्रकास बीते सब भव विलास,
आस-त्रास-तिमिर तोष-तरनि-तेज जारे ॥
बोलत खग-निकर-मुखर, मधुर है प्रतीत सुनहु,
परम प्राण. जीवन धन, मेरे तुम बारे ॥
मनों वेद बन्दीजन मुनि सूतवृन्द मागध गण,
विरद बदत जै जै जै जैत कैटभारे ॥
विकसत कमलावलीय, चलि प्रफुल्ल चंचरीक,
गुन्जत कल कोमल ध्वनि, त्यागि कुन्ज न्यारे ॥
मानों वैराग पाइ, सकल कुल ग्रह विहाइ,
प्रेमवन्त फिरत भृत्य, गुनत गुन तिहारे ॥
(८२३ ना० प्र० स०)

इस पद में प्रभातकालीन दृश्यावलि का चित्रण रूपक-गर्भित-उत्प्रेक्षा अलङ्कार द्वारा किया गया है। सूर्य के उदय होने पर रात्रि व्यतीत हो गई और चन्द्र, नक्षत्र तथा दीपक वैसे ही निष्प्रभ हो गये, जैसे संतोषरूपी सूर्य के ज्ञानरूपी प्रकाश द्वारा कामनाओं का भयरूपी अंधकार दूर हो जाता है। पक्षी क्या चह-चहा रहे हैं, मानों वेदरूपी वंदीजन ऋचा-रूप गान गा रहे हों। कमलों को छोड़ कर प्रफुल्लित भृङ्ग कल-कल ध्वनि से इस प्रकार गुन्जार कर रहे हैं जैसे पारिवारिक चिन्ताओं को छोड़ कर कोई मानव प्रभु-प्रेम में मतवाला बना प्रभु-गुण-गान गाता फिरता हो।

नीचे के पद में उत्प्रेक्षा अलङ्कार से लदा हुआ वसन्त का वर्णन देखिये—

देखत बन ब्रजनाथ आजु अति उपजत है अनुराग।
मानहुँ मदन वसन्त मिले दोउ खेलत फूले फाग ॥
झाँझ झालरनि झर निसान ढफ भँवर भेरि गुञ्जार।
मानहुँ मदन-मंडली रचि पुर बीथिन विपिन विहार ॥

द्रुमगण मध्य पलास मंजरी मुदित अगिनि की नाईं ।
अपने अपने मेरनि मानों होरी हरषि लगाई ॥
केकी, काग, कपोत और खग करत कुलाहल भारी ।
मानहुँ लै लै नाम परस्पर देत दिवावत गारी ॥
कुञ्ज कुञ्ज प्रति कोकिल कूजत अति रिस विमल बढ़ी ।
मनु कुल-वधू निलज भइ गृह-गृह गावति अटनि चढ़ी ॥
प्रफुलित लता जहाँ-जहँ देखत तहाँ-तहाँ अलि जात ।
मानहुँ विट सबहिन अवलोकत परसत गनिका गात ॥
लीन्हें पुहुपराग पवनकर क्रीडत चहुँ दिसि धाइ ।
रस अनरस संजोगनि विरहिनि भरि छाँडति मनभाइ ॥
बहुविधि सुमन अनेक रंग छवि उत्तम भाँति धरे ।
मनु रतिनाथ हाथ सों सबही लै लै रंग भरे ॥
(३४७१ ना० प्र० स०)

इस पद में बसन्त के दिनों में जो-जो दृश्य दिखलाई देते हैं, उनका सुन्दर वर्णन किया गया है, जैसे केकी, कपोतादि का कोलाहल करना, कोकिल का कूजना, पलाश का फूलना, भ्रमरों का इधर-उधर गूँज भरना, लताओं का विकसित होना, पवन का पुष्प-पराग उडाना, अनेक प्रकार के फूलों का फूलना इत्यादि पर इन समस्त दृश्यों के ऊपर एक-एक उत्प्रेक्षा की गई है जो मानव-क्रियाकलाप से सम्बन्ध रखती है। लगभग इसी प्रकार का वर्णन अन्य दृश्यों के सम्बन्ध में रामचरितमानस में पाया जाता है, जैसे—

बूँद अघात सहैं गिरि कैसे । खल के वचन सन्त सहैं जैसे ॥
छुद्र नदी भरि चलि उतराई । जस थोरे धन खल बौराई ॥

यहाँ भी वर्षागत दृश्य-वर्णन के साथ मानव क्रियाओं का उल्लेख किया गया है, जो प्रायः किसी न किसी नीति अथवा शिक्षा का उपदेश करने वाला है। परन्तु सूर ऐसे स्थलों पर उपदेश नहीं देते। प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में वे अलङ्कारों का प्रयोग अवश्य करते हैं, पर उन अलङ्कारों से दृश्यों के रूप, गुण, क्रिया आदि का उत्कर्ष ही सिद्ध होता है। सूरसागर के पृष्ठ ४३० पर पद-संख्या ८१, ८२ और ८५ में भी इसी शैली द्वारा वसन्त का वर्णन किया गया है। पद संख्या ८१ में तो प्रकृति स्वयं मूर्तिमती युवती बन गई है—

राधे जू आज बरनों वसन्त ।
मानहुँ मदन विनोद विहरत नागरी नवकन्त ॥
मिलत सनमुख पटल पाटल भरत मान जुही ।
बेलि प्रथम समाज कारन मेदनी कच गुही ॥

केतकी कुच कलस कंचन गरे कंचुकि कसी।
मालती मद चलित लोचन निरखि मृदु मुख हँसी ॥ इत्यादि ॥
(३४६२ ना० प्र० स०)

पद-संख्या ८२ (३४६३ ना० प्र० स०) में वसन्त ने रूपक अलंकार द्वारा मानिनी के पास मान छोड़ने के लिए पत्र भेजा है, जिसमें कमल (या आम्र) के पत्ते कागज बने हैं, भ्रमर का शरीर कमल की स्याही है, लेखनी काम के बाण, मलयानिल दूत और शुक-पिक इस पत्र को पढ़ कर सुनाने वाले हैं। पद ८५ में उत्प्रेक्षा अलंकार का पूर्ववत् प्रयोग किया गया है, जैसे—

कोकिल बोली, बन बन फूले, मधुप गुँजारन लागे।
सुनि भयौ भोर रोर बन्दिन को मदन महीपति जागे ॥
(३४६६ ना० प्र० स०)

पृष्ठ ३५० पद-संख्या ६४ (१६६४ ना० प्र० स०) में इसी प्रकार शरद ऋतु के वर्णन के अन्तर्गत गोपियों की क्रीड़ा के साथ प्राकृतिक दृश्यों की तुलना की गई है।

(३) प्रकृति का कोमल और भयंकररूप—विश्व का प्रत्येक पदार्थ अपने दो पार्श्व रखता है—एक वाम, द्वितीय दक्षिण। एक कोमल है, दूसरा भयंकर। प्रकृति के भी यही दोनों रूप हैं। प्रातःकाल की अरुणिमा और सान्ध्यकालीन लालिमा में उसका कोमल रूप प्रस्फुटित होता है; परन्तु रात्रि की तमोमयता एवं नीरवता और मध्याह्न काल की ताप-प्रखरता से उसके भयंकर रूप के दर्शन होते हैं। चन्द्र की शीतल ज्योत्स्ना तथा वासन्ती वैभव में प्रकृति की सुकुमारता, पर ग्रीष्म की प्रचण्ड लू एवं झंझावात में उसकी कठोरता प्रकट होती है। साधारण मानव को भी प्रकृति के ये दोनों रूप दिखलाई दे जाते हैं, फिर संवेदन-प्रवण कवियों का तो कहना ही क्या? काव्य-जगत् के सम्राट् सूर ने भी प्रकृति के इन दोनों रूपों का चित्रण किया है। प्रकृति का कोमल रूप नीचे लिखे पदों से प्रकट होता है—

नव वल्ली, सुन्दर नव तमाल। नव कमल महा नव नव रसाल।
(३४६७ ना० प्र० स०)

नव पल्लव बहु सुमन रंग। द्रुम वल्ली तनु भयो अनंग।
भँवरा भंवरी भ्रमत संग। जमुन करत नाना तरंग ॥
त्रिविध पवन मन हरष दैन। सदा बहत नहिं रहति चैन ॥
(३४६८ ना० प्र० स०)

गगन उठी घटा कारी तामें बग-पंगति अति न्यारी।
सुरधनु की छवि रुचिर देखियत बरन-बरन रँगधारी ॥

बीच-बीच दामिनि कौंधति है मानों चंचल नारी।
वन बरही चातक रटै द्रुम द्रुम प्रति प्रति सघन संचारी।।
(१८०६ ना० प्र० स०)

कल्पद्रुम तर छाँह सीतल, त्रिविध बहति समीर।
वर लता लटकहिं भार कुसमनि परसि जमुना नीर।।
हंस मोर चकोर चातक कोकिला अलि कीर।।
(३४५१ ना० प्र० स०)

अब प्रकृति के भयङ्कर रूप के चित्र देखिये। कोमल चित्रों में हमने वर्षा कालीन दृश्यों को भी स्थान दिया है। इसी वर्षा का भयकर रूप भी सूर के सम्मुख आया। कवि की दृष्टि सभी ओर जाती है, पर यह आवश्यक नहीं है कि वह सभी बातों का सांगोपांग वर्णन अपनी कविता में करे। जिन दृश्यों में उसकी रुचि अधिक रमती है, उन्हीं का वह सर्वाङ्ग चित्रण करता है। गोस्वामी तुलसी दास जी की दृष्टि बड़ी पैनी है। वह विविध विषयों में दूर-दूर तक और गहराई के साथ जाती है; पर सूर के विस्तृत एवं अगाध क्षेत्र के सम्मुख वे भी पीछे रह जाते हैं। वात्सल्य और श्रृङ्गार मे न वे इतनी दूर तक ही जा सके और न इतनी गहराई के साथ। सूर ने इनके अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों मे भी प्रवेश किया है, पर उन्हें इन दो के चित्रण से ही अवकाश नहीं मिला। अतः अन्य दिशाओं में उनके प्रवेश की गहराई और व्यापकता का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर भी उनकी दृष्टि गई सब दिशाओं में है। वर्षा के भयंकर रूप का चित्र खींचते हुए सूर लिखते हैं—

ऐसे बादर सजल, करत अति महाबल, चलत घहरात करि अंध काला।
चकित भये नंद, सब महर चकित भये चकित नर नारि हरि करत ख्याला।।
घटा घनघोर, घहरात, अरगात, दररात, सररात, ब्रज लोग डरपें।।
तड़ित आघात तररात, उतपात सुनि नर नारि सकुचित तनु प्राण अरपें।
(१४७३ ना० प्र० स०)
घलवर्त, वारिवर्त, पवनवर्त, वज्रवर्त, आगिवर्तक जलद संग लाये।
घहरात, तररात गररात, हहरात, झहरात, पररात, माथ नाये।।
(१४७१ ना० प्र० स०)

दावानल के वर्णन में भी प्रकृति का भयंकर रूप प्रकट हुआ है—
भहरात, झहरात दावानल आयो।
घेरि चहुँ ओर करि सोर अंदोर वन धरनि आकास चहुँ पास छायो।।

बरत बन बाँस, थरहरत कुसकाँस, जरि उड़त है बाँस अति प्रबल धायो।
झपटि झपटत लपट फूल फल चट चटकि फटत लटलटकि द्रुमद्रुमनि वायो ॥
अति अगिनि-झार, भंभार धुन्धार करि उचटि अङ्गार झंझार छायो।
बरत बन पात भहरात झहरात अररात तरु महा धरणी गिरायो ॥
(१२१४ ना० प्र० स०)

(४) *प्रकृति मानव क्रियाकलाप की पृष्ठभूमि*—इस विषय मे प्रकृति के दो रूप होते हैं। एक रूप मे वह मानव-क्रीड़ा के लिये परिस्थिति को सजाती है और दूसरे रूप में वह मानव-क्रीडा में भाग लेती है। दोनों रूपों में वह मानव की सहयोगिनी बनती है। प्रथम रूप को हम निष्क्रिय और द्वितीय रूप को सक्रिय कह सकते है। प्रथम रूप मे परिस्थिति का निर्माण करके प्रकृति चुप हो जाती है, मानव क्रियाकलाप में भाग नही लेती, परन्तु द्वितीय रूप में मानव-क्रीड़ा में उसका पर्याप्त भाग होता है। वह उसके सुख मे सुखी और दुःख में दुःखी दिखलाई देती है। द्वितीय रूप के साथ प्रकृति का वह रूप भी मानव के सामने आता है, जिसमे वह मानव की चिरपरिचित, अनन्तकाल से साथ रहने वाली चेतनमूर्ति बन जाती है। यह प्रायः वेदना-व्यथित हृदय की अनुभूति होती है। प्रकृति द्वारा पृष्ठभूमि का निर्माण नीचे लिखे पद से व्यञ्जित होता है—

आज निसि सोभित सरद सुहाई।
सीतल मंद सुगन्ध पवन बहै रोम रोम सुखदाई ॥
जमुना पुलिन पुनीत परम रुचि रचि मडली बनाई।
राधा वाम अङ्ग पर कर धरि मध्यहिं कुंवर कन्हाई ॥
(१७५६ ना० प्र० स०)

शरद् की पीयूषवर्षिणी पूर्णिमा! चन्द्रिकाधौत निर्मल आकाश! पृथ्वी के द्रुम, लता, कुंज सब रजतधारा मे डूबे हुए! यमुना का पावन पुलिन! रोम रोम को पुलकित कर देने वाला शीतल, मन्द, सुगन्धित पवन! प्रकृति की इसी प्रसन्न परिस्थिति में मोहन की मंडलीं रास खेलने जा रही है! रासलीला के लिए कितनी सुन्दर पृष्ठभूमि तैयार हुई है!

नीचे के पद में प्रकृति मानव के साथ क्रीड़ा करती हुई दिखाई गई है—

अद्भुत कौतुक देखि सखी री, श्री वृन्दावन नभ होड परी री।
उत घन उदित सहित सौदामिनि, इतही मुदित राधिका हरी री ॥
उत बगपाँति इतै स्वाति-सुत-दाम सोहै बिसाल सुदेस खरी री।
हाँ घन गर्ज, इहाँ ध्वनि मुरली, जलधर उत इत अमृत भरी री ॥
उतहि इन्द्रधनु, इत बनमाला अति विचित्र हरिकंठ धरी री ॥६७॥
(१८०७ ना० प्र० स०)

इस पद में प्रकृति मानव से प्रतिस्पर्धा सा कर रही है। किसी भी बात में वह मानव से घट कर नहीं रहना चाहती। निम्नांकित पद में मानव-क्रिया-कलाप का कितना अद्भुत प्रभाव प्रकृति पर पड़ रहा है—

विहरत कुंजन कुंज विहारी।
पिक, सुक, विहग, पवन थकि थिर रह्यौ तान अलापत जब गिरिधारी॥
सरिता थकित, थकित द्रुम बेली, अधर धरत मुरली जब प्यारी।
रवि अरु ससि देखैं दोउ चोरिन, संका गहि तब बदन उज्यारी॥६५॥

(१८०५ ना० प्र० स०)

नीचे के पद मे गोपियाँ कृष्ण को ढूँढ़ती हुई वन की लताओं, फूलों, पादपों, पक्षियों और पशुओं से पूछती है—

कहि धौं री वनवेलि कहू तुम देखे हैं नँदनंदन।
बूझहूँ धौं मालती कहू तैं पाये हैं तनु चन्दन॥
कहि धौं कुन्द, कदम, बाकुल, वट, चंपकलता तमाल।
कहि धौं कमल कहाँ कमलापति, सुन्दर नयन बिसाल॥
मुरली अधर सुधा रस लै तरु रहे जमुन के तीर।
कह तुलसी तुम सब जानति हौ, कहँ घनस्याम सरीर॥
कहि धौं मृगी मया करि हमसों, कहि धौं मधुप मराल।
सूरदास प्रभु के तुम संगी हैं कहाँ परम दयाल॥८॥

(१७०६ ना० प्र० स०)

धन्य है मानव की यह दशा जिसमें जड़-चेतन सभी पदार्थ अपने सगे-सम्बन्धी मालूम पड़ने लगते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने भी रामचरितमानस में राम-विरह के अन्तर्गत इस शैली का प्रयोग किया है:—"हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम देखी सीता मृगनयनी॥" जायसी की नागमती भी ऐसे अवसर पर पक्षी से वार्तालाप करती है:—

"चारिहु चक्र उजार भये, कोइ न सदेसा टेक।
कहहुँ विरह दुख आपन, बैठि सुनहु दण्ड एक॥"

(५) अलंकारों के रूप में प्रकृति का चित्रण—अलंकारों के रूप में प्रकृति का प्रयोग सूरसागर मे अनेक स्थलों पर हुआ है। सूर ने प्रायः उपमा रूपक, उत्प्रेक्षा और रूपकातिशयोक्ति अलंकारों द्वारा ही वस्तु एवं भाव का वर्णन किया है और ये सभी अलंकार प्रकृति के चुने हुये, प्रभावोत्पादक एवं रमणीय दृश्यों से लिए गये हैं। अतः अप्रत्यक्ष रूप से इन अलंकारों द्वारा प्राकृतिक

दृश्यों की छटा भी चित्रित हो गई है। नीचे लिखे उद्धरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

उड़ीयै उडी फिरति नैननि संग फर फूटे ज्यों आक रुई।

(२४७३ ना० प्र० स०)

जैसे अकाबेड़ी के खिलने तथा फूट जाने पर उसकी रुई चारों ओर उडी-उड़ी फिरती है, इसी प्रकार गोपी के नेत्र कृष्ण दर्शन की अभिलाषा लिए चारों ओर घूम रहे हैं। अथवा कृष्ण-दर्शन की मुई—निगोड़ी—अभिलाषा नेत्रों के साथ-साथ उडी-उड़ी फिरती है।

मनों प्रात की घटा साँवरी तापर अरुण प्रकास।
ज्यों दामिनि बिच चमकि रहति है फहरत पीत सुवास ॥

(२४५० ना० प्र० स०)

यहाँ कृष्ण के रूप-वर्णन के बहाने बादल और विद्युत का दृश्य सम्मुख आ जाता है।

चितवनि रोके हू न रही।
स्याम सुन्दर सिन्धु सन्मुख सरित उमंगि बही ॥
लोल लहर कटाच्छ घूँघट पट करार ढही।
थके पल पथि नाव धीरज परति नाहिं गही ॥

(२३८१ ना० प्र० स०)

इस पद में रूपक अलङ्कार द्वारा दृष्टि के बहाने सरिता का सम्पूर्ण दृश्य उपस्थित हो गया है।

कुटिल केस सुदेस अलिगन, बदन सरद सरोज।
दसन की दुति तडित नवससि भ्रकुटि मदन विलास ॥

(२४४० ना० प्र० स०)

मनिमय जटित लोल कुंडल की आभा झलकति गंड।
मनहुँ कमल ऊपर दिनकर की पसरी किरनि प्रचंड ॥

(२४३६ ना० प्र० स०)

इस प्रकार की पंक्तियाँ सूरसागर में प्रचुरता से पाई जाती हैं। 'अद्भुत एक अनूपम बाग' शीर्षक पद में रूपकातिशयोक्ति द्वारा राधा के शरीर में विपिन के समस्त दृश्य लाकर इकट्ठे कर दिये हैं। 'देखियत कालिन्दी अति कारी' शीर्षक पद में भी गोपियों के विरह के बहाने यमुना से सम्बन्धित सभी वस्तुयें प्रकट हो गई हैं। इसी प्रकार पृष्ठ २०४ पर पद-संख्या ४६ (२६६७ ना० प्र० स०) में विरह और वन का रूपक बाँधा गया है जिनमें वनस्थली के दृश्यों का चित्रण है। इस शैली द्वारा प्रकृति के नाना रूप सूरसागर में चित्रित किये गये हैं।

सूर की बहुज्ञता

सूरदास संगीत शास्त्र में निष्णात थे। जैसा हम पूर्व ही लिख चुके हैं, ऐसा कोई भी राग और रागिनी नहीं है जो सूरसागर में उपलब्ध न हो। अनेक रागिनी ऐसी भी है जिनका स्वर बाँधना तक राग-रसिकों को नहीं आता। कहते है ऐसे राग सूर की स्वतः सृष्टि हैं। सूरसागर के रासलीला सम्बन्धी कतिपय पदों के अन्तर्गत तथा सारावली की निम्नलिखित पंक्तियों में सूर ने राग और रागिनियों के नाम लिखे हैं—

ललिता ललित बजाय रिझावत मधुर बीन कर लीने।
जान प्रभात राग पंचम पट मालकोस रस भीने॥ १०१२॥
सुर हिंडोल मेघ मालव पुनि सारंग सुर नट जान।
सुर सावन्त भूपाली ईमन करत कान्हरो गान॥ १०१३॥
ऊँछ अडाने के सुर सुनियत निपट नायकी लीन।
करत विहार मधुर केदारो सकल सुरन सुख दीन॥ १०१४॥
सोरठ गौड मलार सोहावन भैरव ललित बजायो।
मधुर विभास सुनत बेलावल दम्पति अति सुख पायो॥ १०१५॥
देवगिरी देशाक देव पुनि गौरी श्री सुखरास।
जैतश्री और पूर्वी टोडी आसावरि सुख-रास॥ १०१६॥
राम कली गुनकली केतकी सुर सुघराई गाये।
जै जैवन्ती जगत मोहनी सुर सों बीन बजाये॥ १०१७॥

यहाँ सोरठ, मलार, केदारो, जैतश्री आदि अनेक राग और रागिनियों के नाम आये हैं जिन्हें संगीत शास्त्र का विशेषज्ञ ही समझ और समझा सकता है। नीचे लिखे पद मे संगीत के स्वर और ताल आदि का वर्णन है—

नँदनन्दन सुघराई मोहन बंसी बजाई।
स रि ग मा प ध नि सा में सप्त सुरनि गाई॥
अतीत अनागत सङ्गीत बिच तान मिलाई।
सुर ताल२६ नृत्य ध्याइ पुनि मृदंग बजाई॥ पृष्ठ ३५२॥
(१७६६ ना० प्र० स०)

स्वर सात हैं—षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद। इन्हीं के संक्षिप्त रूप 'स रि ग म प ध नि' हैं। ताल समय का समान विभाग है। नृत्य के दो भेद हैं,—ताण्डव और लास्य। उग्र एवं ओजमय नृत्य को ताण्डव तथा मधुर एवं सरस नृत्य को लास्य कहते हैं। स्वरों में षड्ज मयूर की बोली के समान, ऋषभ गाय की, गांधार अजा की, मध्यम क्रौंच की, धैवत कोकिल की, पंचम अश्व की तथा निषाद गज की बोली के समान है। निषाद सबसे ऊँचा स्वर है। पंचम स्वर को उत्तम समझा जाता है। सूर ने निम्नांकित पदानुसार ६ राग और ३६ रागिनियाँ मानी हैं—

मुरली हरि को भावै री।
छहों राग छत्तीसो रागिनि इक इक नीकैं गावै री॥
(१८५६ ना० प्र० स०)

नीचे के पद में सूर ने वाद्यों के नाम लिखे हैं—
उघटत स्याम नृत्यत नारि।
धरें अधर उपंग उपजै लेत हैं गिरिधारि॥
ताल, मुरज, रबाब, वीना, किन्नरी रस सार।
शब्द संग मृदंग मिलवत सुघर नन्द कुमार॥ पृष्ठ ३४६
(१६७७ ना० प्र० स०)

सङ्गीत शास्त्र के अतिरिक्त शृङ्गार का प्रेमी सूर आभूषणों के नामों से भी पूर्णतया परिचित था। वह जानता था किस अंग पर कौन सा आभूषण शोभा देता है। सूरसागर के पृष्ठ २३६ और २४४ पर क्रमशः पद-संख्या ४२ (१६६१ ना० प्र० स०) और २० मे सूर ने आभूषणों का वर्णन किया है। एक पद नीचे दिया जाता है—

एक हार मोहि कहा देखावति
नखसिख ते अंग-अंग निहारहु ए सब कतहि दुरावति॥
मोतिनमाल जराइ को टीको कर्णफूल नकवेसरि।
कण्ठसिरी दुलरी तिलरी को और हाट एक नवसरि॥
सुभग हमेल कनक अंगिया नग नगन जरित की चौकी।
बाहु टाड़ कर कंकन बाजूबंद येते पर तौकी॥
छुद्र घंटिका पग नूपुर जेहरि बिछिया सब लेखौ।
सहज अंग सोभा सब न्यारी कहत सूर ये देखौ॥
(२१५८ ना० प्र० स०)

यहाँ मोतीमाला, कण्ठश्री, कर्णफूल, तिलक, हमेल, कर्धनी आदि कई आभूषणों के नाम गिना दिये गये हैं !

सूरसागर में व्यंजनों के नाम भी कई स्थानों पर आये हैं। श्रीनाथ के मन्दिर मे भगवान को भोग लगाने के लिये अनेक प्रकार के व्यंजन बनते होंगे। सूर इस मन्दिर मे कीर्तन के अध्यक्ष थे। इसी हेतु इन व्यंजनों का वर्णन उनकी रचनाओं मे पाया जाता है, नीचे लिखे पद मे भोजनों की विविधरूपता का दृश्य देखिये—

भोजन भयो भावते मोहन। तातोइ जेंइ जाहु गोदोहन॥
खीर खांड खीचरी संवारी। मधुर महेरि सो गोपन प्यारी॥
राइ भोग लियो भात पसाई। मूंग ढरहरी हींग लगाई॥
सद माखन तुलसी दै तायो। घिरत सुवास कचोरा बनायो॥
पापर वरी अचार परम शुचि। अदरख अरु निवुअनि ह्वै है रुचि॥
सूरन करि तरि सरस तोरई। सेमि सींगरी छौंकि झोरई॥
भरता भँटा खटाई दीन्ही। भाजी भली भाँति दस कीन्ही॥
साग चना सँग सब चौराई। सोवा अरु सरसों सरसाई॥
वथुआ भली भाँति रचि रांध्यौ। हींग लगाइ राइ दधि सांध्यौ॥
पोई परवर फांग फरी चुनि। टेंटी टेंट सुछोलि कियो पुनि॥
कुंदुरू और ककोरा कौरे। कचरी चार चँचेंडा सौरे॥
वने वनाइ करेला कीने। लोन लगाइ तुरत तलि लीने॥
फूले फूल सहीजन छौंके। मन रुचि होइ नाजु के औंके॥

पृष्ठ ४२१, पद २१ (१८३१ ना० प्र० स०)

इसके पश्चात् करील के फूल, पाकर की कली, अगस्त्य की फली, इमली, पेठा, खीरा, रामतरोई, रतालू, ककरी, कचनार, केला, करौंदा, वरी, बरा पकौड़ी, रायता, वेसन, कढ़ी, वेसन और अजवाइन मिली रोटी, पूड़ी, कचौड़ी, सुहार, लपसी, मालपुआ, लड्डू, सेव, घेवर, गोझा, मेवा, जलेवी, दही, मलाई, सिखरन, धुमारा हुआ मट्ठा आदि अनेक व्यंजनों का वर्णन किया है। ऐसा ही वर्णन जायसी की पद्मावत में भी पाया जाता है। उसमें एक अध्याय तो मांस के वने हुये भोजनों के वर्णन से ही पूरा हो जाता है। इस प्रकार के वर्णन से या तो कवि की रुचि पर प्रकाश पड़ता है या उन दिनों की काव्य-पद्धति पर। बाद में केशव ने इसी पद्धति पर वृक्षों के नाम गिनाये हैं और सूदन ने अस्त्र-शस्त्रों की एक लम्बी सूची लिख डाली है। काव्य की भाव-

मधुरिमा पर इसका प्रभाव विकृत रूप में ही पड़ता है। कवि की बहुज्ञता इससे भले ही प्रकट हो, पर उसकी कवित्व शक्ति का इससे कुछ भी पता नहीं चलता।

नीचे के पद में सूर ने गिनती भी गिना दी है—

नंदनन्दन दरसन जब पैहौं।
एक द्वै तीन तजि चारि बानी पाँच छह निदरि तबहिं सातें भुलइहौ।
आठ हूँ गाँठि परिहै नवहुँ दस दिसा भूलि हौ ग्यारहों रुद्र जैसे।
बारहों कला ते तपनि तपते मिटत तेरहों रतन मुख छविन तैसे॥
निपुनि चौदहों बरन पन्द्रहौ सुभग अति बरस षोडस सतरहों न रैहै।
जपत अठारहों भेद उनईस नहि-बीसहू बिसौ तें सुखहिं पैहै॥ ७८॥

पृष्ठ २६७ (२३५७ ना० प्र० स०)

इस पद में कृष्ण-दर्शन से सम्बन्धित एक अर्थ भी है और मुद्रा अलंकार के द्वारा गिनती भी गिना दी गई है। सूरसागर के और भी कई पदों में इस पद्धति का अनुसरण मिलता है। कभी-कभी एक शब्द को पकड़ कर ही सूर अनेक वस्तुओं के नामों का उल्लेख करने लगते हैं। पृष्ठ २७६, पद-सं० १३ में "वारि" (न्यौछावरि करना) शब्द को लेकर चन्द्र, कमल, रम्भा, सिंह, मराल, बलाहक, नाग आदि कई नामों का वर्णन हुआ है, जो सादृश्य के आधार पर कृष्ण के अंगो का सौंदर्य प्रकट करते हैं।

वाणिज्य-सम्बन्धी बातों का वर्णन सूरसागर में कई स्थानों पर मिलता है। भ्रमरगीत के अन्तर्गत "जोग ठगोरी ब्रज न विकैहै" "आयौ घोष बड़ौ व्योपारी" 'मूली के पातन के कवेना को मुक्ता-फल देहै'' आदि पद इस सम्बन्ध में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। दानलीला के प्रसंग में वाणिज्य की वस्तुओं का वर्णन करने वाले कई पद है। "कवन वनिज कहि मोहि सुनावत" शीर्षक पद ऐसा ही है। नीचे लिखे पद में सूर ने विक्रेय वस्तुओं की पूरी सूची ही दे दी है—

कहौ कान्ह कह गथ लै हम सों।
जा कारण युवती सब अटकी सो बूझत हैं तुम सों॥
लौंग, नारियर, दाख, सुपारी कहा लादे हम आवे।
हींग, मिरच, पीपर, अजवाइन ये सब वनिज कहावे॥
कूट, काइफर, सौंठि, चिरैता, कटजीरा कहुँ देखत।
आल, मजीठ, लाख, सेंदुर कहुँ ऐसेहि बुधि अवरेखत॥
वाइ विरंग, बहेरा, हर्रें बेल, गोंद व्योपारी।
सूर स्याम लरिकाई भूलो जोवन भये मुरारी॥ ८॥

पृष्ठ २४३ (२१४६ ना० प्र० स०)

वास्तव में सूर का शब्दकोश अपरिमित है। उसे किसी भाव या वस्तु का चित्रण करने में शब्द ढूँढ़ने नहीं पड़ते। वे पहले से किसी कोने में चुपचाप बैठे हुये हैं और सधे हुये अनुचर की भाँति आवश्यकता पड़ने पर अपने स्वामी सूरदास के सामने स्वतः समुपस्थित हो जाते हैं। शब्दों का भांडार ही सूर की बहुज्ञता प्रकट कर रहा है। जो अनेक बातों का ज्ञाता नहीं है, उसके पास इतने शब्द हो ही नहीं सकते। ऊपर के पदों से तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति पर भी प्रकाश पड़ता है। नीचे लिखे पद में भक्ति और बाजार का रूपक बाँधा गया है, जिससे उन दिनों के समाज में प्रचलित दलाली का भी बोध होता है—

होउ मन राम नाम को ग्राहक।
चौरासी लख जिया जोनि में भटकत फिरत अनाहक॥
भक्ति हाट बैठि तू थिर ह्वै हरि नग निर्मल लेहि।
काम क्रोध मद लोभ मोह तू सकल दलाली देहि॥
× × × ×
और बनिज में नाहीं लाहा, होत मूल में हानि।
सूर स्याम को सौदा साँचो, कह्यो हमारो मानि॥(३१० ना० प्र० स०)

इसी प्रकार भ्रमरगीतसार पद-संख्या ३५६ में दरजी (सूचिकार,) सम्बन्धी बातों का वर्णन है।

सूरसागर और साहित्यलहरी की नीचे लिखी पंक्तियों से सूर का ज्योतिष-सम्बन्धी ज्ञान भी प्रकट होता है—

नूतन चन्द्र रेख मधि राजति, सुर गुरु सुक उदोत परस्पर॥
(७११ ना० प्र० स०)
सनि, गुरु-असुर, देव-गुरु मिलि मनु भौंम सहित समुदाई॥
× × × ×
(७२६ ना० प्र० स०)
मुनि सुन्न संवत पेख। नँदनन्दन मास, छैते हीन तृतीया बार।
नंद नन्दन जनम ते हैं बान सुख आगार॥
तृतीय रिच्छ सुकर्म जोग विचारि 'सूर' नवीन।
नंद नन्दन दास हित साहित्यलहरी कीन॥ साहित्यलहरी, १०६

इस पद का अर्थ पहले लिख चुके हैं। इस पद से साहित्यलहरी का निर्माण का काल ज्ञात होता है। साहित्यलहरी के पदों में ऐसे शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुये हैं, जिनका ज्योतिष से सम्बन्ध है।

पौराणिक ज्ञान तो सूरसागर में एक सिरे से दूसरे सिरे तक भरा पड़ा है। सूरसागर का मुख्य आधार ही पौराणिक उपाख्यान हैं। श्रीमद्भागवत, वामन

पुराण, पद्मपुराण आदि अनेक पुराणों से सूर ने अपनी कथा-सामग्री संचित की है।)

सूर को सामाजिक प्रथाओं का भी परिपूर्ण ज्ञान था। उन दिनों समाज मे प्रचलित रीति-रिवाजों का सूरसागर मे अनेक स्थलों पर वर्णन हुआ है। नीचे हम कुछ प्रथाओं का उल्लेख करते हैं—

पुत्र-जन्म—इस देश में पुत्र का जन्म पुण्य का परिणाम समझा गया है। जिसके पुत्र नहीं है, उसका प्रातःकाल मुख देखना अशुभकर माना जाता है। पुत्र का मुख देखने के लिये प्राणी तरसा करते हैं। कृष्ण का जन्म हुआ है। तभी तो यशोदा कहती हैं—

आवहु कन्त देव परसन भये, पुत्र भयो मुख देखो धाई।
दौरि नन्द गये सुत मुख देखौ सो सोभा सुख वरणि न जाई॥

कृष्ण के जन्म के समय स्त्रियाँ बधावा लेकर जा रही हैं—

कोउ भूषण पहिर्यौ, कोउ पहिरति, कोउ वैसेहि उठि धाई।
कंचन थार दूब दधि रोचन गावत चली बधाई॥

इस अवसर पर सूर ने बाजों का बजना, बन्दनवार बाँधना, हल्दी दही मिलाकर छिड़कना, वेद-ध्वनि का होना, ग्रह-लग्न-नक्षत्र आदि का विचार करके मुहूर्त शोधना, विप्रों को चन्दन का तिलक करना, नान्दीमुख, पितृ-पूजा, गुरु और ब्राह्मणों को वस्त्र पहनाना, गोकुल निवासियों का भेंट लेकर नन्द के द्वार पर आना, द्वार पर सांथिये (स्वस्तिका) बना कर सात सींकें चिपकाना, व्रज-वधुओं का अक्षत, रोरी, दूब तथा फलों से भरे हुये थाल लेकर पुत्र-दर्शन के लिये आना, उत्सव का होना, विप्र-मागध-सूत आदि का आशीर्वाद देना* इत्यादि अनेक बातों का वर्णन किया है। सूर के समय मे ढाढी नाम की कोई जाति थी, जिसका काम नाचना और गाना था। सूर ने इसे मागध× और सूतों† के समकक्ष लिखा है। ढाढी‡ और ढाढ़िन का नाचना, दान लेने के लिये झगड़ना, यशोदा-नन्द द्वारा उनकी पहिरावनी कराना तथा हार-कङ्कण और मोतियों से भरे थाल दान मे देना—सूरसागर के पृष्ठ १०४-१०५ पर २६वें छन्द से ३४वें छन्द तक वर्णित हैं। सारावली में भी इनका वर्णन छन्द संख्या ४०६ से ४१३ तक पाया जाता है। ये आजकल के गवैयों और कला-सूतों की भाँति समझ पड़ते हैं।

---

*सूरसागर पृष्ठ १०३ पद २४ (६४८ ना० प्र० स०)। ×मागध = विदूषक, वणिकपथी। पौराणिक मागध = वंश-शंसक, गयावाल पण्डे, मलिक †सूत = वैदिकसूत = कत्थक; पौराणिक सूत कथावाचक ‡ ढाढ़ी—मुसलमानों की एक जाति, गवैये।

छठी व्यवहार—छठी के समय मालिनि का वन्दनवार बाँधना, केले लगाना, सुनार का हीरा-जटित स्वर्णहार बनाकर लाना, नाइन का महावर लगना, दाई को लाख टका, झूमक और साड़ी देना, विश्वकर्मा बढ़ई का पालना बनाकर लाना, जाति-पाँति की पहिरावनी करके पुत्र के काजल लगाना, ऐपन से चित्र बनाना आदि प्रथाओं का वर्णन है।*

नामकरण—इस समय विप्र, चारण, वन्दीजनों का नन्दगृह आकर दूर्वा हल्दी बांधना तथा गर्ग का जन्मपत्र बनाकर लक्षणादि का निरूपण करना वर्णित हुआ है।†

अन्नप्राशन—कृष्ण के छह मास के होने में कुछ दिन रहने पर शुभ मुहूर्त में अन्नप्राशन करना, स्त्रियों का नन्द-यशोदा का नाम लेकर गाली गाना, स्वर्ण के थाल में खीर भरकर उसमें घृत और मधु का मिलाना तथा नन्द का कृष्ण को खिलाना, गोप-भोज आदि बातों का वर्णन है। ‡

वर्षगांठ—इस समय कृष्ण को उबटन लगाकर स्नान कराना, आँगन लीपना, चौक पुराना, वाद्य बजना, अक्षत दूब बाँधना, मंगलगान आदि का वर्णन है।§

कर्णछेदन—कंचन के दो दुरों (कर्ण के आभूषण) से कनछेदन कराने के समय सूर लिखते हैं—

कान्ह कुंवर को कनछेदनों है, हाथ सुहारी भेली गुर की।
विधि विहँसत, हरि हँसत हेरि हरि जसुमति के धुकधुकी उरकी ॥*

(७६८ ना० प्र० स०)

यशोदा के हृदय में धुकधुकी हो रही है। माता का हृदय सूर ने बड़े निकट से देखा है। इस वर्णन से उस समय के बालकों के वस्त्र, आभूषण आदि कैसे होते थे, इस बात का भी परिचय हो जाता है। कृष्ण का पीत झंगुली, शिर पर कुलही, मणि-जटित व्याघ्रनख की कठश्री, किंकिणी आदि का धारण करना लिखा है।

यज्ञोपवीत—सूरसागर के पृष्ठ ४७३ पर २६ वे पद मे यज्ञोपवीत का वर्णन है, जिसम षट्रस ज्योनार होती है और गर्ग ऋषि कृष्ण को गायत्री मन्त्र का उपदेश देते हैं। ब्राह्मणों को विधिपूर्वक अलंकृत गायें दी जाती हैं और यशोदा प्रसन्न होकर न्यौछावर करती है।

---

*—पृष्ठ १०५ पद ३५। †—पृष्ठ ११ पद ७६

‡पृष्ठ १११ पद ८०। §पृष्ठ-११२ पद ८८। *—पृष्ठ ११३ पद ८७

पूजा—सूर के समय में गौरी-पूजा, शिव-पूजा, सूर्य-पूजा, व्रत रखना यमुना-स्नान आदि का प्रचार था। ×इनका वर्णन सूरसागर में राधा और गोपियों के सम्बन्ध मे हुआ है। बलराम की तीर्थयात्रा का भी वर्णन है।

शकुन—शकुन मनाना भी उन दिनों प्रचलित था। पृष्ठ ४५५ पर ८२-८३ संख्यक पदों में दाहिनी ओर मृग-माला को जाते हुये देखना अच्छा माना गया है। कौए के उड़ने से शकुन जानने का वर्णन भ्रमरगीत के अंतर्गत है।

पर्व—गोवर्धन की पूजा के पश्चात् दीपमालिका का वर्णन है। फाग खेलने, वसन्तोत्सव मनाने और होली का वर्णन सारावली और सूरसागर दोनों में पाया जाता है। आश्विन की पीयूषवर्षिणी पूर्णिमा के दिन रासलीला हुई, जो सूर जीवन का पाथेय थी। सूर ने रासलीला का हृदयग्राही वर्णन किया है।

विवाह—यद्यपि सूर ने राधा और कृष्ण का गांधर्व विवाह कराया है, पर उसमें वे सब बातें वर्णित हैं जो विवाह के अवसर पर सूर के समय में प्रचलित थीं। यथा—

मौर-धारण करना—मोर मुकुट रचि मौर बनायौ,
माथे पर धरि हरि वरु आयौ ॥*
निमन्त्रण—गोपी जन सब नेवते आईं।
मुरली ध्वनि ते पठइ बुलाईं ॥
मंडप और गान—बहु विधि आनन्द मगल गाये।
नव फूलन के मंडप छाये ॥
गीत और वेद मंत्रोच्चारण—गाये जु गीत पुनीत बहु।
विधि वेद रव सुन्दर, ध्वनी ॥
पाणिग्रहण और भाँवरि—तापरि पाणि ग्रहण विधि कीन्हीं।
तब मंडल भरि भाँवरि दीन्ही ॥
गालियाँ गाना—उत कोकिला-गण कर कोलाहल।
इत सकल व्रजनारियाँ ॥
आईं जु निवती दुहूँ दिशि मनो देति आनँद गारियाँ ॥
कंकण खोलना—नहिं छूटै मोहन डोरना हो।
बड़े हो बहुत अब छोरियो हो ए गोकुल के राइ।
की करजोरि करौ विनती, कै छुवौ श्रीराधाजी के पाँइ ॥

× × ×

×-पृष्ठ १९६ पद ५, ६, ७।
* पृष्ठ ३४८ पद ५८। (१९६० ना० प्र० स०)

बहुरि सिमिटि ब्रज सुन्दरी मिलि दीन्हीं गाँठि बनाइ।
छोरहु बेगि कि आनहु अपनी जसुमति माइ बुलाइ ॥
× × ×
किलकि उठीं सब सखी स्याम सौं अब तुम छोरौ सुकुमारि।
पचिहारी कैसेहु नाहिं छूटत बँधी प्रेम की डोरि।
दुलहिन छोरि दुलहे के कंकन को बोलि बबा वृषभानु ॥

इसके बाद फिर गालियों का वर्णन है—

कान्ह तुम्हारी माइ महाबल सब जग अपजस कीन्हों। इत्यादि

इसके बाद सूर ने लिखा है—

सनकादिक नारद मुनि शिव विरञ्चिजान।
देव दुंदभी मृदङ्ग बाजे वर निसान ॥
बारने तोरन बँधाये हरि कीन्हों उछाह।
ब्रज की सब रीति भई बरसाने व्याह ॥ ‡

इन प्रथाओं में से अनेक तो श्रीनाथ के मन्दिर में उत्सव-रूप में मनाई जाती होंगी। सूर कीर्तनकार थे। उन के बनाये पद इन उत्सवों में गाए जाते थे। अतः ऐसे अनेक पद जिनमें जन्मोत्सव, छठी, वर्षगाँठ आदि का वर्णन है, सूर ने विशेष अवसरों पर बनाए होंगे, पर इनसे उन दिनों की प्रचलित प्रथाओं पर भी प्रर्याप्त प्रकाश पड़ता है। सूरसागर में ब्रज की महिमा कई स्थानों पर वर्णित है। नीचे की पंक्तियों मे ब्रज की परिक्रमा से सूर ने शारीरिक पापों का नष्ट होना लिखा है—

श्री मुखबाणी कहत विलम्ब अब नेकु न लावहु।
ब्रज परिक्रमा करहुँ देह की पाप नसावहु ॥

(१११० ना० प्र० स०)

सूर ब्रजवासियों के चरित्र की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं—

कहाँ बसति हौ बावरी सुनहु न मुगध गँवारि।
ब्रजवासी कहा जानेही तामस की व्यवहारि ॥ ३४ सुष्ठ २५४

(२२१६ ना० प्र० स०)

अर्थात् ब्रजवासी तमोगुण से शून्य सात्विक व्यवहार करने वाले हैं। इससे प्रकट होता है कि ब्रज में सूर के समय के पूर्व से ही प्याज, लहसुन, मांस, मद्य आदि तमोगुणी पदार्थों का सेवन वर्जित रहा है। ब्रज में इन पदार्थों का सेवन करने वाले अब भी घृणा की दृष्टि से देखे जाते हैं।

‡ पृष्ठ ३४६, पद ६० (१६६२ ना० प्र० स०)

सूर काव्य की आध्यात्मिक विशेषता

राजनीति का कठोर प्रत्यक्षवाद कहता है,— "सामने देखो ।" इतिहास का मननशील अनुशीलन कहता है,—"पीछे देखो ।" जीवन के माप को ऊँचा करने वाला धर्म कहता है,—"ऊपर देखो ।" विज्ञान आगे-पीछे, दायें, बायें, सब ओर दृष्टि रखने की सम्मति देता है; पर उसे ऊपर देखना रुचिकर नहीं है । काव्य विज्ञान से इसी स्थल पर ऊँचा उठ जाता है, क्योंकि वह मानव को चतुर्दिक् दृष्टि डालने की आज्ञा देता हुआ उसे ऊपर देखने के लिये भी प्रेरित करता है ।

आगे-पीछे, दायें-बायें, सभी दिशायें एक सामान्य स्तर पर हैं, जिसे ऊपर की अपेक्षा नीचे कहा जा सकता है। नीचे और ऊपर—ये दो शब्द ऐसे हैं जिन्हें हम वैदिक प्रणाली मे द्यावा और पृथ्वी कह सकते हैं। कबीर के शब्दों में ये विश्वरूपी तूंबड़ी के दो सिरे हैं । नीचे का सिरा मर्त्यलोक है, जहाँ सभी मरणधर्मा प्राणी पार्थिवता में सने हुए असत् और विनश्वर जीवन व्यतीत किया करते है । यहाँ तमोगुण का आलस्य और रजोगुण के लोभ, मोह, काम, क्रोध आदि सभी भाव विद्यमान हैं । ऊपर का सिरा द्युलोक है, जहाँ सतोगुण का प्रकाश है । आर्यों की प्रार्थना में जो असत् से सत् की ओर जाने की कामना है, वह पार्थिवता से पृथक होकर इसी द्युलोक की ओर गमन करने की भावना लिये हुए है । सत् का सर्व प्रथम अभिव्यंजन रचना के अन्तर्गत द्युलोक में ही हुआ है । उसके पश्चात् उस पर रज और तम के परत चढ़ाये गये हैं और पृथ्वी लोक के रूप में उसका सघन एवं दृढ़ असत् रूप प्रकट हुआ है । पृथ्वी दृढ़ है, तो द्यौ उग्र है । एक में सघनता है, तो दूसरे में तरलता । एक में स्थूलता है, तो दूसरे मे सूक्ष्मता । स्थूलता एकदेशी है, तो तरलता व्यापिनी । इसीलिये द्यौ तो पृथ्वी मे भी ओतप्रोत है, परन्तु पृथ्वी द्यौ में व्याप्त नहीं हो सकती । मानव इसी हेतु पृथ्वी को छोड़कर द्यौ तक जाने की कामना किया करता है । कुछ ऐसे भी मनीषी है, जो द्यौ की परिव्याप्ति के कारण इस पृथ्वी को ही द्यौ में परिवर्तित कर देना चाहते हैं । इतना सत् का विधान है । आचार्य वल्लभ के शब्दों में सत् प्रभु की संधिनी शक्ति है ।

अब चित् की ओर आइये। आचार्य वल्लभ ने इसे प्रभु को संवित् शक्ति कहा है, जो कभी तो ज्ञान-विज्ञान के मूढ़ कोषों में जा पहुँचती है और कभी अपने स्वरूप मे अवस्थित होती है। व्यर्थ का वाग्विलास और तर्क के कषाघात इसे विमूढ बना देते हैं। इस अवस्था मे ज्ञान-विज्ञान की स्थिति आत्मस्वरूप के जानने मे भयंकर बाधायें उपस्थित करती है, मानव को विषमता में डालती है और परिणामतः अपने स्वरूप से अवगत नहीं होने देती। जब वह मिथ्या अहंता को छोड़कर श्रद्धालु बनी हुई अपने मे मग्न हो जाने का प्रयत्न करती है, तभी वह सवित् शक्ति कहलाती है। सवित् का अर्थ है सम्यक ज्ञान। इस अवस्था मे मानव तम से ज्योति की ओर चलता है। असत् से हटकर सत् की ओर जाना और तम से हटकर ज्योति तक पहुँचना कल्याण मार्ग के पथिक के लिये अनिवार्य है। इन दो सोपानों के पश्चात् अन्तिम गंतव्य स्थल अमृत रूप भगवान ही हैं, जो अपनी तृतीय ह्लादिनी शक्ति के रूप में प्रकट होते हैं। असत् ही तम है और तम ही मृत्यु है। इन तीनों का समष्टिगत नाम पृथ्वी है। सत् के ऊपर ज्योति है और ज्योति के ऊपर अमृत तत्व। इन तीनों का प्रतीक द्यौलोक है। पृथ्वी के हम मर्त्य इसीलिये द्यु लोक की ओर अपनी आँखें लगाये रहते हैं।

काव्य का आदर्श पृथ्वी से द्यौ, अधः से ऊर्ध्व तथा नीचे से ऊपर गमन करने में सन्निहित है। कवि हमें अपने चतुर्दिक् प्रसृत वातावरण से परिचित कराता है और कहता है—'यहीं विश्राम मत करो, तुम्हें ऊपर चलना है'। श्रुति भगवती के शब्दों में 'उद्यानं ते पुरुष नावयानम्।' हे पुरुष तुझे नीचे की ओर नहीं, ऊपर की ओर चलना है। नीचे तो सब चल ही रहे हैं। इसमे पुरुष का पुरुषत्व कुछ भी नहीं है। उसका पौरुष ऊर्ध्व गमन मे है। यहाँ रहते हुये भी यदि हम अपनी दृष्टि ऊपर रख सकें, तो निःसन्देह हमारा कल्याण होगा। जिसे हमने पार्थिवता का नाम दिया है, वही वस्तुतः यथार्थवाद है। काव्य इसी को आधार बनाकर आगे बढ़ता है और आदर्शवाद मे उसकी परिणति होती है। उसका अन्तिम लक्ष्य ह्लादन ही है, जो सर्वसान्य है। चाहे उसे ब्रह्मानन्द सहोदर का नाम दे दें और चाहे उसे शाश्वत आनन्द (Eternal bliss) कह कर पुकारें—बात एक ही है।

वर्सफोल्ड (Worsfold) ने साहित्यिक आलोचना (Literary criticism)' नाम के ग्रन्थ में ललित कलाओं का विवेचन करते हुये काव्यकला को जो सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है, उसके मूल में भी यही भाव विद्यमान है। अन्य कलाओं मे काव्यकला की अपेक्षा पार्थिव सामग्री की बहुलता होने से उच्च कोटि का कला-तत्व प्रकट नहीं हो पाता। उनमें

जितना मानसिक अंश है, उतनी ही उनके कला-तत्व को श्रेष्ठता है। उनको कला संज्ञा भी मानसिकता के अंश के कारण ही प्रदान की गई है। काव्य कला में भी पार्थिवता रहती है, परन्तु अतीव सूक्ष्म रूप में। यह उसका शब्द-सौंदर्य है। परन्तु शब्द-सौंदर्य कविता का चरम लक्ष्य नहीं है। यह उसका साधन है, साध्य नहीं। साध्य तो मानसिकता है, चिति है, आह्लाद है, जो काव्य के प्रत्येक प्रेमी पाठक को महाचिति और परमानन्द में मग्न कर देता है। जो कवि अपने पाठकों को चेतनता की इस उच्च भूमिका तक पहुँचा सकता है, वही वास्तव में श्रेष्ठ कवि है।

महात्मा सूरदास इसी कोटि के सर्वश्रेष्ठ कवि थे। उनकी रचनायें पाठकों को भावनाओं की मधुर लहरियों में झुलाती हैं, व्यंजना द्वारा चेतना के आलोक में पहुँचाती हैं और एक अद्भुत, अलौकिक आनन्द में मग्न कर देती हैं। इन रचनाओं का वाच्यार्थ भी अद्भुत है और व्यंग्यार्थ तो एकांततः अनुपम है ही। सूर के काव्य की विशेषता इसी बात में है कि उसने यथार्थ में आदर्श और आदर्श में यथार्थ की अभिव्यंजना की है। उसने पार्थिवता में ओतप्रोत द्यौलोक के दर्शन कराये हैं और द्यौ को पृथ्वी पर ही रमण करते हुए दिखलाया है। उसका अनन्त सांत बन गया है और परम अवम बन कर आविर्भूत हुआ है।

काव्य की कोटियों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि इन कोटियों के निर्धारण करने में विद्वानों ने अपनी रुचि-विशेष के अनुकूल प्रयत्न किया है। किसी को अलकारमयी रचना अच्छी लगी है, तो किसी को विविध शब्दावलि से विभूषित नाना छन्द-प्रस्तारमयी कृति ने आकर्षित किया है। किसी को वाच्यार्थ में समस्त अर्थों की प्रतीति हुई है, तो किसी को व्यंगमयी सूक्तियों में कवित्व के दर्शन हुए हैं। इन सब बातों के होते हुए भी रस को काव्य की आत्मा असंदिग्ध रूप से प्रायः सभी ने स्वीकार किया है।

कुंतक की वक्रोक्ति और अभिनव गुप्त का अभिव्यंजनावाद रस कोटि के निकट आ गये हैं। महात्मा सूरदास की रचना रसमयी है—इससे तो कोई भी सहृदय पाठक असहमत नहीं हैं। उनका सूरसागर वस्तुतः वात्सल्य और शृङ्गार रस का अगाध सागर है। एक ही क्षेत्र के विविध-रूप भावों की जो राशि सूर सागर में सन्निहित है, वह अन्यत्र ढूँढ़ने से ही मिलेगी। जैसा हम पीछे लिख चुके हैं, सूर का काव्य चिति केन्द्र की नाना भाव-लहरियों से ओतप्रोत है। आध्यात्मिक दृष्टि से उसका विशेष महत्व है।

सूर ने चिति ही नहीं, महाचिति तक को अपने पाठकों तक पहुँचाने का अभूतपूर्व कार्य किया है। यह महाचिति ऊर्ध्व गमन वाली है; साथ ही सर्वव्यापक

भी है। शुद्धाद्वैतवाद के अनुसार महाचिति निर्गुण से सगुण और निराकार से साकार हुआ करती है। साकार वस्तुयें भी उसी का अभिव्यंजन हैं। साकार वस्तुओं मे तस्थुष और जंगम दो भेद हैं। जंगम के अन्तर्गत वीरुध, लता, पादप आदि की गणना है। इनमे तेज का अंश है। जल निम्नगा प्रवृत्ति रखता है। परन्तु अग्नि तेजस् होने के कारण ऊपर जाती है और अपने बल से जल को भी ऊपर ले जाती है। इसी के अंशों को धारण करने से लता आदि ऊपर को फैलते और बढ़ते हैं। इनके साथ एक विशेष बात यह भी है कि ये प्रभु-आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर पाते। ये ऐसे देव हैं, जो उस महादेव की आज्ञा के वशवर्ती हैं। हम जैसे चेतनों की तरह अहंकारी बन कर अपने को ही कर्ता नही समझ लेते। भारतेन्दु के शब्दों में—'ब्रज के लता-पता मोहिं कीजै" जो सुख उद्धव को लताओं के पत्र बनने में अनुभूत हुआ, वह अपनी ज्ञान और चिंतन की कंदराओं में रमण करने से प्राप्त नहीं हुआ था। सूरसागर में देवांगनायें भी इसी प्रकार की अभिलाषा प्रकट करती हैं:—

वृन्दावन द्रुमलता हूजिये, करता सौं माँगिये चलौ।

(१६६४ ना० प्र० स०)

ब्रह्मा आदि भी वृन्दावन के तृण न होने पर कलप रहे हैं:—

ब्रह्मादिक सनकादि महामुनि कलपत दोउ कर जोर
वृन्दावन के तृण न भये हम लगत चरन कैं छोर।

(१०६५ ना० प्र० स०)

तृण ही नहीं, वृन्दावन की रेणु तक बनने के लिये ब्रह्मा प्रार्थना करते हैं:—

"माधव, मोहि करौ वृन्दावन रेनु।
जहँ चरननु डोलत नन्दनन्दन, दिन प्रति ब्रजवन चारत धेनु॥"

(११०७ ना० प्र० स०)

अहंकार-मूलक ज्ञान भी मानव को पतन की ओर ले जाता है, उसको ऊर्ध्वगति की ओर नहीं जाने देता और भगवान से परांमुख कर देता है। ऐसा ज्ञान किस काम का, जो अपने ह्रास का हेतु बने! सूर का काव्य तैजस अंश से मंडित है, उसके शब्द, विद्युत का-सा प्रभाव रखते हैं। सूरसागर के सभी अध्येता इस तथ्य से परिचित हैं। परन्तु वैद्युत अथवा तैजस तत्वों का परम स्रोत तो वह परम तत्व है, जो अपनी कृतियों में प्रकट होकर भी उन सबसे अलग है। आचार्य वल्लभ ने शुद्धाद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हुए भी चित् रूप जीवों को और मन की अभिव्यक्तियों को उससे भिन्न ही माना है। श्रीमद्भगवद्गीता

में भी जीव को ईश्वर का अंश मानकर उसे अविनाशी कह दिया है। आचार्य वल्लभ ने भी जीवों को अग्नि रूप प्रभु के स्फुलिंग मानकर "जीवाः भिन्नाः एव न संशयः" लिखा है। सूरसागर मे इनका वर्णन प्राचुर्य से हुआ है।

चिति जगत मे सबसे ऊर्ध्व स्थान पर महाचिति है। यही परम तत्व है। यही सौन्दर्य-भावना, विचार, शुभ, ज्योति आदि सबका स्रोत है। विश्व में अनेक सुन्दर दृश्य हैं और एक से एक बढ़कर हैं, परन्तु जहाँ सौंदर्य की पराकाष्ठा हो जाती है, सौन्दर्य जहाँ अपने अन्तिम सीमा-विन्दु का स्पर्श करने लगता है, वहीं महाचिति का अस्तित्व समझना चाहिये। महाचिति का सौन्दर्य एक वृक्ष है, तो अनेक स्थानों पर विविध पदार्थों मे अभिव्यक्त विश्व की सुषमा उसकी टहनियाँ, डालें और पत्ते। वेद के शब्दों मे—'त्वद् विश्वा सुभग सौभगानि, अग्ने वियन्ति वनिनो न वयाः।' ऋ० ६—१३—१

अयि सुन्दर ! सुन्दरता स्रोत।

तुमसे निकल निकल फैले हैं, वल, वैभव, गरिमा के गोत।

हे सुभग, परम सुन्दरता के स्रोत ! तुमसे निकल कर सौन्दर्य तथा सौभाग्य की धारायें इस विश्व में वैसे ही फैल रही हैं, जैसे वृक्ष की शाखायें।

विश्व का सौन्दर्य, प्राकृतिक दृश्यों की छटा, शारीरिक शोभा और श्री जिनमें मानव-मन आकर्षण का अनुभव करता है, सौन्दर्य के इसी स्रोत से आविर्भूत हुए हैं। परम प्रभु ही अभिरामता के ऐसे अक्षय कोष हैं, जहाँ से सौंदर्य की अनन्त धारायें फूट-फूट कर बह रही हैं। समस्त सुभग पदार्थ उन्हीके सौन्दर्य से सौन्दर्य-धनी बन रहे है। वेद प्रभु को 'राजा हि क भुवनानामभिश्रीः'—(ऋ० १-७-६-१) अखिल भुवनों की चतुर्दिक चमकती हुई शोभा कहता है।

शोभा के इस अनंत-सिंधु का वर्णन कौन कर सकता है ? सूर के शब्दों में—'सूर सिंधु की बूँद भई मिलि मति गति दृष्टि हमारी।' मानव-बुद्धि की गति ही कितनी, जो इस सौन्दर्य की व्याख्या कर सके ? सौन्दर्य की अनंत लहरों में पड़कर यह बुद्धि बूँद की तरह विलीन हो जाती है। एक बार जो उधर आकृष्ट हो गया, वह फिर इधर लौट कर नहीं देखता। ऋग्वेद का ऋषि कहता है—

न घा त्वद्रिक् अपवेति मे मनः त्वे इत् कामं पुरुहूत शिश्रिय।
राजेव दस्म निषदोऽधि बर्हिषि, अस्मिन्त्सुसोमेऽवपानमस्तु ते॥
—ऋ० ८-४३-२

हे पुरुहूत ! तुमको कितनों ने न जाने कितनी बार नहीं पुकारा। पर हे परम दर्शनीय ! जबसे मेरे मानस चक्षुओं ने तुम्हारी बाँकी छवि की झाँकी देखी

है, तब से वे वहीं अटक गये हैं। तुम्हारी ओर गया हुआ मेरा यह मन अब इधर लौटता ही नहीं है। अब तो इस मन की समस्त कामनायें आप ही में आश्रित हो गई हैं।

सूर ने भी अपने हरि के अनंत सौन्दर्य के दर्शन किये थे। इस अपार एवं अनुपम छवि का, अनाघ्रात सौरभ-तरंगों का, अतुल सौन्दर्य-राशि का वर्णन करते हुए वह थकता नहीं है। सौन्दर्य के एक से एक बढ़ कर चित्र वह खींचता चला जाता है। उसकी आँखें, सांसारिक दृष्टि से ही नहीं, तात्विक दृष्टि से भी हरि के हाथ बिक चुकी थीं। 'साहित्य-लहरी' के वंश-परिचायक पद में वह लिख चुका है—"और ना अब रूप देखौं देखि राधा स्याम।" इस युगल जोड़ी का, हरि और हरि की प्रकृति, शक्ति का दर्शन करके फिर वह क्या देखता? देखने को बचा ही क्या था? उसका मन उस छवि की निधि में आसक्त हो गया, जिसकी सुषमा निमिष-निमिष में, पल-पल में अभिनव रूप धारण करती रहती है, जिसमें बासीपन की बू तक व्याप्त नहीं हो सकती, जो निरंतर नवीन, सतत सद्य बना रहता है। सूर लिखते हैं—

स्याम सों काहे की पहिचानि।
निमिष-निमिष वह रूप न वह छवि रति कीजै जेहि जानि॥
इकटक रहत निरन्तर निसि दिन मन मति सों चित सानि।
एकौ पल सोभा की सीमा सकत न उर महँ आनि॥
समुझि न परै प्रगट ही निरखत आनन्द की निधि खानि।
सखि यह बिरह संजोग कि समरस, दुख-सुख लाभ कि हानि॥
मिटति न घृत ते होम-अगिनि-रुचि सूर सुलोचन बानि।
इत लोभी उत रूप-परम-निधि, कोउ न रहत मिति मानि॥
(२४७० ना० प्र० स०)

इस श्याम से कोई कैसे पहिचान करे? जिसकी छवि क्षण-क्षण में क्षण-दायिनी अभिनव आकृति ग्रहण करती है, उसकी किस छवि-आकृति को कोई अपना प्रेम समर्पित करे? मैं अपने चित्त को मन और मति से संयुक्त करके इस छवि को दिन-रात, लगातार, टक-टकी लगाकर देखता हूँ, पर उसके निरंतर नवल बनते रूपों में से एक पल की शोभा-सीमा को भी हृदयंगम नहीं कर पाता। आनन्द की यह निधि मेरे समक्ष प्रकट हो रही है, पर मैं इसे समझ ही नहीं पाता। एक क्षण में जो छवि सम्मुख आती है, वही अपने असीम और अनन्त स्वरूप में मेरी अन्तर्ग्राहिणी शक्ति के लिये ग्राह्य नहीं बन पाती, फिर दूसरे क्षण की छवि का क्या कहना? और मैं यदि प्रथम क्षण की छवि को भी ग्रहण करना चाहूँ, तो दूसरे क्षण की छवि सामने आकर खड़ी हो जाती है और जब तक मैं उसे पक-

छूने की चेष्टा करता हूँ, तब तक तीसरे क्षण की छवि आकर मुझे आकर्षित कर लेती है। एक क्षण की छवि से संयोग होता है, तो उसके पूर्व क्षण वाली छवि से वियोग। एक से लाभ होता है, तो दूसरी की हानि। एक आकर सुख देती है, तो दूसरी हाथ से निकल कर दुख का कारण बन जाती है। अरे, क्या यह छवि क्षण भर के लिये भी गृहीतव्य नहीं बनेगी ? हवन की अग्नि में जब तक घृत पड़ता रहता है, तब तक उस अग्नि की दीप्ति जैसे कम नहीं होती, वैसे ही इन नेत्रों का भी स्वभाव बन गया है। इधर ये रूप के लोभी नेत्र हैं, तो उधर रूप का वह अपार अर्णव।

वास्तव में महाचिति का यह महा सौंदर्य, अल्पज्ञ जीव की पहुँच से परे है। महाकवि जायसी के शब्दों में 'रहा धरति पै धरत न आवा'—यह सौंदर्य हमारे आगे, पीछे, दायें, बायें, नीचे, ऊपर, अन्दर, बाहर सर्वत्र है, फिर भी हम इसे ग्रहण नहीं कर पाते। कहाँ हम स्वल्प, और कहाँ वह भूमा !! भू = अस्तित्व की, मा = मिति !! जहाँ अस्तित्व की अन्तिम पराकाष्ठा है; जहाँ समस्त सत्तायें पहुँच कर विलीन हो जाती हैं; जिसका न ओर है न छोर; जो एक ही अस्तित्व है— अविनश्वर, शाश्वत, नित्य, विराट से भी विराट ! उसे अल्प-शक्ति जीव कैसे पकड़ सकता है ?

जिस धरातल पर हम सामान्य जन रहते हैं, वह उस धरातल की वस्तु ही नहीं है। इसी कारण महाप्रभु वल्लभाचार्य ने उसे सर्व-सुलभ बनाने के लिये पुष्टि मार्ग की स्थापना की थी। महाप्रभु के शिष्य कवि-कुल-तिलक, महात्मा सूरदास ने उन्हीं के अनुकरण पर उस परम पुरुष को अवम बना दिया, ऊपर से नीचे लाकर हम सब के पास बिठा दिया। तपः पूत वैदिक ऋषि भी इसी प्रकार की प्रार्थना में निरत होकर गाया करते थे—

> सत्वन्नोऽग्ने ऽवमो भवोती नेदिष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ।
> अवयक्ष्व नो वरुणं रराणो वीहि मृडीकं सुहवो न एधि ॥ऋ० ४-१-५

हे सर्व श्रेष्ठ परम प्रकाश स्वरूप प्रभो ! तुम कितने परम हो, कितने ऊँचे हो, कितने दूर हो—अवम होते हुये भी परम, नीचे होते हुये भी ऊँचे, निकट होते हुये भी दूर, तुम हमारे और हम तुम्हारे। (त्वम् अस्माक तव स्मसि। ऋ० ८—९२—३२) कितना घनिष्ठ सम्बन्ध ! फिर भी कितना अधिक पार्थक्य" देव ! पार्थक्य के इन पाशों को आज छिन्न-भिन्न कर दो ! वह देखो, ऊषा ऊपर से नीचे उतर आई है, हमारे आंगन में अरुण राग की वर्षा कर रही है, चराचर जगत को नव्य जीवन दान दे रही है। इस मंगल-वेला में क्या तुम हमारे हृदय की पुकार

न सुनोगे ? हम दुख-दग्धों के दर्द को दूर न करोगे ? प्रभो ? तुम तो मंगल-भवन हो, शम्भव और मयोभव हो, कल्याण के केन्द्र और सुख के स्रोत हो ! आओ, परम से अवम बन कर, दूर से निकट और निकट ही नहीं, निकटतम होकर हमारे आँगन में खेलो। तुम्हारे इस परम रूप तक हम धरित्री के मानवों की पहुँच कहाँ ? तुम भी हमारी धरित्री के धरातल पर आ जाओ और यहीं रराण (रममाण), रमण करते हुये, अपनी लीला और विनोद-क्रीड़ा से हमें सुखी बना दो।

वैदिक ऋषि की यही प्रार्थना हरिलीला के गायन—'सूरसागर' में चरितार्थ हो रही है। सूर का कन्हैया परब्रह्म होकर भी, अपना समस्त सौंदर्य-सम्भार लिये सूर के मानस में अवतरित हुआ है।

महाचिति के परम सौंदर्य का वर्णन करते हुए सूर लिखते हैं:—

सोभा सिन्धु न अंत लहीरी।
नन्द भवन भरि पूरि उमँगि चलि ब्रज की वीथिनु फिरति बहीरी॥
(६४७ ना० प्र० स०)

वह महाचिति, वह परम तत्व आज एक विग्रह में अवतरित हुआ है। अपार है इसकी छवि ! शोभा का जैसे अनंत समुद्र ही ठाठें मार रहा हो, जिसका न कहीं ओर है और न कहीं छोर। इस शोभा से नन्द का समस्त भवन ओत-प्रोत हो रहा है। पर क्या नन्द के भवन की ससीमता इस असीम सौंदर्य को अपनी सीमा में बाँध लेगी ? नहीं; यह सौंदर्य उस भवन की सीमा का अतिक्रमण करके उमंगों से भरा हुआ ब्रज की गली-गली में लहरें मारने लगा। और क्या वहाँ भी यह समा पाया ? नहीं, वहाँ से भी हटकर देखो, यह सर्वत्र प्रवहमान रूप में दृष्टिगोचर हो रहा है *। यही तो है उसकी विग्रह रूप में भी विभुता।

सूर ने जिस हरि लीला का गायन किया, वह सौंदर्य से संयुक्त तथा माधुर्य-भाव से मण्डित है। इस सौंदर्य एवं माधुर्य के अनुभव के लिये भक्त उतावला हो उठता है। जैसे गोपियाँ और गोप प्रातःकाल होते ही अपने कन्हैया के दर्शन के लिये नन्द के द्वार पर पहुँच जाते और अत्यन्त उत्सुक होकर सोते हुये कृष्ण को जगा देना चाहते हैं, वैसे ही एक वैदिक ऋषि अपने प्रभु को जगाने का गीत गा रहा है:—

---

* महाकवि देव ने इसी भाव के आधार पर आगे चलकर लिखा:—
"पारावार पूरन अपार पर ब्रह्मरासि जसुदा के कोरे इक बार ही कुरै परी।"

अग्निं मन्द्रं पुरुप्रियं शीरं पावक शोचिषम् ।
हृद्भि मन्द्रेभि रीमहे । ऋ० ८-४३-३१

हे अनंत प्राणियों के प्यारे, पवित्र ज्योति वाले, हमारे अज्ञान की अपेक्षा से सुप्तरूप में भासित, परमानन्द-पूर्ण परमेश्वर ! कृपा करो । आज हम आह्लादित हृदय लिये आपके दर्शन की कामना से आपके द्वार पर खड़े हैं । जगो, जगकर दर्शन दो, अपने मनोमोहक, अभिराम, प्रदीप्त मुख मण्डल को दिखा कर हम सब की आँखों को तृप्त करो ।

प्रभु वास्तव में एक का नहीं, अनेकों का प्यारा है । वह पुरु प्रिय है । कितनी गोपियाँ और कितने गोप कृष्ण से प्रेम करते थे । कितने भक्त, कितने साधक उस एक से ही लौ लगाये रहते हैं । वह सब का प्यारा है ।

सौंदर्य और आनन्दरूपता अद्भुत आकर्षण रखते है । कृष्ण का सौंदर्य और मानसिक वैभव विचित्र था, अपार था । वे परम तेजस्वी और अद्भुत कान्ति-सम्पन्न थे । उनकी दीप्ति, कान्ति एव सौंदर्य-आभा से आकृष्ट होकर गोपी-गोप उन्हें टकटकी लगाकर देखते ही रहते थे । इस दर्शन मे एक अद्भुत आनन्द था । प्रभु आनन्द रूप हैं । भक्त जहाँ उनके सोंदर्य से आकृष्ट होता है, वहाँ उनके परमानन्दमय रूप को प्राप्त भी करना चाहता है । सूर ने तभी तो गोपियों के मुख से कहलाया है—

कोउ कहति केहि भाँति हरि को देखौं अपने धाम ।
हेरि माखन देउँ आछो खाइ जितनो स्याम ॥
कोउ कहति मैं देखि पाऊँ भरि धरौं अकवारि ।
कोउ कहति मैं बाँधि राखौं, को सकै निरुवारि ॥(८६१ ना०प्र०स०)

सभी गोपियों की आकांक्षा है कि सुन्दर और आनन्दी कृष्ण उन्हीं के पास रहे, उन्हीं को प्राप्त हों । पर वह प्राप्त हो कैसे ? वस्तुतः प्राप्त तो वह सबको है, पर उसकी प्राप्ति का अनुभव हम सब नहीं कर पाते । जो वस्तु निकटतम है, उसकी अनुभूति तो तभी हो सकती है, जब हम भी उसके निकट हों । हमारी दिनचर्या हमें अन्यों के निकट तो ले जाती है, पर प्रभु के समीप नहीं जाने देती । इन्द्रियों के बाहर की ओर खुले रहने के कारण हम जाग्रत एवं स्वप्न दोनों ही अवस्थाओं में दूर दूर देशों की दौड़ लगाया करते हैं, पर अपने स्वरूप मे, निकटतम स्थिति में, अवस्थित नहीं हो पाते । मन्दिरों में भक्त घण्टे घड़ियाल बजाकर प्रभु को सोने से जगाते हैं, पर सो वह नहीं रहा, सो तो हम रहे हैं । दूर वह नहीं, हमीं उससे दूर भाग रहे हैं । जिस दिन हमारा जागरण होगा, जिस पवित्र मुहूर्त में हम आत्म-प्रबोध प्राप्त करेंगे, उसी क्षण हम अपने प्रभु के निकट पहुँच जायेंगे । अतः

अध्यात्म क्षेत्र में प्रभु का जागरण भक्त का ही अज्ञान और अविवेक से जाग्रत होना है।

जागरण की वेला में भक्त अनुभव करता है कि उसके पास जो सामग्री है, जो संपत्ति है, जो देह-प्राण-मन आदि है. वे सब उसी प्रभु के दिये हुए हैं। मैं इन्हें अपना समझकर कहाँ-कहाँ व्यर्थ मे भटकता फिरा। भटकता ही नहीं फिरा. प्रभु की दी हुई सम्पत्ति को विकृत एवं दूषित भी करता रहा। जैसे-जैसे प्रबोध होता गया, वैसे ही वैसे शुद्ध अवस्था आती गई। सम्पत्ति जब दी गई थी, तबतो वह शुद्ध थी ही, अब जागरण की वेला मे भी वह शुद्ध है। भक्त को इससे बढकर और अच्छा अवसर ही कब मिलेगा? यही तो समर्पण का समय है, चुंदरी को ज्यों का त्यों रख देने का क्षण है। भक्त इसीलिए 'हृद्भिः मन्द्रेभिः' आनन्दमग्न अनुभूतियों के साथ 'सत्य शुष्माय तवसे मति भरे' उस सत्य शुष्म को, महती तात्विक शक्ति को, शरीर से लेकर बुद्धि तक का निखिल वैभव अर्पित कर देता है। इस अर्पण मे कितना आनन्द है! 'गोपियाँ प्रेम की ध्वजा'— प्रेमा भक्ति मे 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'—गोपियाँ कृष्ण के परम आकर्षण-कारी आनन्द को प्राप्त करने के लिये, उसे अपना समस्त 'माखन' खिला देने के लिए प्रस्तुत है। अत्यन्त मन्थन करने के पश्चात् यह शुद्ध सतोगुण का 'माखन' निकाला गया है। प्रभु के अतिरिक्त अन्य कोई इसके उपभोग करने का अधिकारी भी नही है।

गोपियाँ जो अपना सर्वस्व कृष्ण पर न्यौछावर कर देना चाहती हैं, उसके मूल मे पुष्टिमार्ग का एक सिद्धांत भी है। आचार्य हरिराय वाङ्मुक्तावली में पुष्टिमार्ग की व्याख्या करते हुये लिखते हैं—

समस्त विषय त्यागः सर्वभावेन यत्र हि।
समर्पणं च देहादेः पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥ १६

विषय-परित्याग से ही शरीर आदि निर्मल होते हैं। भक्त को अपने इस निर्मल रूप का समर्पण प्रभु के समक्ष कर देना चाहिए। यही पुष्टिमार्ग है।

चिति की ऊर्ध्व अवस्थामे परमात्मा मे आत्मा और आत्मा मे परमात्मा का साक्षात होने लगता है। रासलीला मे सूरदास जी ने इसी अनुभूति को अभिव्यक्त किया है। रास एक प्रकार का मण्डलाकार नृत्य है। इसमे कृष्ण केन्द्रस्थानीय होते हैं और गोपिकायें उनके चारों ओर एक या तीन मण्डल बनाती हैं। नृत्य की गति-विधि ऐसी होती है, जिसमे प्रत्येक गोपी कृष्ण को अपने ही समीप अनुभव करे। सूर के शब्दों मे—

मानों माई घन-घन अन्तर दामिनि ।
घन दामिनि, दामिनि घन अन्तर, सोभित हरि ब्रजभांमिनि ॥
जमुन पुलिन मल्लिका मनोहर सरद सुहाई जामिनि ।
सुन्दर ससिगुन-रूप-राग-निधि अंग-अंग अभिरामिनि ॥
× × × ×
को गति गुनही सूर स्याम संग, काम विमोह्यौ कामिनि ॥
(१६६६ ना० प्र० स०)

अत्यन्त सुहावना समय है। शरदकालीन निर्मल नभ में पूर्ण चन्द्र का प्रकाश हो रहा है। कलिन्द-तनया का शीतल-वारि-सीकरों से सिञ्चित तट और चमेली के श्वेत पुष्पों के सौरभ से सुरभित वायुमण्डल है। रासलीला प्रारम्भ हुई। गोपियाँ सोलह सहस्र हैं, पर नृत्य की द्रुतगति द्वारा प्रत्येक गोपी को कृष्ण अपने ही साथ नृत्य करते दिखाई पड़ते हैं। एक-एक गोपी मे समाया हुआ एक-एक कृष्ण और एक-एक कृष्ण मे समाई हुई एक-एक गोपी। उस अन्तर्यामी, घट-घट-व्यापक छबीले की सर्वत्र फैली हुई छवि का कुछ ठिकाना है। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे एक बादल अपनी उमड़-घुमड के साथ श्याम कान्ति लिये हुए प्रत्येक स्थान पर विद्यमान है और उसके अन्दर क्षण-क्षण में क्षणदा का प्रकाश हो रहा है। बादल में विद्युत और विद्युत मे बादल की अनुपम छटा चतुर्दिक विकीर्ण हो रही है। अध्यात्म क्षेत्र में यह जीवात्मा और परमात्मा के मिलन की घटना है। आचार्य वल्लभ के शब्दों मे यह हरिलीला का वह रूप है,जिसमें शुद्ध पुष्ट जीव हरि के साथ स्वाधीन भाव से क्रीड़ा करते हैं।

जीव की शुद्ध पुष्ट अवस्था की सिद्धि अनेक जन्मों के साधना—संघर्ष के उपरान्त उपलब्ध होती है। जिन आवरणों से आत्मा आच्छादित है, वे धीरे धीरे ही दूर हो पाते है। ये आवरण प्रमुख रूप से तीन हैं—अधम, मध्यम और उत्तम। अधम आवरण तमोगुणी है, मध्यम रजोगुणी और उत्तम सतोगुणी। तमोगुण का आवरण गोपियों से कभी का हट चुका था। उनके जीवन मे न प्रमाद था, न आलस्य। रजोगुण का परदा भी नष्ट हो चुका था। राग-द्वेष से वे बहुत ऊपर थीं तथा एकनिष्ठ होकर भगवान का भजन करती थीं। पर सतोगुण का परदा अभी अवशिष्ट था। यही तो है वह प्रथम ग्रन्थि, वह प्रथम मोहिनी माया, वह प्रथम पथ का प्रयाण जो आत्मा को उसके अपने गृह से दूर ले जाता है। आचार्य वल्लभ के शब्दों में 'अस्यजीवस्य ऐश्वर्यादि तिरोहितम्। ···—आनन्दांशस्तु पूर्वमेव तिरोहितोः येन जीव भावः।' इस प्रथम ग्रन्थि के साथ ही आत्मा का आनन्दांश तिरोहित हो जाता है और

उसकी संज्ञा जीव हो जाती है। गोपियों के साथ यही प्रथम जिसे उत्तम या सत् का परदा कहते हैं, चिपटा हुआ है! बिना इसके दूर हुये आनन्द कहाँ, अपना घर कहाँ? परदा उत्तम ही सही, पर है तो वह परदा ही।

कहते हैं, साधक अपने बल पर इस परदे को दूर नहीं कर सकता। यदि वह कहता है कि इसे मैंने दूर किया, तब तो वह पुनः इससे आवृत हो गया। सतोगुण का परदा इसी अहन्ता का परदा है, जो अन्तिम समय तक जीव के साथ चिपटा रहता है। अतः जीव का अहंभाव उसे छिन्न-भिन्न कर ही नहीं सकता। उर्दू के एक कवि ने इसी सम्बन्ध में लिखा है—

की तर्क मय तो मायले पिन्दार हो गया।
मैं तोबा करके और गुनहगार हो गया॥

'मैंने शराब पीना छोड़ दिया' यह कहकर मैं फूलकर कुप्पा हो गया। अभिमान ने आकर मुझे दबा लिया। मैंने तोबा (पश्चात्ताप) क्या किया, खुदी के चक्र मे पड़कर पुनः पापी हो गया।

भक्ति इसी अवसर पर जीव की सहायता करती है। यह उसे प्रपन्न बनाती है, प्रभु की शरण में ले जाती है और उसके द्वार पर ले जाकर इसे अकिंचन, सर्व-शून्य कर देती है। जीव प्रभु की शरण पाकर ही इस आवरण से मुक्त हो पाता है। प्रभु के प्रसाद एवं अनुग्रह से ही उसे अपना घर मिलता है। सूर कहते है—

प्रिया मुख देखौ स्याम निहारि।
कहि न जाइ आनन की सोभा रही विचारि विचारि॥
छीरोदक घूंघट हातौ करि सम्मुख दियौ उघारि।
मनों सुधाकर दुग्ध सिंधु तैं कढ़्यौ कलंक पखारि॥

(२७६३ ना० प्र० स०)

स्याम ने प्रिया राधा के मुख मण्डल की ओर देखा, जिसके ऊपर दुग्ध-धवल, श्वेत सतोगुण का सूक्ष्म घूंघट पड़ा हुआ था। वे बढ़े और उस अवगुण्ठन को अपने हाथ से चीर-फाड़ कर फेंक दिया। इतने दिनों से जो परदा चिपटा चला आ रहा था और जो आत्मस्वरूप की अभिव्यक्ति मे विघ्न उपस्थित करता रहता था, आज प्रभु का हाथ लगते ही दूर हो गया। प्रभु-कृपा के इस लवलेश के प्राप्त होते ही जीव समस्त आसंगों से विहीन, आवरणों से पृथक और विशुद्ध रूप से नग्न होकर अपने स्वरूप मे अवस्थित हो गया। ऐसा प्रतीत होने लगा जैसे आत्मारूपी राधा का मुखमण्डल अनिद्य निष्कलंक चंद्र के रूप में, दूध के समुद्र को चीरकर अभी-अभी बाहर निकला हो। माया के तीनों परदे दूर हो गये। जीव पुनः आवरण शून्य, कलंकरहित शुद्ध आत्मा बन गया!

कठोपनिषद् के ऋषि के शब्दों में 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्' । प्रभु की कृपा क्या नहीं कर सकती ? प्रभु ने जिसे स्वीकार कर लिया, वरण कर लिया, उसके लिये असम्भव भी सम्भव हो गया ।

राधा का कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम साधना-निरत भक्त का अपने भगवान के ही प्रति अविचल, एकान्तनिष्ठ प्रेम है । गीता के शब्दों में—

तद्बुद्धयः तदात्मानः तन्निष्ठाः तत्परायणाः ।
गच्छन्त्य पुनरावृत्ति ज्ञान निर्धूत कल्मषाः ।।५–१७

जो एक मन, एक बुद्धि, एक चित्त होकर प्रभु-परायण बन जाता है, वह प्रभु का हो जाता है और प्रभु उसके हो जाते हैं । पुष्टिमार्गीय भक्ति में इस भाव की प्रधानता है । प्रेमभाव की यह अनन्यता अन्त में भक्त को समस्त सीमाओं, मर्यादाओं से ऊपर उठा देती है । हठयोग में जो स्थिति आज्ञा चक्र में प्रवेश तक की है, वही स्थिति भक्ति की साधना में मर्यादा मार्ग तक की है । विधि-विधानों की जटिलतायें मानव को एक संकीर्ण परिधि में घेरे रहती हैं, जहाँ से निकल कर वह स्वाधीन वायुमण्डल में विचरण नहीं कर पाता । पर बन्धन, नियम, संयम मुक्ति के लिए परम आवश्यक हैं । वैधी भक्ति इसी हेतु स्वतन्त्र, ब्रह्मभाव की भक्ति के लिए एक अनिवार्य सोपान है । वैधी या मर्यादागामिनी भक्ति के उपरांत ही रागानुगा भक्ति आती है, जो मर्यादा के कगारों को तोड़ती-फोड़ती अपनी उद्दाम धारा को स्वच्छन्द गति से आगे ले जाती है । पुष्टिमार्गीय भक्ति में यद्यपि साधना की प्रारम्भिक अवस्था में मर्यादा आवश्यक मानी गई है, परन्तु अन्त में उसका त्याग ही श्रेयस्कर समझा गया है । आचार्य वल्लभ के शब्दों में मर्यादा में कृष्ण की अधीनता रहती है, परन्तु शुद्ध पुष्टि-पथ पर आरूढ़ होकर भक्त इस बन्धन को भी तोड़ देता है । कृष्ण से उसका स्वच्छन्द, अमर्यादित प्रेम सम्बन्ध हो जाता है । सूर की गोपियाँ इसी स्वतन्त्र, स्वच्छन्द, पुष्टि पथ की पथिक हैं । वे उन्मुक्त कण्ठ से कहती हैं—

"आरज पंथ चले कहा सरि है, स्यामहिं संग फिरौं री ।

आर्य पथ मर्यादा मार्ग है । इस पथ पर चलते हुए मानव को दूसरों का भी ध्यान रखना पड़ता है । प्रत्येक हितकारी नियम के पालन में तो सब स्वतन्त्र हैं, परन्तु सामाजिक सर्व-हितकारी नियमों के पालन में सबको परतंत्र रहकर कार्य करना पड़ता है । विश्व का संचालन इसी पद्धति से होता है । पर जो विश्व से नाता तोड़ कर, उधर लौ लगाये है और उसे प्राप्त भी कर चुका है, उसके लिये मर्यादा के ये बन्धन, पराधीनता के ये पाश व्यर्थ हैं । इनसे तो वह ऊपर उठ चुका है, स्वाधीन होकर प्रभु का एकान्त स्वच्छन्द प्रेमी बन गया है । इसी हेतु

सूर की गोपियाँ रागानुगा भक्ति की इस मर्यादा-हीनता को प्रेम पथ में बाधा डालने वाली परिमिति की शृंखलाओं के चूर्ण कर देने की बात को कई बार अपने शब्दों में प्रकट कर देती हैं। यथा—

मैं मन बहुत भाँति समझायौ।

× × ×

लोक वेद कुल निदरि निडर ह्वै करत आपनौ भायौ॥

(२५०७ ना० प्र० स०)

मेरौ मन गोपाल हर्यौ री।
चितवत ही उर पैठि नैन-मग ना जानौं धौं कहा कर्यौ री।
मात पिता पति बन्धु सुजन, जन सखि आँगन सब भवन भर्यौ री।
लोक वेद प्रतिहार पहरुआ तिनहू पै राख्यौ न पर्यौ री॥
धर्म धीर कुल कानि कुंची करि तेहि तारौ दै दूरि धर्यौ री।
पलक कपाट कठिन, उर अन्तर इतेहु जतन कछु वै न सर्यौ री॥

(२४६० ना० प्र० स०)

जब हरि मुरली अधर धरी।
गृह व्यवहार थके आरज पथ-तजत न संक करी॥

(१२७७ ना० प्र० स०)

बंसी बन-राज आज आई रनजीति।
मेंटति है अपने बल सबहिन की रीति॥
बिडरे गज जूथ-सील, सैन-लाज भाजी।
घूँघट-पट कवच कहाँ, छूटे मान-ताजी॥

(१२६८ ना० प्र० स०)

(लोक-लज्जा, वेद-मार्ग-मर्यादा आदि के परित्याग के उदाहरण सूरसागर के अनेक पदों में पाये जाते हैं। सूर की गोपियाँ लोक, वेद और कुल की कानि को मानकर चलना आवश्यक नहीं समझतीं। मुरलीवादन के समय तो सुत-पति-स्नेह और भवन-जन-शंका आदि की समस्त बाधायें दूर हो जाती हैं। खण्डिता नायिका का वर्णन वैष्णवी रागानुगा भक्ति की एक प्रमुख विशेषता है। इसमें नायक स्वयं मर्यादा भंग करता है। 'लोक-लीक-लोपी' वाला गोपियों का यह स्वतन्त्र प्रेम रासलीला, जलक्रीडा, वसंत तथा होली लीला के वर्णन में विशेष रूप से पाया जाता है।)

जिस ब्रह्मभाव की भक्ति को हमने ऊपर वैधी भक्ति के मर्यादा मार्ग से श्रेष्ठ कहा है, उसमें प्रभु भी 'कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुम् समर्थ' माना जाता

है। शुद्धाद्वैत में कनक-कुण्डल न्याय के अनुसार जगत मिथ्या नहीं, सत्य है। अतः प्रभु का विग्रह रूप भी उतना ही सत्य है, जितना उनका तात्विक रूप। प्रभु विग्रह रूप क्यों धारण करते हैं, इसका एक अतीव चमत्कृत कारण सूर ने उपस्थित किया है। वे लिखते हैं—

जो चरनारविन्द श्री भूषन उर तें नेकु न टारति!
देखौं ध का रसु चरननु मे मुख मेलत करि आरति॥
जा चरणारविन्द के रस कों सुर नर करत विवाद।
यह रस है मोकों अति दुर्लभ, ताते लेत सवाद॥

(६८२ ना० प्र० स०)

प्रभु लीलामय है। वे अव्यक्त से व्यक्त होकर भी आनन्दमयी लीला करना चाहते हैं! विश्व का यह अभिराम उन्मीलन, जो सबको अपनी ओर आकर्षित किये हुए है, प्रभु को भी अपनी ओर अनुरक्त करता है। सूर कहते हैं—"प्रभु के जिन चरणारविन्दों के मकरन्द का पान करने के लिए ऋषि-मुनि रूपी भ्रमर सदा लालायित रहते हैं, लक्ष्मी जिन्हे अपने वक्षस्थल से कभी दूर नहीं हटाती, उन चरणों में ऐसा कौन सा रस है, कौन सा स्वाद है? यही जानने के लिये उस लीलामय नटनागर ने अपने पैर के अँगूठे को मुख में रख लिया है, जिससे वे उसके स्वाद को चख कर अनुभव कर सकें।" यह है उस लीलामय की लीला, विशुद्ध लीला, लीला-कैवल्य। देव शब्द जिस धातु से बना है, उसके ज्ञान, प्रकाश आदि अर्थों के साथ एक अर्थ क्रीडा भी है। देवों के भी देव, प्रकाशकों के भी प्रकाशक, उस परम देव की क्रीडा ही तो ऋत और सत्य, चित् और प्रकृति अथवा संवित और संधिनी शक्तियों का प्रकाश है।

आचार्य वल्लभ के मतानुसार शुद्ध पुष्ट जीव अपने प्रभु की शाश्वत लीला में भाग लेने के पूर्ण अधिकारी हो जाते है। सूर ने इस सम्बन्ध मे भी एक अत्यन्त सुन्दर पद लिखा है। श्रीकृष्ण श्रीदामा आदि के साथ खेल रहे हैं। खेल में श्रीदामा ने कृष्ण को हरा दिया। श्रीकृष्ण बिगड़ गये और क्रोध प्रकट करने लगे, तो श्रीदामा कहते हैं—

खेलत मे को काको गुसैयाँ।
हरि हारे, जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयाँ॥
जाति पाँति तुमतें कछु नाहिन, नाहिन रहत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातें, अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ॥

(८६३ ना० प्र० स०)

श्रीदामा और श्रीकृष्ण दोनों सखा है। वेद के शब्दों में दोनों सयुजा, सखा और सुपर्ण हैं। अतः दोनों मे से कोई किसी से कम नहीं कहा जा सकता।

इसीलिये श्रीदामा कहता है कि जाति पांति मे मैं तुमसे हीन नहीं हूँ। आचार्य वल्लभ के अनुसार भी अग्नि और उसके स्फुलिंगों में जातिगत कोई भेद नही है। जैसे स्वर्ण और कुण्डल दोनों एक ही जाति के हैं, उसी प्रकार जीव और ब्रह्म दोनों चेतन होने के कारण एक ही जाति के है शुद्ध पुष्ट जीव भगवान की लीला मे स्वाधीन होकर भाग लेता है। मर्यादा से यह ऊपर का मार्ग है। जैसा कह चुके है, मर्यादा का पालन करने वाले जीव प्रभु की अधीनता मे रहते हैं। परन्तु शुद्ध पुष्ट जीव मर्यादा के मार्ग को अतिक्रान्त कर जाते हैं और स्वाधीन होते है। 'कृष्णाधीना तु मर्यादा स्वाधीना पुष्टिरुच्यते।' इसी हेतु श्रीदामा कहता है कि मै तुम्हारी छाया में भी नहीं रहता। हाँ, एक अन्तर है। मेरे पास जितनी गाये है, उनसे कही अधिक गायें तुम्हारे पास हैं। इस कारण तुम भले ही मेरे ऊपर अपना अधिकार प्रकट कर लो। संस्कृत वाङ्मय मे गो स्फुलिंग अथवा किरण का भी नाम है। यदि जीव अग्नि की एक चिनगारी है, तो परमात्मा साक्षात् अग्नि अर्थात् चिनगारियों का पुंज है। अध्यात्म क्षेत्र के इस तथ्य को सूर ने अपने व्यंजना-प्रधान शब्दों मे कितने अद्भुत ढङ्ग से प्रकट किया है।

राधा और कृष्ण के प्रसंगों मे अनेक वार सूर ने दोनों को 'एक प्राण द्वै देह री' कह कर अभिन्न रूप मे प्रदर्शित किया है। गोपियों को भी 'सोलह सहस पीर तन एकै' कहकर उन्होंने शुद्धाद्वैत के अनुसार प्रभु के साथ एक कर दिया है। गोकुल और वृन्दावन की लताये, वीरुध और वनस्पतियाँ भी उसीकी अभिव्यक्ति कर रही हैं। उसी के सदंश से जड़ तथा चिदंश से जीव का आविर्भाव है। पर एक शुद्ध अद्वैत होते हुए भी लीला मे सबकी पृथक स्थिति है। 'जीवा भिन्ना एव न संशयः'। अन्यथा लीला ही कैसी ?

इस प्रकार सूरसागर मे चिति केन्द्र के चतुर्दिक संचार करती हुई नाना भाव-लहरियाँ उठ रही हैं। इन्ही मे मग्न होकर पाठक चिति से महाचिति तक की झलक देखने मे समर्थ होता है। आध्यात्मिक दृष्टि से इस तथ्य का विशेष महत्व है।

सूरसागर मे ऐसे एक नही अनेक पद भरे पड़े हैं, जिनमे कहीं तो स्पष्ट रूप से आत्मा और परमात्मा के सम्बन्धो का वर्णन है और कहीं व्यंजना शक्ति के द्वारा आध्यात्मिक तथ्यों का निरूपण किया गया है। सूर काव्य की यह विशेषता सूरसागर को पढ़ते हुए अनेक बार सामने आती है। जो काव्य ऐसे अन्तरतम रहस्यों का उद्घाटन करता है, वह निस्सन्देह अत्यन्त उच्च कोटि का काव्य है। सूर के काव्य को सूर्य के समान लिखकर यदि किसी ने सूर काव्य की सर्वोत्कृष्टता को अभिव्यक्त किया है, तो इसमे अत्युक्ति की बात ही क्या है ?

परिशिष्ट १

श्रीमद्भागवत का निर्माण हमारी सम्मति में तीसरी शताब्दी के लगभग हुआ। इसके लिये नीचे लिखी बातों पर ध्यान देना चाहिये—

(१) श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध के चतुर्थ अध्याय मे व्यास जी कहते हैं कि नैमिषारण्य में जो ऋषि मुनि दीर्घकालीन सत्र मे सम्मिलित हुए थे, उनमें सबसे वयोवृद्ध ऋग्वेदी विद्वान शौनक थे। सूत जी की बात सुनकर उन्होंने सब की ओर से उनकी प्रशंसा की और कहा, "सूत जी आप वक्ताओं में श्रेष्ठ हैं और बड़े भाग्यशाली है।" इत्यादि।

जिन सूत जी ने महर्षि व्यास से पुराण पढ़े थे और शौनिक को सुनाये थे, उनकी वार्ता इस स्थल पर एक व्यास जी कह रहे हैं। अतः ये व्यास निश्चित रूप से कृष्णद्वैपायन व्यास से भिन्न हैं, क्योंकि इस अध्याय में आगे ये व्यास जी की कथा श्री सूत जी के मुख से कहला रहे है। अब देखना यह है कि ये व्यास कौन से है? आचार्य शंकर की गुरु—परम्परा मे चौथी पीढ़ी पूर्व एक बादरायण व्यास हुए है, जिन्होंने ब्रह्मसूत्रों की रचना की थी और गीता का भी नवीन संस्करण बनाया था। ये बादरायण महात्मा बुद्ध के पश्चात् हुए हैं। सम्भव है यही योग—दर्शन के भी भाष्यकर्ता हों। परन्तु ये बादरायण व्यास महात्मा बुद्ध के पश्चात् और ईसा से पूर्व हुए हैं। आचार्य शंकर ने इनका कई स्थानों पर नाम लिया है। ये शंकर भी ईसा से पूर्व के हैं और भागवतकार व्यास से तो निश्चित ही पहले के हैं, क्योंकि उनके किसी भी भाष्य में भागवत का नाम (प्रमाण या और किसी रूप मे) नहीं आया है। यदि भागवत उनके परबाबा गुरु की बनाई होती, तो वे इसका कहीं तो नाम लेते। अतः भागवतकार व्यास बादरायण व्यास नहीं हैं। आचार्य शंकर की शिष्य-परम्परा में जो दूसरे शंकर ८ वीं या ९ वीं शताब्दी में प्रख्यात हुए, उन्होंने पद्मपुराण की वासुदेव सहस्त्र-नामावली की टीका में भागवत का नाम लिया है और उसके श्लोक उद्धृत किये हैं। सर्व सिद्धान्त संग्रह और चतुर्दश मत-विवेक मे भी उन्होंने भागवत का नाम लिया है। अतः आठवीं शताब्दी से पूर्व भागवत का निर्माण अवश्य हो चुका था।

(२) भागवत में मैत्रेय-विदुर संवाद पाया जाता है। ये मैत्रेय ईसा की प्रथम शताब्दी में नागार्जुन के पश्चात् हुए थे। अतः भागवत निश्चित रूप से ईसा की प्रथम शताब्दी के पश्चात् बनी।

(३) भागवत में अनेक स्थानों पर सकाम हिंसापूर्ण यज्ञों की निन्दा (भा० १-८-५२) अहिंसा की प्रतिष्ठा तथा अवतारों का वर्णन है। ऋषभदेव, चार्वाक तथा अर्हत आदि नामों का भी उल्लेख है। प्रथम स्कन्ध के तीसरे अध्याय में तथा ११ स्कन्ध के ४ अध्याय के अन्त में बुद्धावतार का भी नाम लिया गया है। साथ ही यह भगवद्भक्ति का ग्रन्थ है, अतः इस ग्रन्थ की रचना बौद्धकाल के पश्चात् ऐसे काल में होनी चाहिए, जो भागवत-धर्म प्रधान रहा हो। भागवत-धर्म के उत्कर्ष का काल गुप्त साम्राज्य है, परन्तु यह उत्कर्ष ईसा के पूर्व से ही प्रारंभ हो गया था। अतः इन दोनों के बीच अर्थात् ईसा की तीसरी शताब्दी के लगभग यह ग्रन्थ बना होगा।

(४) व्यास एक पद था, जो कई व्यक्तियों के साथ लगा दिखाई देता है और आज तक चला आता है। हमारी सम्मति में भागवतकार व्यास तीसरी शताब्दी के पास के ही हैं। इन्होंने बादरायण व्यास के ब्रह्मसूत्रों को भी नवीन रूप दिया है, जो नवीन वेदान्त कहलाता है। गीता और ब्रह्मसूत्र दोनों के यह अद्वितीय पण्डित थे। तभी तो भागवत में इन दोनों ग्रन्थों की छाया स्थानस्थान पर पड़ी हुई मिलती है। भागवत के प्रथम श्लोक के प्राथमिक शब्द ब्रह्मसूत्र संख्या १ के प्राथमिक शब्द हैं। बादरायण के ब्रह्मसूत्रों को नवीन रूप देने के प्रमाण उन सूत्रों के अन्दर ही मिल जाते हैं। कुछ उदाहरण लीजिये—

पूर्वं तु बादरायणो हेतुत्व व्यपदेशात्। वेदान्त ३-२-४१

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः। वेदान्त ३-४-१

द्वादशाह वदुभय विध बादरायणोऽतः। वेदान्त ४-४-१२

इन सूत्रों की शैली ही कह रही है कि वे बादरायण के लिखे नहीं हैं। सूत्रों में बादरायण को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है, प्रमाण अपने से पूर्व का ही होता है। अतः निश्चित है कि नवीन वेदांत के रचयिता व्यास बादरायण व्यास से भिन्न हैं और वही भागवत के भी निर्माणकर्ता हैं। यह मैत्रेय, बुद्ध, अर्हत आदि सभी से परिचित हैं। अतः इनके बाद ही अर्थात् तीसरी शताब्दी के लगभग इनका जीवन-काल समझना चाहिये।

(५) भागवत द्वादश स्कंध के प्रथम अध्याय में चाणक्य ब्राह्मण का वर्णन आता है तथा मौर्य, शुंग और काण्व वंश के राजाओं की विस्तृत नामावली है। भागवतकार इनसे पूर्ण परिचय रखता है। अतः भागवत इनके पश्चात् अर्थात् गुप्तसाम्राज्य काल के निकट ही निश्चित रूप से बनी।

(६) भागवत प्रथम स्कन्ध के तीसरे अध्याय के अंत में सूत जी कहते हैं कि यह भागवत शुकदेव जी ने परीक्षित को सुनाया था। इस कलियुग में जो लोग अज्ञान रूपी अंधकार से अंधे हो रहे हैं, उनके लिये यह पुराण रूपी सूर्य इस समय प्रकट हुआ है।

भागवत की यह अन्तः साक्षी ही सिद्ध करती है कि वर्तमान भागवत पुराण कृष्ण द्वैपायन व्यास के बहुत दिनों बाद बना।

(७) श्रीमद्भागवत माहात्म्य के प्रथम अध्याय के २८वें श्लोक के पश्चात् नारद कलियुग का वृत्तान्त सुनाते हैं। वे कहते हैं—"इस समय अधर्म के सहायक कलियुग ने सारी पृथ्वी को पीड़ित कर रखा है। बेचारे जीव अपना पेट पालने में लगे हैं तथा मंद बुद्धि और आलसी हो गये हैं। साधु संत देखने में विरक्त, पर हैं पाखंडी, महात्माओं के आश्रम, तीर्थ और नदियों पर विधर्मियों का अधिकार हो गया है। उन दुष्टों ने बहुत से देवालय भी नष्ट कर दिये हैं। इस कलियुग में सभी देश-वासी बाजारों में अन्न बेचने लगे हैं। ब्राह्मण वेद को पैसा लेकर पढ़ाते और स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति करती है।

इस स्थल पर विधर्मियों का देश में आकर बस जाना स्वीकार कर लिया गया है। ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी से लेकर बाद की दूसरी शताब्दी तक अनेक विदेशी आकर इस देश में बस गये थे, जिनमें यवन (यूनानी) शक, गुर्जर और कुशन मुख्य थे। इन्होंने अनेक अत्याचार किये थे। शकों को निकालने के कारण ही प्रथम विक्रमादित्य को ५७ ई० पूर्व में शकारि की उपाधि मिली थी। दूसरी शताब्दी में शकों का राज्य सिंध में स्थापित हो गया था।

(८) भविष्य पुराण, प्रतिसर्गपर्व, तृतीय खण्ड, अध्याय २८ पृष्ठ ३१७ पर विक्रमादित्य का वर्णन इस प्रकार हुआ है—

घोरे भुवि कलौ प्राप्ते विक्रमो नाम भूपतिः।
कैलासाद् भुवामागत्य मुनीन् सर्वान् समाह्वयत्॥ १६
तदा ते मुनयः सर्वे नैमिषारण्य वासिन.।
सूतं संचोदयामासुः तेषां तच्छ्रवणाय च॥
प्रोक्तान्युपपुराणानि सूतेनाष्टादशैव च॥ १७

इन श्लोकों से सिद्ध होता है कि महाराज विक्रमादित्य के समय में कोई सूत हुये जिन्होंने पुराणों का नवीन संस्करण किया और कुछ उपपुराणों का निर्माण भी किया। आगे चतुर्थ खण्ड, पृष्ठ ३३१ पर निर्माता का नाम वैताल दिया है—

विशालायां पुनर्गत्वा वैतालेन विनिर्मितम् ।
कथयिष्यति सूतस्तमितिहास समुच्चयम् ॥ २
तत्कथां भगवान् सूतो नैमिषारण्यमास्थितः ।
अष्टाशीति सहस्राणि श्रावयिष्यति वै मुनीन् ॥ ८

विशाला हिमालय पर स्थित एक नगरी का नाम है ।

श्लोक ६ अध्याय६ चतुर्थ खंड, प्रतिसर्गपर्व पृष्ठ ३३५-३३६

(६) नाभादास ने भक्तमाल, छप्पय, २५ मे लिखा —'वोपदेव भागवत लुप्त उधर्यो नवनीता'—वोपदेव ने लुप्त भागवत रूपी नवनीत का उद्धार किया। वोपदेव १३वीं शताब्दी के कहे जाते हैं। यह भागवत का निर्माण नहीं उद्धार करने वाले हैं। अतः भागवत १३वीं शताब्दी से पूर्व की बनी हुई है।

इस प्रकार भागवत दूसरी शताब्दी के पश्चात् अर्थात् तीसरी शताब्दी के लगभग बनी होगी, क्योंकि पाँचवीं शताब्दी में इसका अस्तित्व सांख्यकारिका पर बनी हुई माठर वृत्ति से सिद्ध हो जाता है। इस वृत्ति में भागवत का १-६ का ३५ वाँ तथा १—८ का ५२ वाँ श्लोक उद्धृत है। माठराचार्य ने अपना वृत्ति पाँचवीं शताब्दी तक अवश्य लिख दी थी, क्योंकि छठी शताब्दी में उसका अनुवाद परमार्थ बौद्ध ने चीनी भाषा में किया था।

परिशिष्ट १

वेंकटेश्वर प्रेस बंबई से संवत् १९८० में प्रकाशित
सूरसागर में नीचे लिखे स्थानों पर दृष्टकूट आये हैं—

प्रथम स्कंध

पद-संख्या	पृष्ठ	टेक
१६१	३०	रे मन समुझि सोच विचारि।

दशम स्कंध

पद-संख्या	पृष्ठ	टेक
५७	१०८	देखो सखी अद्भुत रूप अतूथ।
२८	११८	जब दधि रिपु हरि हाथ लियो।
१५१	१२१	देखो मैं दधिसुत में दधि जात।
६	२६०	मेरो मन हरि चितवनि अरुझानी
१०	२६०	तऊ न गोरस छांड़ि दयो।
६६	२६६	श्यामा निशि में सरस बनी री।
५६	३०४	मिलवहु पार्थ मित्रहि आनि।
८०	३०७	अद्भुत एक अनूपम बाग।
राज्ञी वैराटी राग (नीचे से दूसरा पद)	३१४	बसेरी हेली नयननि में पट इन्दु
राग विलावल (प्रथम पद)	३१५	संग शोभित वृषभानु किशोरी।
८ (राग विहागरो)	३३५	श्याम रंग नैना राँचे री।
६	३७०	देखो मात कमल इक ठौर।
१६	३७१	देख सखि चार चन्द इकजोर।
२०	३७१	देख री प्रगट द्वादश मीन।
७५	३८८	सुता दधि-पति सों क्रोध भरी।
७६	३८८	सकुचि तनु उदधि सुता मुसकानी
६१	४००	राधे तेरे नैन किधौं री बान।

६५	४०१	दधिसुत वदनी राधिका दधि दूर निवारो
१०० (२२००)	४०१	राधे यामें कहा तिहारो।
३५	४०४	राधे तेरो रूप न आन सो।
४	४१८	मोहनी मोहन की प्यारी।
११	४१६	आजु तन राधा सज्यौ शृंगार।
१२	४१६	देख सखी सायक बलजोर।
५८	४६८	हर को तिलक हरि बिनु दहत।
६९	४६८	विधुवरी शिरपर बसै निशि नींद न परई
६७	४६६	वैसी शारंग करहि लिये।
७४	४६६	गौरि पूत रिपु, ता सुत आये, प्रीतम ताहि ननारे।
६१	५०१	हरि मोकों- हरिभषु कहि जु गयो।
८६	५५४	इक कमल पर धरै गजरिपु। इक कमल पर शशि रिपु जोर।
६३	५८६	उडुपति सों बिनवति मृगनैनी।

शेष दृष्टकूटों की तालिका आगे पृष्ठ पर परिशिष्ट ३ में देखिये।

परिशिष्ट ३

साहित्यलहरी के उपसंहार 'क' और 'ख' मे उद्धृत पद सूरसागर के ही हैं। तुलना के लिये नीचे लिखी तालिका दी जाती है—

बांकीपुर से छपी साहित्य लहरी के उपसंहार मे आये हुये पदों की संख्या	बम्बई संस्करण संवत् १६८० के सूरसागर की पद संख्या और पृष्ठ	पद की टेक
१	६७ (पृष्ठ ३०६)	सारंग सारंगवरहि मिलावहु।
२	८१ (पृष्ठ ३०७)	पदमिन सारंग एक मझारि।
३	८२ ,,	विराजत अंग भंग रति बात।
४	८६ (पृष्ठ ३०८)	मनसिज माधव मनिनिहि मारिहै
५	(२४५-सं० सू० सा० वि० हरि) १७०२ पृष्ठ ३१०	रसना जुगस रसनिधि बोलि।
६	५ (पृष्ठ ३२८)	लोचन लालच ते न टरे।
७	३ (पृष्ठ ३३५)	लोचन लालची भये री।
८	८ (,, ,,)	श्याम रंग नैना राँचे री।
९	१७ (पृष्ठ ३७७)	देखो सोभा सिन्धु समात।
१०	५७ (,, ३६६)	विधु वदनी अरु कमल निहारे
११	६६ (,, ४०१)	राधे हरि रिपु क्यों न छिपावति
१२	६७ ,, ,,	राधे हरि रिपु क्यों न दुरावति।
१३	६८ ,, ,,	,, ,, ,,
१४	६६ ,, ,,	राधा त बहु लोभ कर्यो।
१५	१७ (पृष्ठ ४०३)	कहि पठई हरि बात सुचित दै। सुनु राधिका सुजान।
१६	१८ (पृष्ठ ४०३)	रही दै घूंघट पट की ओट।
१७	२० ,,	सारंग रिपु की ओट रहे दुरि।
१८	१६ ,,	तैं जु नील पट ओट दियो री।
१९	२४ (पृष्ठ ४०४)	राधे तेरे रूप की अधिकाई।

२०	२६	पृष्ट ४०४	राधे यह छवि उलटि गई।
२१	२८	,,	जल सुत प्रीतम सुत रिपु......
२२	४५	(पृष्ठ ४०६)	उठि राधे कत रैनि गंवावै।
२३	४७	,, ,,	जिनि हठि करहु सारंग नैनी।
२४	२३०२	(., ४१८)	देखे चार कमल एक साथ।
२५	२०३३	(पृष्ठ ४१८)	हरि उर मोहिनी वेलि लसी।
२६	२३०५	,,	उर पर देखियत ससि सात।
२७	२३०६	,,	आजु वन राजत जुगुल किसोर।
२८	२७२३	(पृष्ठ ४८३)	सोचति राधा लिखति नखनतें...
२९	५१	(पृष्ठ ४८६)	सखीरी हरि बिनु हरि दुख भारी
३०	५	(पृष्ठ ४९२)	कहाँ, लौं राखिय मन बिरमाई।
३१	९	(पृष्ठ ४९२) ३४५ (सं० सू० सा०) वि० हरि	प्रीति करि काहू सुख न लह्यौ।
३२	९५	(पृष्ठ ५०१)	ग्वालिनि छाँड़ि देखु रह्यौ खरयौ।
३३	७६	(,, ५२१) ४१० (सं० सू० सा०) वि० हरि	ऊधौ इतने मोहि सतावत।
३४	४०	(पृष्ठ ५३८)	हरि सुत सुत हरि के तनु आहि।
३५	४६	(पृष्ठ ५३९)	हरि हम काहे को जोग बिसारी।
३७	८८	(,, १९५)	भर भर लेत लोचन नीर।
३८	१९	(,, २६१)	राधा वसन स्याम तन चीन्ही।
३९	५३	(, २६५) १९० (सं० सू० सा०) वि० हरि	राधे दधिसुत क्यों न दुरावति।
४०	५५	(पृष्ठ ३०४)	सखी मिलि करहु कछू उपाउ।
४४	१८	(,, ३७१)	देखिसखि पाँच कमल द्वै संभु।
४६	६१	(,, ५६५)	व्रज की कही कहा कहु बातें।
४८	३२६२	(,, ५४१)	देखि रे प्रेम प्रकट द्वादश मीन।
५०	३१	(पृष्ठ ४९५)	हरि सुत पावक प्रकट भयोरी।

केवल पद संख्या ३६, ४१, ४२, ४३, ४५, ४७ और ४९ नहीं मिल सके। संभव है, वे सूरसागर के किसी अन्य संस्करण में हों।
